वैभाषिक एवं माध्यमिक दर्शनों में प्रतिपादित प्रतीत्यसमुत्पाद का तुलनात्मक अध्ययन

Vaibhāṣika evam Mādhyamika Darśano mein Pratipādita Pratītyasamutpāda kā Tulanātmaka Adhyayana

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय की पीएच.डी. उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध

THESIS SUBMITTED TO JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY IN FULFILMENT OF THE REQUIREMENTS FOR THE AWARD OF THE DEGREE OF

Doctor of Philosophy

शोधार्थी

विकास सिंह

शोधनिर्देशक

प्रो. चौडूरि उपेन्द्र राव

विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

नई दिल्ली – 110067

भारत

2016

विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली - ११००६७
Special Centre for Sanskrit Studies
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
NEW DELHI-110067

21 July, 2016

DECLARATION

I **Vikas Singh** hereby declare that this thesis entitled "वैभाषिक एवं माध्यमिक दर्शनों में प्रतिपादित प्रतीत्यसमुत्पाद का तुलनात्मक अध्ययन (Vaibhāṣika evam Mādhyamika Darśano mein Pratipādita Pratītyasamutpāda kā Tulanātmaka Adhyayana)" submitted in the **Special Center for Sanskrit Studies, Jawaharlal Nehru University, New Delhi, 110067**, for the award of the Degree of **Doctor of Philosophy**, is my original work, and has not been submitted so far, in part or full for any other Degree or Diploma in any University/Institution.

Vikas

(Vikas Singh)

विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली - ११००६७

Special Centre for Sanskrit Studies
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
NEW DELHI-110067

21 July, 2016

CERTIFICATE

This dissertation entitled "वैभाषिक एवं माध्यमिक दर्शनों में प्रतिपादित प्रतीत्यसमुत्पाद का तुलनात्मक अध्ययन (Vaibhāṣika evam Mādhyamika Darśano mein Pratipādita Pratītyasamutpāda kā Tulanātmaka Adhyayana)" submitted by **Vikas Singh** to **Special Centre for Sanskrit Studies, Jawaharlal Nehru University, New Delhi-110067**, for the award of the degree of **Doctor of Philosophy**, is an original work and has not been submitted so far, in part or full, for any other degree or diploma of any University. This may be placed before the examiners for evaluation and for award of the degree of **Doctor of Philosophy**.

Prof. Girish Nath Jha
(Chairperson)

PROF. GIRISH NATH JHA
Chairperson
Special Centre for Sanskrit Studies
Jawaharlal Nehru University
New Delhi-110067, INDIA

Prof. C. Upender Rao
(Supervisor)

Prof. C. Upender Rao
Special Centre for Sanskrit Studies
Jawaharlal Nehru University
New Delhi - 110067

मान्यवर अभिजीत कुमार

एवं

उपासक बहादुर सिंह

को

सादर समर्पित

प्राक्कथन

प्रतीत्यजानां भावानां नैःस्वाभाव्यां जगाद यः।
तं नमामि सदा बुद्धमचिन्त्यमनिदर्शनम्॥

चतुःस्तवः, 3/1

प्रतीत्यसमुत्पन्न भावों की निःस्वभावता का कथन करने वाले, अचिन्त्य तथा अनुपम ज्ञान से सम्पन्न गौतम बुद्ध को सदैव नमन करता हूँ। वैशाख पूर्णिमा की रात्रि में बोधिवृक्ष के नीचे जिसके अधिगम से सिद्धार्थ बुद्ध बने, दुःखसमुदय एवं दुःखनिरोध के रूप में अनुलोम-प्रतिलोम ढंग से बुद्ध ने जिसकी देशना दी, ऐसे प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त पर जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र से पालि एवं संस्कृत भाषाओं के ज्ञाता तथा बौद्ध सिद्धान्तों के निष्णान्त प्रोफेसर सी. उपेन्द्र राव के शोधनिर्देशन में पीएच.डी. करने के इस कृत्य के साकार रूप ग्रहण करने पर, मैं उन सभी महानुभावों का आभार व्यक्त करना चाहता हूँ जो प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से मेरे सहायक बनें।

प्रो. के. टी. एस. सराउ (बौद्ध अध्ययन, डी.यू.), प्रो. शशिप्रभा कुमार (संस्कृत, जे.एन.यू.), प्रो. वाई. एस. अलोने (सौन्दर्यशास्त्र, जे.एन.यू.), प्रो. आर. पी. सिंह (शिशु-विशेषज्ञ, कानपुर मेडीकल कॉलेज), प्रो. केदार सिंह (भौतिकी, जे.एन.यू.), डॉ. सुधीर कुमार (संस्कृत, जे.एन.यू.), प्रो. प्रदीप गोखले (तिब्बती संस्थान, सारनाथ) तथा अन्य विद्वत्वर्ग का धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ, जिनसे मैंने विगत चार वर्षों में समय-समय पर विभिन्न सन्दर्भों, मूलग्रन्थों तथा वैज्ञानिक सिद्धान्तों के बारे में ज्ञानार्जन किया है।

विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र परिवार के अध्यक्ष प्रो. गिरीशनाथ, डॉ. रामनाथ, डॉ. रजनीश कुमार, डॉ. सन्तोष कुमार, डॉ. सत्यमूर्ति और जाकिर हुसैन दिल्ली कॉलेज (सान्ध्य) परिवार के निवर्तमान प्राचार्य डॉ. शंकरलाल, वर्तमान प्राचार्य डॉ. मसरूर अहमद बेग, मातृवती स्नेहशीला डॉ. अंजू, डॉ. प्रीति, डॉ. मंजुला, डॉ. उर्मिला, डॉ. मारुफ उर रहमान, डॉ. राजकुमारी, डॉ.

कन्नौजिया, डॉ. अज़ीउर रहमान तथा अन्य सभी अध्यापकों का धन्यवाद ज्ञापन करना चाहूँगा जिनके अमूल्य परामर्शों से यह शोधकार्य सारगर्भित बना है।

मैं अपने परिवार के सदस्यों दादी, माता-पिता, अग्रजा व अनुजों का आभार शब्दों से प्रपञ्चित नहीं कर सकता हूँ। डॉ. रामकिशोर महोलिया, डॉ. निशा सिंह, डॉ. शहला तबस्सुम, डॉ. अंजू गुरावा, डॉ. मनीषा पासवान, अनीता मीणा, वीरेन्द्र मीणा जी का विशेष आभार व्यक्त करना चाहता हूँ, जिन्होंने समय-समय पर मुझे अध्यापन कार्य के दौरान शोधकार्य के प्रति सजग बनाये रखा। मेरे अनुज दीनदयाल, अनुजा दीप्ति एवं हेमलता ने शोधकार्य के दौरान प्रत्येक स्तर पर सहायता की, उन सभी के प्रति हार्दिक धन्यवाद।

मैं अपने मित्रों राजेन्द्र कुमार, ज्ञानश्री, दिलीप कुमार, विजय नारायण, चन्दन कुमार, प्रतीक कुमार, भोला नाथ, अनिल कुमार, उमा आर्या, धीरेन्द्र, नरेन्द्र, बिबस दोर्जे, गौरव कुमार, योगेन्द्र मुसहर, अरविन्द, विशाल तथा अपने छात्रों निशांत, प्रभात, खुशबू, रितेश, सौरभ का धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ, जिन्होंने अनुसन्धान के दौरान मेरी सहायता की।

विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र के मनीष, मंजू, शबनम तथा मयूरी जी के प्रति मैं आभार व्यक्त करना चाहूँगा, जिन्होंने स्नातकोत्तर से लेकर पीएच.डी. सम्पूर्ण करने तक कार्यालयी स्तर पर सहायता की। मैं जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, सारनाथ केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, जाकिर हुसैन दिल्ली कॉलेज (सान्ध्य) के पुस्तकालयों के सभी कर्मचारियों का धन्यवाद देना चाहूँगा, जिन्होने मेरी इस शोध कार्य के लिए सामग्री-संकलन में सहायता की।

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध के लेखन से मुझे व्यक्तिगत स्तर पर बौद्ध दर्शन की गहनता तथा गम्भीरता को समझने का अवसर मिला। शास्त्र को मूल ग्रन्थ से पढ़कर समझने का अपना एक अलग आनन्द है। शोधप्रबन्ध को समग्ररूप से श्रेष्ठ एवं अनुपम बनाने का पूर्ण प्रयास किया गया है, फिर भी लेखन एवं संयोजन करने पर त्रुटियाँ हो सकती है। किन्तु सच्चे संकल्पों वाले बुद्धिजीवी विद्वान् जो सार को सार तथा असार को असार समझते हैं, केवल सार को ही ग्रहण कर, मुझे कृतार्थ करेंगे।

सारञ्च सारतो ञत्वा, असारञ्च असारतो।
ते सारं अधिगच्छन्ति, सम्मासङ्कप्पगोचरा॥

धम्मपद, 12

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध में तथागत के गम्भीर सिद्धान्त प्रतीत्यसमुत्पाद को वैभाषिक एवं माध्यमिक दार्शनिकों के ग्रन्थों के आधार पर विश्लेषित कर तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। अन्त में, आचार्य शान्तिदेव के शब्दों में .....

नहि किञ्चिदपूर्वमत्र वाच्यं न च संग्रन्थनकौशलं ममास्ति।
अतएव न मे परार्थचिन्ता स्वमनो वासयितुं कृतं मयेदं॥

बोधिचर्यावतार, 1/2

विषयानुक्रमणिका

प्राक्कथन	i-iii
विषयानुक्रमणिका	v-vii
संकेत सारणी	ix-xi
भूमिका	**1-9**
प्रथम अध्याय – पालि साहित्य में प्रतीत्यसमुत्पाद का विश्लेषण	**11-51**
1.1. पालि साहित्य में प्रतीत्यसमुत्पाद के सन्दर्भ	11-12
1.2. प्रतीत्यसमुत्पाद का आशय	12-16
1.3. प्रतीत्यसमुत्पाद और चार आर्य-सत्य	16-21
1.4. प्रतीत्यसमुत्पाद की चतुर्विधा देशना	21-26
1.5. प्रतीत्यसमुत्पाद के द्वादशाङ्ग का विश्लेषण	26-45
1.6. प्रतीत्यसमुत्पाद की गम्भीरता	46-48
1.7. प्रतीत्यसमुत्पाद का चतुर्विध नय	48-49
1.8. प्रतीत्यसमुत्पाद की विशेषतायें	50-51
द्वितीय अध्याय – वैभाषिक दर्शन में प्रतिपादित प्रतीत्यसमुत्पाद का विश्लेषण	**53-95**
2.1. वैभाषिक दर्शन के साहित्य का संक्षिप्त परिचय	56-58
2.2. वैभाषिक दर्शन में धर्म प्रविचय	58-60
2.3. वैभाषिक दर्शन में कार्य कारणवाद सिद्धान्त	60-66
2.4. वैभाषिक दर्शन में प्रतीत्यसमुत्पाद का आशय	67-73
2.5. सत्त्व की जन्मप्रक्रिया और भव चक्र	74-84
2.6. वैभाषिक दर्शन के अनुसार द्वादशाङ्ग का विश्लेषण	84-92
2.7. प्रतीत्यसमुत्पाद के भेद और आवस्थिक मत	92-95

तृतीय अध्याय – माध्यमिक दर्शन में प्रतिपादित प्रतीत्यसमुत्पाद का विश्लेषण 97-145

3.1. माध्यमिक दर्शन के साहित्य का संक्षिप्त परिचय 99-103

3.2. माध्यमिक दर्शन में सत्यद्वय व्यवस्था 104-107

3.3. माध्यमिक दर्शन में कार्य कारणवाद का सिद्धान्त 107-114

3.4. शून्यता और प्रतीत्यसमुत्पाद 114-123

3.5. माध्यमिक दर्शन में प्रतीत्यसमुत्पाद का आशय 123-130

3.6. माध्यमिक दर्शन के अनुसार द्वादशाङ्ग का विश्लेषण 130-139

3.7. माध्यमिक दर्शन में प्रतीत्यसमुत्पाद के भेद 139-145

चतुर्थ अध्याय – वैभाषिक एवं माध्यमिक दर्शनों में प्रतिपादित प्रतीत्यसमुत्पाद का तुलनात्मक अध्ययन 147-173

4.1. कार्य कारणवाद सम्बन्धी तुलना 151-154

4.2. प्रतीत्यसमुत्पाद के आशय सम्बन्धी तुलना 155-157

4.3. द्वादशाङ्ग व्याख्या सम्बन्धी तुलना 157-165

4.4. भवचक्र और स्कन्ध 165-168

4.5. प्रतीत्यसमुत्पाद के भेद-प्रभेद सम्बन्धी तुलना 168-173

पञ्चम अध्याय – प्रतीत्यसमुत्पाद का वैज्ञानिक वैशिष्ट्य 175-207

5.1. भ्रूणविज्ञान और प्रतीत्यसमुत्पाद 176-186

5.2. क्वाण्टम भौतिकी और प्रतीत्यसमुत्पाद 186-196

5.3. गहन पारिस्थितिकी और प्रतीत्यसमुत्पाद 196-203

5.4. गाया परिकल्पना और प्रतीत्यसमुत्पाद 203-207

निष्कर्ष 209-215

सन्दर्भ ग्रन्थसूची 217-233

चित्रसूची

4.1 – चतुर्विध प्रत्यय	154
4.2 – द्वादशाङ्ग प्रतीत्यसमुत्पाद	158
4.3 – द्वादशाङ्ग का त्रिविध विभाजन	159
4.4 – पञ्चस्कन्ध की उपमायें	162
4.5 – चतुर्विध उपादान	164
4.6 – माध्यमिक दर्शन में प्रतीत्यसमुत्पाद का विभाजन	169
4.7 – बाह्यहेतूपनिबन्ध प्रतीत्यसमुत्पाद	170
4.8 – बाह्यप्रत्ययोपनिबन्ध प्रतीत्यसमुत्पाद	171
5.1 – मानव भ्रूण का विकास	182
5.2 – पर्यावरण के द्विविध रूप	199
5.3 – बुद्ध जीवन के चित्र और पर्यावरण	200
5.4 – गाया परिकल्पना में पृथ्वी	204

संकेत सारणी

अ.आ.	-	अल्बर्ट आइंस्टाइन
अकु.	-	अकुतोभया
अभि.आ.	-	अभिसमयालङ्कारालोक
अभि.को.	-	अभिधर्मकोश
अभि.को.भा.	-	अभिधर्मकोश भाष्य
अष्टा.	-	अष्टाध्यायी
आ.ब्र.	-	आइंस्टाइन और ब्रह्माण्ड
उ.	-	उदान
चतु.	-	चतुःस्तव
ज्ञा.स.	-	ज्ञानसारसमुच्चय
दी.नि.	-	दीघनिकाय
ध.प.	-	धम्मपद
ध.सं.	-	धर्मसंग्रह
प.	-	पट्ठान
प्र.प.	-	प्रसन्नपदा

प्र.स.हृ.	-	प्रतीत्यसमुत्पादहृदय
प्र.स.हृ.व्या.	-	प्रतीत्यसमुत्पादहृदयव्याख्या
बोधि.	-	बोधिचर्यावतार
बोधि.प.	-	बोधिचर्यावतारपञ्जिका
बौ.द.अ.भा.द.	-	बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन
बौ.द.प्र.	-	बौद्ध दर्शन प्रस्थान
बौ.द.मी.	-	बौद्ध-दर्शन-मीमांसा
बौ.ध.द.	-	बौद्धधर्म-दर्शन
बौ.नि.	-	बौद्ध निबन्धावली
भौ.स.	-	भौतिकी का सतपथ
म.नि.	-	मज्झिमनिकाय
म.शा.	-	मध्यमकशास्त्र
मि.प.	-	मिलिन्दपञ्ह
वि.	-	विभङ्ग
वि.पि.	-	विनयपिटक
वि.म.	-	विसुद्धिमग्ग
वि.व्या.	-	विग्रहव्यावर्तनी

वि.व्या.वृ.	-	विग्रहव्यावर्तनीवृत्ति
शा.सू.	-	शालिस्तम्बसूत्र
शू.स.	-	शून्यतासप्तति
शू.स.वृ.	-	शून्यतासप्ततिवृत्ति
सं.नि.	-	संयुत्तनिकाय
सौ.द.	-	सौत्रान्तिक दर्शन
स्फु.	-	स्फुटार्था

भूमिका

प्रतीत्यसमुत्पाद बौद्ध दर्शन का आधारस्तम्भ है। प्रतीत्यसमुत्पाद ही वह सूत्र है, जिसके अनुलोम-प्रतिलोम साक्षात्कार से सिद्धार्थ ने उरूवेला (वर्तमान बोधगया) में निरञ्जना नदी के तीर पर बोधि-वृक्ष के नीचे बैशाख-पूर्णिमा की रात्रि में बुद्धत्व का अधिगम किया।[1] राजकुमार सिद्धार्थ से सम्यक् सम्बुद्ध हुये, बुद्ध ने सर्वप्रथम कहा कि संसार में शरीर रूपी भवन के निर्माणकर्त्ता की खोज में वे अनेक जन्मों तक लगातार आवागमन करते रहे। इस जगत् में पुनः-पुनः जन्म लेना अत्यन्त दुःखदायी है। गृहकारक रूपी तृष्णा का दर्शन करने पर, भवन का निर्माण नहीं किया जा सकता अर्थात् नवीन शरीर की प्राप्ति नहीं हो सकती, यह जानकर ही बुद्धत्व प्राप्ति के पश्चात् उन्होंने जाना कि भवन रूपी शरीर के निर्माण की कड़ियाँ टूट चुकी हैं, उसका शिखर अर्थात् अविद्या ध्वस्त हो चुकी है, चित्त संस्काररहित हो गया है तथा तृष्णा का क्षय हो चुका है।[2]

बुद्ध ने प्रतीत्यसमुत्पाद का अनुलोम तथा प्रतिलोम ढंग से अवगाहन किया। प्रतीत्यसमुत्पाद का अनुलोमात्मक प्रत्यक्ष करते हुये गौतम बुद्ध ने देखा कि अविद्या के प्रत्यय से संस्कार की उत्पत्ति होती है, संस्कारों के प्रत्यय से विज्ञान, विज्ञान के प्रत्यय से नामरूप, नामरूप के प्रत्यय से षडायतन, षडायतन के प्रत्यय से स्पर्श, स्पर्श के प्रत्यय से वेदना, वेदना के प्रत्यय से तृष्णा, तृष्णा के प्रत्यय से उपादान, उपादान के प्रत्यय से भव, भव के प्रत्यय से जाति, जाति के प्रत्यय

---

[1] तेन समयेन बुद्धो भगवा उरुवेलायं विहरति नज्जा नेरञ्जराय तीरे बोधिरुक्खमूले पठमाभिसम्बुद्धो। अथ खो भगवा बोधिरुक्खमूले सत्ताहं एकपल्लङ्केन निसीदि विमुत्तिसुखपटिसंवेदी। अथ खो भगवा रत्तिया पठमं यामं पटिच्चसमुप्पादं अनुलोमपटिलोमं मनसाकासि। *विनयपिटक (वि.पि)*, इगतपुरी: विपश्यना विशोधन विन्यास, प्रथम आवृत्ति, 1998, महावग्ग, 1/1/3, पृ. 1

[2] अनेकजातिसंसारं सन्धाविस्सं अनिब्बिसं। गहकारकं गवेसन्तो दुक्खा जाति पुनप्पुनं॥
गहकारक दिट्ठोसि पुन गेहं न काहसि। सब्बा ते फासुका भग्गा गहकूटं विसङ्खितं।
विसङ्खारगतं चित्तं तण्हानं खयमज्झगा॥ *धम्मपद (ध.प.), खुद्दकपाठ-धम्मपद-उदानपाळि,* इगतपुरी: विपश्यना विशोधन विन्यास, प्रथम आवृत्ति, 1998, 153-54, पृ. 32

से जरामरणादि दुःख स्कन्ध का समुदय होता है।[3] दुःखादि से आशय वृद्धावस्था, मृत्यु, शोक करना, परिदेव अर्थात् रोना पीटना, चैत्तसिक दुःख तथा पश्चाताप से है। दुःखों की उत्पत्ति जाति प्रत्यय से होती हैं।

प्रतीत्यसमुत्पाद के प्रतिलोमात्मक ज्ञान में अविद्यादि का क्रमशः निरोध है। अविद्या के निरोध होने से संस्कार का निरोध हो जाता है, संस्कार के निरोध जाने से विज्ञान का निरोध जाता है, विज्ञान के निरोध हो जाने से नाम-रूप का निरोध जाता है, नाम-रूप के निरोध हो जाने से षडायतन का निरोध हो जाता है, षडायतन के निरोध से स्पर्श का निरोध हो जाता है, स्पर्श के निरोध से वेदना का निरोध हो जाता है, वेदना के निरोध से तृष्णा का निरोध हो जाता है, तृष्णा के निरोध हो जाने से उपादान का निरोध हो जाता है, उपादान के निरोध से भव का निरोध हो जाता है, भव के निरोध से जाति अर्थात् जन्म का निरोध हो जाता है तथा जाति के निरोध से जरामरणादि दुःखों का निरोध हो जाता है। इस प्रकार सम्पूर्ण दुःखस्कन्ध का निरोध हो जाता है।[4]

प्रतीत्यसमुत्पाद के अनुलोमात्मक एवं प्रतिलोमात्मक ज्ञान से, लगभग 2600 वर्ष पूर्व शाक्यकुलोत्पन्न राजकुमार सिद्धार्थ ने 'बोधि' अर्जित कर सम्यक् सम्बुद्धत्व की प्राप्ति की। उन्होंने संसार में व्याप्त जरा-मरणादि दुःखों के कारणभूत तृष्णा को जानकर, प्रतीत्यसमुत्पाद के माध्यम से तृष्णा-निरोध करते हुए दुःख-निरोध गामिनी प्रतिपदा अर्थात् अष्टाङ्गिक मार्ग को खोज लिया। उनका नाम यद्यपि सिद्धार्थ गौतम था किन्तु उन्होंने स्वयं को बुद्ध कहा। भरतसिंह उपाध्याय का मानना है कि 'बुद्ध' नाम उनका स्वयं साक्षात्कृत नाम था, जो उन्हें बोधि-वृक्ष के

---

[3] ''अविज्जापच्चया सङ्खारा, सङ्खारपच्चया विञ्ञाणं, विञ्ञाणपच्चया नामरूपं, नामरूपपच्चया सळायतनं, सळायतनपच्चया फस्सो, फस्सपच्चया वेदना, वेदनापच्चया तण्हा, तण्हापच्चया उपादानं, उपादानपच्चया भवो, भवपच्चया जाति, जातिपच्चया जरामरणसोकपरिदेवदुक्खदोमनस्सुपायासा सम्भवन्ति एवमेतस्सकेवलस्स दुक्खक्खन्धस्स समुदयो होति। *वि.पि., महावग्ग,* 1/1/1, पृ. 1-2; *संयुत्तनिकाय (सं.नि.) (पठम भागो दुतियो खन्धो),* इगतपुरी: विपश्यना विशोधन विन्यास, प्रथम आवृत्ति, 1998, 2/1/1/1, पृ. 2; उ., 1/3, पृ. 71

[4] ''अविज्जायत्वेव असेसविरागनिरोधा सङ्खारनिरोधो, सङ्खारनिरोधा विञ्ञाणनिरोधो, विञ्ञाणनिरोधा नामरूपनिरोधो, नामरूपनिरोधा सळायतननिरोधो, सळायतननिरोधा फस्सनिरोधो, फस्सनिरोधा वेदनानिरोधो, वेदनानिरोधा तण्हानिरोधो, तण्हानिरोधा उपादाननिरोधो, उपादाननिरोधा भवनिरोधो, भवनिरोधा जातिनिरोधो, जातिनिरोधा जरामरणसोकपरिदेवदुक्खदोमनस्सुपायासा निरुज्झन्ति एवमेतस्स केवलस्स दुक्खक्खन्धस्स निरोधो होती''ति। *वि.पि., महावग्ग,* 1/1/1, पृ. 2; *सं.नि.,* 2/1/1/1, पृ. 2; उ., 1/3, पृ. 71

नीचे ज्ञान प्राप्त करते हुए मिला था।[5] यह नाम उन्हें उनकी माता महामाया, पिता शुद्धोधन, शाक्य बन्धुओं, भगवती कृपा अथवा ईश्वर ने नहीं दिया, अपितु स्वयं के पुरुषार्थ से उन्होंने इसे अर्जित किया था। *मज्झिमनिकाय* के सेलसुत्त में बुद्ध शब्द को उपपद बताया गया है, न कि व्यक्तिवाचक सञ्ज्ञा।[6] बुद्ध जागृत पुरुष को कहते हैं। बुद्ध का आविर्भाव बोधि से होता है, माता के गर्भ से नहीं। अतः एव कहा भी गया है कि बुद्ध पुरुष का आविर्भाव लोक में अतिदुर्लभ[7] है, किन्तु जगत् के लिये सुखकारी होता है।[8] *दीघनिकाय* के सामञ्ञफलसुत्त में बुद्ध की विभिन्न विशेषताओं को निरूपित करते हुए बताया है कि बुद्ध राग, द्वेष, मोह को भग्न करने वाले भगवान्, मार रूपी अरि को हत करने वाले अर्हत्, स्वयं अपने परिश्रम से सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने से सम्यक् सम्बुद्ध, विद्या एवं आचरण से युक्त, उत्तम गति को प्राप्त, समस्त लोकों के ज्ञाता, अनुत्तर, पथ से भ्रष्ट लोगों को मार्गपर लाने वाले सारथी, देवों और मानवों के शास्ता हैं।[9]

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि सिद्धार्थ को बुद्धत्व के रूप में प्रतीत्यसमुत्पाद का ज्ञान हुआ, जिसने बुद्ध को न केवल भारतीय इतिहास में अपितु वैश्विक इतिहास में एक कालजयी पुरुष बना दिया। गौतम बुद्ध द्वारा अनुलोम-प्रतिलोम क्रम से जिस प्रतीत्यसमुत्पाद को अनुभूत किया गया, जिसकी गम्भीरता की देशना बुद्ध ने की, जिसे दुःख निरोध के रूप में देखा; उस प्रतीत्यसमुत्पाद पर परवर्ती बौद्ध दर्शन प्रस्थानों में एकता क्यों नही बन पायी? उन्होंने परस्पर पृथक् –पृथक् व्याख्या क्यों की? गतिशील धर्म विज्ञान की भाँति होता है। विज्ञान में जैसे कोई भी सिद्धान्त स्थाई नहीं होता तथा स्थापित सिद्धान्तों में भी परिवर्तन सम्भव होता है। वैसे ही

---

[5] उपाध्याय, भरतसिंह, *बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन (बौ.द.अ.भा.द.)*, दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास, 1996, प्रथम भाग, पृ. 196

[6] *मज्झिमनिकाय (म.नि.)*, इगतपुरी: विपश्यना विशोधन विन्यास, प्रथम आवृत्ति, 1998, 2/5/2, पृ. 355-61

[7] बुद्धो हवे कप्पसतेहि दुल्लभो। *दीघनिकाय (दी.नि.)*, इगतपुरी: विपश्यना विशोधन विन्यास, प्रथम आवृत्ति, 1998, 2/3, पृ. 126

[8] सुखो बुद्धानं उप्पादो। *ध.प.*, 194, पृ. 37

[9] इतिपि सो भगवा अरहं सम्मासम्बुद्धो विज्जाचरणसम्पन्नो सुगतो लोकविदू अनुत्तरो पुरिसदम्मसारथी सत्था देवमनुस्सानं बुद्धो भगवा'ति। *दी.नि.*, 2/3, पृ. 73; *म.नि.*, 2/5/2, पृ. 355

गतिशील धर्म अपनी व्याख्या पद्धति को परिवर्तित करता रहता है। गौतम बुद्ध भी बहुत से मनुष्यों मे से एक हैं और उनका सन्देश एक व्यक्ति द्वारा दूसरे को दिया गया सन्देश है। उन्होंने कभी इस बात पर बल नहीं दिया कि उनका कोई वचन मिथ्या नहीं हो सकता। उन्होंने स्वयं द्वारा प्रोक्त वचनों की भी परीक्षा करने को कहा। स्वर्णकार स्वर्ण को तपाकर और काटकर जिस प्रकार आभूषण बनाता है, वैसे ही भिक्षुओं को बुद्ध ने स्वयं के वचनों को ग्रहण करने को कहा, न कि बुद्ध के प्रति गौरव होने के कारण।[10] गौतम बुद्ध द्वारा सारनाथ में प्रवर्तित किये गये धर्मचक्र की गतिशीलता के कारण ही परवर्ती बौद्ध दार्शनिकों ने बुद्ध के मन्तव्यों को भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से समझा तथा सिद्धान्तों की व्याख्या की।

गौतम बुद्ध के दार्शनिक मत को विकसित करने वाले विद्वानों को चार प्रस्थानों में विभक्त किया गया है। इन चारों को वैभाषिक, सौत्रान्तिक, विज्ञानवाद और माध्यमिक नाम से अभिहित किया जाता है। माध्यमिक आचार्य आर्यदेव के अनुसार वैभाषिकादि ये चारों स्व-स्व मत में तत्त्व अर्थात् प्रतीत्यसमुत्पाद की सिद्धि करते हैं।[11]

विभाषा नामक ग्रन्थ को प्रामाणिक मानकर, धर्मप्रविचय तथा बाह्यार्थप्रत्यक्षवाद के द्वारा अपने दार्शनिक मत की स्थापना करने वाले वैभाषिक हैं। अन्य शास्त्रों की अपेक्षा, बुद्ध-वचन होने से केवल सूत्र को ही प्रामाणिक मानने वाले[12] तथा दृष्टान्तों के द्वारा स्वमत को स्थापित करते हुये बाह्यार्थानुमेयवाद के समर्थक सौत्रान्तिक कहलाते हैं। बाह्यार्थ को सर्वथा असत् मानकर, मात्र विज्ञान को ही सत् स्वीकार करने वाले विज्ञानवादी हैं। विज्ञानवाद को व्यावहारिक स्तर पर योगाचार भी कहा जाता है। जो सभी धर्मों को परमार्थतः सत् नहीं मानते तथा न ही संवृतितः असत् स्वीकार करते हैं, अपितु उन्हें निःस्वभाव अथवा शून्य मानकर व्याख्या करते हैं, वे माध्यमिक कहलाते हैं। चारों दर्शन सम्प्रदायों जैसे वैभाषिक में कात्यायन,

---

[10] तापाच्छेदाच्च निकषात् सुवर्णमिव पण्डितैः। परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मद्वचो न तु गौरवात्॥ आर्यदेव, *ज्ञानसारसमुच्चयः (ज्ञा.स.)*, अनुवादक – पेन्पा दोर्जे, सारनाथ: केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, प्रथम संस्करण, 2008, 31, पृ. 102

[11] चतुर्धा शासनं दृष्टमिति पूर्वमनीषिभिः। वैभाषिकादिमार्गोक्तेस्तत्तत्वं खलु साध्यते॥ वही, 20, पृ. 96

[12] कः सौत्रान्तिकार्थः? ये सूत्रप्रामाणिकाः, न तु शास्त्रप्रामाणिकास्ते सौत्रान्तिकाः। यशोमित्र, *स्फुटार्था (स्फु.)*, वसुबन्धुविरचित *अभिधर्मकोश* व स्वोपज्ञ भाष्य सहित, सम्पादक- द्वारिकादास शास्त्री, वाराणसी: बौद्ध भारती, द्वितीय संस्करण, 2008, पृ. 13

वसुबन्धु[13], संघभद्र आदि; सौत्रान्तिक में कुमारलात, श्रीलाभ, यशोमित्र आदि; विज्ञानवाद में असङ्ग, मैत्रेय, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति आदि; माध्यमिक में नागार्जुन, आर्यदेव, चन्द्रकीर्ति आदि प्रमुख आचार्य हैं।

विचार-स्वातन्त्र्य तथा स्वयं के विचारों की भी परीक्षा करके ग्रहण करने के कारण ही बौद्धदर्शन एक निकाय न होकर दर्शनसमूह है। भगवान् बुद्ध ने स्वयं ही किसी भी शास्ता अथवा किसी पवित्र ग्रन्थ के वचन को अन्तिम प्रमाण मानने से अपने अनुयायी भिक्षुओं को मना कर दिया था। उन्होंने स्वतन्त्र चिन्तन, अपने अनुभव की प्रामाणिकता, वस्तुसङ्गत दृष्टि और उदार विचारों के जो बीज भिक्षुसंघ में निक्षिप्त किये थे, उन्हीं बीजों से कालान्तर में विभिन्न शाखाओं वाला सद्धर्म रूपी महावृक्ष विकसित हुआ।[14]

वैभाषिकादि चारों बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदायों में यद्यपि बौद्ध दर्शन के विविध आयामों का स्व-स्व मत में वर्णन किया गया है, तथापि राजकुमार सिद्धार्थ जिसकी अनुभूति से बुद्ध हुये, ऐसे प्रतीत्यसमुत्पाद की व्याख्या और विश्लेषण करना इन चारों दर्शन सम्प्रदायों का अभिप्रेत है।

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध में वैभाषिक एवं माध्यमिक इन दोनों दर्शनों में प्रतिपादित प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त का विश्लेषणात्मक तथा तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। प्रस्तुत शोधकार्य का उद्देश्य पालि साहित्य में इतस्ततः विकीर्ण प्रतीत्यसमुत्पाद को विवेचित करते हुये, वैभाषिक एवं माध्यमिक दर्शनों के आधारभूत ग्रन्थों विशेषकर *अभिधर्मकोश, अभिधर्मकोशभाष्य, मध्यमकशास्त्र, प्रसन्नपदाटीका, शून्यतासप्तति, विग्रहव्यावर्तनी* आदि में प्रतिपादित प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त की व्याख्या विश्लेषणात्मक एवं तुलनात्मक शोधप्रविधियों के आधार पर करना है। इसके साथ ही प्रस्तुत शोधकार्य में प्रतीत्यसमुत्पाद के वैज्ञानिक वैशिष्ट्य को

[13] वसुबन्धु विज्ञानवादी आचार्य माने जाते हैं। विज्ञानवाद के सिधान्तों को आधार बनाकर उन्होंने दो ग्रन्थ विंशिका व त्रिंशिका लिखे। वसुबन्धु ने अभिधर्मकोश तथा उसका भाष्य विभाषा को आधार बनाकर लिखा था, जिससे उनकी गिनती वैभाषिकों में भी की जाती है।

[14] त्रिपाठी, रामशङ्कर, *बौद्ध दर्शन प्रस्थान (बौ.द.प्र.)*, सारनाथ: केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, प्रथम संस्करण, 1997, पृ. 24

भ्रूणविज्ञान, क्वाण्टम भौतिकी, गहन पारिस्थितिकी एवं गाया परिकल्पना के साथ तुलनात्मक ढंग से विश्लेषित किया गया है।

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध से सम्बन्धित पूर्ववर्ती शोधकार्य के सर्वेक्षण से ज्ञात होता है कि "वैभाषिक एवं माध्यमिक दर्शनों में प्रतिपादित प्रतीत्यसमुत्पाद का तुलनात्मक अध्ययन" विषयक कोई भी शोधकार्य नहीं हुआ है। बौद्ध दर्शन में प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धान्त प्रथित होने से सुधीजनों ने थेरवाद और माध्यमिक दर्शन में प्रतीत्यसमुत्पाद को अपनी विवेचना का विषय बनाया है।

2007 ई. में वेअंग पिलुग्रिग्रत फ्रा (Weang Pilugrigrut Phra) द्वारा प्रोफेसर एच. एस. शुक्ल के निर्देशन में *"ए क्रिटीकल स्टडी ऑफ द लॉ ऑफ डिपेन्डेट ओरिजीनेशन (पटिच्च-समुप्पाद) इन थेरवाद बुद्धिज्म"* विषय पर बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय से पीएच.डी. पूर्ण किया। इस शोधकार्य में इन्होंने स्थविरवाद बौद्ध मत के अनुसार पालि साहित्य के आधार पर प्रतीत्यसमुत्पाद की व्याख्या प्रस्तुत की है।

माध्यमिक दर्शन से सम्बन्धित शोधकार्यों में इन्दुमति दत्तात्रेय दातर और नी मिन्नी मिश्र झा के शोधकार्य उपलब्ध हैं। नी मिन्नी मिश्र झा द्वारा दिल्ली विश्वविद्यालय से 2013 ई. में डॉ. इन्द्र नारायण सिंह के शोध निर्देशन में *"स्टडी ऑफ स्वभाव इन माध्यमिक सिस्टम विद स्पेशल रेफ्रेंस टू द डॉक्ट्रिन ऑफ प्रतीत्यसमुत्पाद"* विषय पर पी.एच. डी. शोधकार्य पूर्ण किया गया। इस शोधकार्य में इन्होंने नागार्जुन की *मूलमाध्यमिककारिका* के आधार पर सत्ता के स्वभाव की शून्यवादी व्याख्या करते हुए प्रतीत्यसमुत्पाद को भी शून्यता के रूप में स्थापित किया है।
इन्दुमति दत्तात्रेय दातर द्वारा बोम्बे विश्वविद्यालय से 1949 ई. में *"नागार्जुन फिलॉसोफी ऑफ कॉज़ेलिटी बेस्ड ऑन हिज वर्क्स अकुतोभया एण्ड शून्यतासप्तति, रिस्टोर्ड इन संस्कृत"* विषय पर पीएच. डी. शोधकार्य सम्पूर्ण किया गया। इसमें इन्दुमति ने नागार्जुन के कार्य-कारण सम्बन्धी विचारों की समीक्षा उनके *अकुतोभय* तथा *शून्यतासप्तति* ग्रन्थों के आधार पर की है। इसके साथ ही तिब्बती भाषा से इन दोनों ग्रन्थों का संस्कृत पुनरुद्धार किया है।

उपर्युक्त शोधकार्यों में से प्रथम शोधकार्य में प्रतीत्यसमुत्पाद का अध्ययन स्थविरवाद परम्परा के अनुसार पालि साहित्य के आलोक में किया गया है। द्वितीय शोधकार्य में नागार्जुन के *मूलमाध्यमिककारिका* ग्रन्थ के स्वभाव सम्बन्धी सिद्धान्त का विश्लेषण प्रतीत्यसमुत्पाद के सन्दर्भ में किया गया है। तृतीय शोधकार्य का क्षेत्र नागार्जुन की *मूलमाध्यमिककारिका* की स्वोपज्ञवृत्ति *अकुतोभय* तथा *शून्यतासप्तति* ग्रन्थों तक सीमित है। इन ग्रन्थों का तिब्बती से संस्कृत पुनरुद्धार शोधार्थिनी को अभिप्रेत था तथा इनके आधार पर ही शोधार्थिनी ने नागार्जुन के कार्य-कारण अथवा प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त का अत्यन्त संक्षिप्त विश्लेषण किया है।

उपर्युक्त शोधकार्यों में वैभाषिक दर्शन के प्रतीत्यसमुत्पाद सम्बन्धी विचारों का स्वतन्त्र रूप से तथा माध्यमिक दर्शन के विभिन्न ग्रन्थों यथा मूलमाध्यमिककारिका, प्रसन्नपदा तथा नागार्जुन के अन्य दार्शनिक ग्रन्थों के आधार पर प्रतीत्यसमुत्पाद का समग्र रूप से अध्ययन नहीं किया गया है। वैभाषिक एवं माध्यमिक दर्शनों के प्रतीत्यसमुत्पाद सम्बन्धी विचारों का तुलनात्मक अध्ययन भी अद्यतन नहीं किया गया है। अतः **"वैभाषिक एवं माध्यमिक दर्शनों में प्रतिपादित प्रतीत्यसमुत्पाद का तुलनात्मक अध्ययन"** शोधविषय की नवीनता तथा मौलिकता होने के कारण शोधार्थी द्वारा शोधकार्य का आधार बनाकर प्रस्तुत शोधप्रबन्ध लिखा गया।

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध को अधोलिखित पाँच अध्यायों में विभाजित किया गया है –

प्रथम अध्याय – पालि साहित्य में प्रतीत्यसमुत्पाद का विश्लेषण
द्वितीय अध्याय – वैभाषिक दर्शन में प्रतिपादित प्रतीत्यसमुत्पाद का विश्लेषण
तृतीय अध्याय – माध्यमिक दर्शन में प्रतिपादित प्रतीत्यसमुत्पाद का विश्लेषण
चतुर्थ अध्याय – वैभाषिक एवं माध्यमिक दर्शनों में प्रतिपादित प्रतीत्यसमुत्पाद का तुलनात्मक अध्ययन
पञ्चम अध्याय – प्रतीत्यसमुत्पाद का वैज्ञानिक वैशिष्ट्य

प्रथम अध्याय में विभिन्न पालि सन्दर्भों के आधार पर प्रतीत्यसमुत्पाद का विश्लेषण किया गया है। इस अध्याय में सर्वप्रथम पिटक और अनुपिटक पालि साहित्य में प्रतीत्यसमुत्पाद सम्बन्धी सन्दर्भों को संकलित किया गया है। तत्पश्चात् प्रतीत्यसमुत्पाद का आशय, प्रतीत्यसमुत्पाद और चार आर्य-सत्य, प्रतीत्यसमुत्पाद की चतुर्विधा देशना, अविद्यादि द्वादशाङ्ग, प्रतीत्यसमुत्पाद की गम्भीरता, चतुर्विध नयभेद तथा चतुर्विध विशेषताओं का विश्लेषण किया गया है।

द्वितीय अध्याय का वर्ण्य-विषय वैभाषिक दर्शन में प्रतीत्यसमुत्पाद का विश्लेषण करना है। इस अध्याय में वैभाषिक दर्शन के साहित्य का संक्षिप्त परिचय देते हुये, सास्रवानास्रवादि धर्मों को उपस्थापित किया गया है। वैभाषिक दर्शन के अनुसार कार्य-कारणवाद सम्बन्धी सिद्धान्त के माध्यम से हेतु-प्रत्ययवाद की व्याख्या की गई है। वैभाषिक दर्शन के अनुसार प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थनिर्धारण करते हुये, सत्त्व की जन्म प्रक्रिया और भवचक्र, द्वादशाङ्गों का विवेचन तथा आवस्थिक प्रतीत्यसमुत्पाद का विश्लेषण किया गया है। वैभाषिक दर्शन में प्रतीत्यसमुत्पाद का विश्लेषण करने के लिये वसुबन्धु के *अभिधर्मकोश, अभिधर्मकोशभाष्य* और यशोमित्र की *स्फुटार्था* को आधार बनाया गया है।

तृतीय अध्याय में माध्यमिक दर्शन के अनुसार प्रतीत्यसमुत्पाद का विश्लेषण किया गया है। इस अध्याय में माध्यमिक दर्शन के साहित्य का परिचय देते हुये, माध्यमिकों के सत्यद्वय के सिद्धान्त का विश्लेषण किया गया है। माध्यमिक मत में कार्यकारणवाद का अध्ययन किया गया है। पारमार्थिक स्तर पर कार्यकारणवाद को अस्वीकार करने वाला माध्यमिक दर्शन लोकसंवृति के स्तर पर इसे स्वीकार करता है। माध्यमिक दर्शन में प्रतीत्यसमुत्पाद और शून्यता को अभिन्न माना गया है। शून्यता की व्याख्या करने के पश्चात् प्रतीत्यसमुत्पाद के आशय, द्वादशाङ्ग तथा इसके भेदोपभेदों का विश्लेषण नागार्जुन की *माध्यमिककारिका, शून्यतासप्तति, प्रतीत्यसमुत्पादहृदय, विग्रहव्यावर्तनी, चतुःस्तव* तथा चन्द्रकीर्ति की *प्रसन्नपदाटीका,* आर्यदेव के *ज्ञानसारसमुच्चय* आदि के आधार पर किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में वैभाषिक एवं माध्यमिक दर्शनों में प्रतिपादित प्रतीत्यसमुत्पाद का तुलनात्मक अध्ययन कार्यकारणवाद, प्रतीत्यसमुत्पाद के आशय, द्वादशाङ्ग, भवचक्र एवं स्कन्ध और प्रतीत्यसमुत्पाद के भेदोपभेद के आधार पर किया गया है। तुलनात्मक अध्ययनार्थ सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण को सहज बनाने के लिये चित्रों का अवलम्बन लिया गया है।

पञ्चम अध्याय में प्रतीत्यसमुत्पाद का वैज्ञानिक वैशिष्ट्य प्रस्तुत किया गया है। इस अध्याय में भ्रूणविज्ञान, क्वाण्टम भौतिकी, गहन पारिस्थिकी एवं गाया परिकल्पना के आधार पर प्रतीत्यसमुत्पाद के वैज्ञानिक पक्ष का विश्लेषण किया गया है।

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध में पालि साहित्य के सन्दर्भों के लिये विपश्यना विशोधन विन्यास, इगतपुरी से प्रकाशित पिटक और अनुपिटक साहित्य के संस्करणों को आधार बनाया गया है। वैभाषिक दर्शन में प्रतीत्यसमुत्पाद के विश्लेषण के लिये *अभिधर्मकोश* की कारिकाओं के लिये 2012 ई. में राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली से संघसेन सिंह द्वारा सम्पादित *अभिधर्मकोश* को तथा *अभिधर्मकोशभाष्य* एवं *स्फुटार्था* के लिये द्वारिकादास शास्त्री द्वारा बौद्धभारती, वाराणसी से सम्पादित *अभिधर्मकोश* के द्वितीय संस्करण (2008) को आधार बनाया गया है। माध्यमिक दर्शन में प्रतिपादित प्रतीत्यसमुत्पाद के अध्ययनार्थ *मध्यमकशास्त्र* की कारिकाओं के लिये द्वारिकादास शास्त्री द्वारा सम्पादित *मध्यमकशास्त्र* को तथा प्रसन्नपदा के लिये रघुनाथ पाण्डेय के मोतीलाल बनारसीदास से 1989 ई. में प्रकाशित संस्करण को आधार बनाया गया है। माध्यमिक दर्शन के अन्य ग्रन्थों से सन्दर्भ के लिये केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ से प्रकाशित ग्रन्थों को आधार बनाया गया है। वैज्ञानिक सिद्धान्तों को समझने के लिये ब्रायन जे. स्टिलवेल, आइंस्टाइन, अर्ने नैस व जेम्स लवलॉक के द्वारा लिखे गये विभिन्न शोधपत्रों एवं पुस्तकों के अलावा दलाई लामा, कृष्णनाथ, फ्रित्जाफ काप्रा, गुणाकर मुळे के लिखे गये साहित्य को आधार बनाया गया है।

प्रथम अध्याय

पालि साहित्य में प्रतीत्यसमुत्पाद का विश्लेषण

1.1 पालि साहित्य में प्रतीत्यसमुत्पाद के सन्दर्भ

मूल त्रिपिटक में प्रतीत्यसमुत्पाद सम्बन्धी सन्दर्भ – त्रिपिटक तीन हैं – *विनयपिटक, सुत्तपिटक* और *अभिधम्मपिटक* । *विनयपिटक* में महावग्ग के महाखन्धक के बोधिकथा भाग में प्रतीत्यसमुत्पाद का उल्लेख मिलता है। *सुत्तपिटक* के पाँचों निकायों में यथास्थान प्रतीत्यसमुत्पाद का विवेचन मिलता है। *दीघनिकाय* के महानिदानसुत्त एवं महासतिपट्ठानसुत्त; *मज्झिमनिकाय* के मूलपण्णासपाळि के ओपम्मवग्ग के महाहत्थिपदोपमसुत्त, महायमकवग्ग के महातण्हासङ्खयसुत्त व उपरिपण्णासपाळि के अनुपदवग्ग के बहुधातुकसुत्त; *संयुत्तनिकाय* के निदानवग्ग के निदानसंयुत्त में सर्वत्र किन्तु विशेषतः बुद्धवग्ग के पटिच्चसमुप्पादसुत्त व विभङ्गसुत्त; *खुद्दकनिकाय* के ग्रन्थ *उदान* के बोधिवग्ग के पहले तीन सुत्त-पठमबोधिसुत्त, दुतियबोधिसुत्त व ततियबोधिसुत्त और *पटिसम्भिदामग्ग* के महावग्ग के ञाणकथा के सुतमयञाणनिद्देस एवं धम्मट्ठितिञाणनिद्देस में प्रतीत्यसमुत्पाद का विश्लेषण मिलता है। *अभिधम्मपिटक* के *धम्मसङ्गणी, विभङ्ग, धातुकथा* व *पट्ठान* ग्रन्थों में प्रतीत्यसमुत्पाद का उल्लेख मिलता है। *धम्मसङ्गणी* के निक्खेपकण्ड के तिकनिक्खेप; *विभङ्ग* के छठे परिच्छेद में पटिच्चसमुप्पादकथा; *धातुकथा* के पठमनय के पटिच्चसमुप्पादादि; *पट्ठान* में पच्चयुद्देस एवं पच्चयनिद्देस में प्रतीत्यसमुत्पाद के सन्दर्भ मिलते हैं।

अनुपिटक में प्रतीत्यसमुत्पाद सम्बन्धी सन्दर्भ – अनुपिटक ग्रन्थ *मिलिन्दपञ्ह* के लक्खणपञ्ह में, बुद्धघोष की *विसुद्धिमग्ग* के 17 वें परिच्छेद पञ्ञाभूमिनिद्देस, अनुरुद्ध के *अभिधम्मत्थसङ्गहो* के अष्टम परिच्छेद पच्चयपरिच्छेद में प्रतीत्यसमुत्पाद के सन्दर्भ मिलते हैं। विभिन्न अट्ठकथाओं जैसे - *विनयपिटक* की अट्ठकथा *समन्तपासादिका, दीघनिकाय* की अट्ठकथा *सुमङ्गलविलासिनी, मज्झिमनिकाय* की अट्ठकथा *पपञ्चसूदनी, संयुत्तनिकाय* की अट्ठकथा

सारत्थप्पकासिनी, उदानादि[15] की अट्ठकथा *परमत्थदीपनी*, *नेत्तिपकरण* की *नेत्तिपकरणट्ठकथा*, अभिधम्म के ग्रन्थ *धम्मसङ्गणी* की अट्ठकथा *अट्ठसालिनी*, *विभङ्ग* की अट्ठकथा *सम्मोहविनोदिनी*, धातुकथादि[16] अन्य अभिधम्म ग्रन्थों की अट्ठकथा *पञ्चप्पकरणट्ठकथा* के तत्सम्बन्धित स्थलों में प्रतीत्यसमुत्पाद की व्याख्या मिलती है। इनके अलावा शेष पालि साहित्य में भी इतस्ततः प्रतीत्यसमुत्पाद के सन्दर्भ मिलते हैं।

1.2. प्रतीत्यसमुत्पाद का आशय

गौतम बुद्ध ने प्रतीत्यसमुत्पाद की अनुलोम-प्रतिलोमात्मक ढंग से द्विविध देशना की है।[17]

→ इसके होने पर यह होता है, इसके उत्पाद से इसका उत्पाद होता है।[18]

→ इसके न होने पर यह नहीं होता, इसके निरोध से यह निरुद्ध हो जाता है। [19]

इनमें प्रथम देशना उत्पत्ति भाव को दर्शाती है। इसे एक उदाहरण से समझा जा सकता है। यदि बीज होगा तो अङ्कुर भी होगा, क्योंकि बीज के उत्पाद से ही अङ्कुर की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार अङ्कुर से पत्र, पत्र से काण्ड, काण्ड से नाल, नाल से गण्ड, गण्ड से गर्भ, गर्भ से शुक, शुक से पुष्प तथा पुष्प से फल होता है। केवल उत्पत्तिमात्र का ज्ञान ही प्रतीत्यसमुत्पाद नहीं है, अपितु द्वितीय देशना निरोधात्मक भाव को भी दर्शाती है। यदि बीज नहीं होगा तो अङ्कुर भी नहीं

---

[15] धम्मपाल ने *उदान*, *इतिवुत्तक*, *विमानवत्थु*, *थेरगाथा*, *थेरीगाथा* व *चरियापिटक* इन छः खुद्दकनिकाय के ग्रन्थों पर *परमत्थदीपनी* अट्ठकथा लिखी।

[16] अभिधम्मपिटक के सात ग्रन्थ हैं- इनमें से *धातुकथा*, *पुग्गलपञ्ञति*, *कथावत्थु*, *यमक* एवं *पट्ठान* पर *पञ्चप्पकरणट्ठकथा* बुद्धघोष ने लिखी।

[17] इमस्मिं सति इदं होति, इमस्सुप्पादा इदं उप्पज्जति, इमस्मिं असति इदं न होति, इमस्स निरोधा इदं निरुज्झति। *म.नि.*, 3/2/5, पृ. 110; *सं.नि.*, 2/1/3/1, पृ. 26, 2/1/3/2, पृ. 26, 2/1/4/7, पृ. 57, 2/1/5/1, पृ. 62, 2/1/7/1, पृ. 84, 2/1/5/2, पृ. 86; उ., 1/3, पृ. 71

[18] इमस्मिं सति इदं होति, इमस्सुप्पादा इदं उप्पज्जति । *म.नि.*, 1/4/8, पृ. 335; *सं.नि.*, 2/1/5/9, पृ. 69, 2/1/5/10, पृ. 71; उ., 1/1, पृ. 69

[19] इमस्मिं असति इदं न होति, इमस्स निरोधा इदं निरुज्झति। *म.नि.*, 1/4/8, पृ. 335; *सं.नि.*, 2/1/5/9, पृ. 70, 2/1/5/10, पृ. 71; उ., 1/1, पृ. 70

होगा, क्योंकि बीज के निरोध पर ही अङ्कुर का निरोध निर्भर है। इसी प्रकार अङ्कुर के निरोध से पत्रादि का निरोध जानना चाहिये। अविद्यादि द्वादशाङ्गों के आधार पर बुद्ध ने भवचक्र की उत्पत्ति और निरोध को स्पष्ट किया है। अविद्यादि के होने पर ही संस्कारादि होते हैं, न होने पर नहीं होते। पूर्वभव के होने पर प्रत्युत्पन्नभव (वर्तमान भव) होता है और प्रत्युत्पन्नभव के होने पर अनागतभव (भविष्य भव) होता है।

प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ आचार्य अनुरुद्ध ने 'तद्भावभाविभावाकार' किया है।[20] अविद्या आदि प्रत्यय धर्मों का भाव 'तद्भाव' है। उन अविद्यादि प्रत्ययधर्मों के उत्पन्न होने पर उत्पद्यमान संस्कारादि प्रत्ययोत्पन्न धर्म 'तद्भावभावी' है। यह भाव ही 'आकार' है अतः इसे 'भावाकार' कहते हैं। उन अविद्यादि प्रत्यय धर्मों के उत्पाद से उत्पन्न होने वाले संस्कारादि प्रत्योत्पन्न धर्मों का उत्पत्याकार तद्भावभाविभावाकार होता है।[21]

अभिधम्मत्थसङ्गहो की *विभावनी* टीका में प्रतीत्यसमुत्पाद शब्द का निर्वचन करते हुये सुमङ्गलसामी ने कहा है कि प्रत्ययसामग्री की अपेक्षा करके जो साथ-साथ प्रत्ययोत्पन्न धर्म रूपी फलों का उत्पाद करता है, वह प्रत्ययसमूह ही प्रतीत्यसमुत्पाद है।[22] इसे अधिक स्पष्ट करते हुये रामशङ्कर त्रिपाठी कहते हैं, "जब कोई चित्त आदि कार्य प्रत्यय-सामग्री के बल से उत्पन्न होता है, तब उस चित्त से सम्प्रयुक्त होने वाले चैत्तसिक धर्म भी चित्त के काल में ही उत्पन्न होते हैं तथा उस कारण-सामग्री में सम्मिलित होने वाले सभी प्रत्यय भी कार्य के उत्पाद में समान रूप से प्रवृत्त होते हैं।[23] अर्थात् उनमें बल-अबल की दृष्टि से कोई भेद नहीं होता। प्रतीत्यसमुत्पाद की

---

[20] *अभिधम्मत्थसङ्गहो (सुमङ्गलसामी प्रणीत अभिधम्मत्थविभाविनीटीका सहित)*, अनुरुद्ध, धम्मगिरि-पालि-ग्रन्थमाला, इगतपुरी: विपश्यना विशोधन विन्यास, प्रथम आवृत्ति, 1998, 8/3, पृ. 55

[21] तस्स पच्चयधम्मस्स भावेन भवनसीलस्स भावो तब्भावभावीभावो, सोयेव आकारमत्तं, तेन उपलक्खितो तब्भावभावीभावाकारमत्तोपलक्खितो। एतेनेव तदभावाभावाकारमत्तोपलक्खिततापि अत्थतो दस्सिता होति। अन्वयब्यतिरेकवसेन हि पच्चयलक्खणं दस्सेतब्बं। *अभिधम्मत्थविभावनीटीका,* पृ. 206

[22] पच्चयसामग्गिं पटिच्च समं गन्त्वा फलानं उप्पादो एतस्माती पटिच्चसमुप्पादो। वही, पृ. 206

[23] त्रिपाठी, रामशङ्कर, *सौत्रान्तिक दर्शन (सौ.द.)*, सारनाथ: केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, 2008, पृ. 237

इस व्याख्या के आधार पर कुछ निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं, जैसे - एक कारण से एक फल नहीं होता, एक कारण से अनेक फल भी नहीं होते, अनेक कारणों से एक फल नहीं होता, अपितु कारण समुदाय से फल समुदाय उत्पन्न होता है। जैसे -पृथिवी, पानी, बीज, ऋतु आदि कारण समुदाय से रूप, गन्ध आदि अनेक गुणों से सम्पन्न फल उत्पन्न होता है।[24]

इस प्रकार प्रतीत्यसमुत्पाद शब्द का विश्लेषण 'हेतुप्रत्यय की अपेक्षा करके भावों का उत्पाद' किया जाये, तो केवल उत्पत्तिमात्र का ज्ञान ही प्रतीत्यसमुत्पाद नहीं है, अपितु इससे यह भी प्रकट होता है कि इसके न होने पर यह नहीं होता अर्थात् इसके निरोध से यह भी निरुद्ध हो जाता है। प्रतीत्यसमुत्पाद एक हेतुफल–परम्परा है। इसे ही प्रत्याकार या पच्चयाकार निदान भी कहा गया है जिसका सम्बन्ध अनित्यत्व और अनात्मत्व से है। कोई भी संस्कृत पदार्थ शाश्वत नहीं है, सभी अनित्य एवं क्षणिक हैं तथा हेतुप्रत्ययजनित हैं।

आचार्य बुद्धघोष ने *विसुद्धिमग्ग* में तैर्थिकों अर्थात् अन्य मतावलम्बियों के परिकल्पित मत का परिहार में किया है। तैर्थिक मत है कि प्रकृति-पुरुषादि के सम्यक् प्रत्यय से उत्पन्न होना ही प्रतीत्यसमुत्पाद है। अतः एव तैर्थिकों द्वारा उत्पाद मात्र को ही प्रतीत्यसमुत्पाद कहा गया है। इस मत का निराकरण करने के लिये बुद्धघोष ने सुत्ताभावतो, सुत्तविरोधतो, गम्भीरनयासम्भवतो एवं सद्दभेदतो इन चतुर्विध तर्कों का सहारा लिया है,[25] जो निम्न हैं -

सुत्ताभावतो – *सुत्तपिटक* में ऐसा कोई सूत्र नहीं है जो यह पुष्ट करता है कि उत्पाद मात्र ही प्रतीत्यसमुत्पाद है। सिद्धार्थ ने जब बुद्धत्व लाभ किया तो उनके द्वारा जिस प्रतीत्यसमुत्पाद का अनुलोम तथा प्रतिलोम अवगाहन किया गया, वह प्रत्यय को देखते हुये किया, न कि उत्पादमात्र को। *सुत्तपिटक* के विभिन्न सन्दर्भों मुख्यतः *दीघनिकाय* के महावग्ग, *संयुत्तनिकाय* के

---

[24] *सौ.द.*, पृ. 237-38

[25] केचि पन पटिच्च सम्मा च तित्थियपरिकप्पितपकतिपुरिसादिकारणनिरपेक्खो उप्पादो पटिच्चसमुप्पादोति एवं उप्पादमत्तं पटिच्चसमुप्पादोति वदन्ति, तं न युज्जति। कस्मा? सुत्ताभावतो, सुत्तविरोधतो, गम्भीरनयासम्भवतो, सद्दभेदतो च। *वि.म.*, 2/17, पृ. 148

निदानसंयुत्त व *उदान* के बोधिवग्ग में जिस प्रतीत्यसमुत्पाद का उल्लेख है, वहाँ 'अविज्जापच्चया सङ्खारा, सङ्खारपच्चया विञ्ञाणं, विञ्ञाणपच्चया नामरूपं, नामरूपपच्चया सळायतनं, सळायतनपच्चया फस्सो, फस्सपच्चया वेदना, वेदनापच्चया तण्हा, तण्हापच्चया उपादानं, उपादानपच्चया भवो, भवपच्चया जाति, जातिपच्चया जरामरणसोकपरिदेवदुक्ख-दोमनस्सुपायासा सम्भवन्ति'[26] बताया गया है। यहाँ अविद्यादि का उत्पाद दिखाई नहीं देता, अपितु पच्चय अर्थात् प्रत्यय ही कहा गया है।

सुत्तविरोधतो – *सुत्तपिटक* के विरोध से भी यह स्पष्ट है कि उत्पाद मात्र प्रतीत्यसमुत्पाद नहीं होता है। *संयुत्तनिकाय* के कच्चानगोत्तसुत्त में गौतम बुद्ध ने कात्यायन को सम्बोधित करते हुये कहा है कि जब कोई लोक के समुदय अर्थात् उत्पत्ति को सम्यक् प्रज्ञा से देखता है, तो उसके लिये 'लोक नहीं है' का ज्ञान नहीं होता।[27] इस पंक्ति की व्याख्या करते हुये बुद्धघोष कहते हैं कि अनुलोम प्रतीत्यसमुत्पाद लोक का प्रत्यय होने से लोक की उत्पत्ति है – इस प्रकार की उच्छेद दृष्टि को मिटाने के लिये प्रकाशित किया गया है, न कि उत्पादमात्र को दर्शाने के लिये।[28] यहाँ यह स्पष्ट है कि उच्छेद दृष्टि का प्रहाण उत्पाद मात्र के दर्शन से नहीं होता, अपितु प्रत्ययों को अविच्छिन्न रूप से देखने से होता है। इस प्रकार कच्चानगोत्तसुत्त से भी विरोध स्पष्ट है।

गम्भीरनयासम्भवतो – गौतम बुद्ध ने प्रतीत्य-समुत्पाद को गम्भीर कहा है। बुद्धघोष ने प्रतीत्यसमुत्पाद को अर्थ, धर्म, देशना तथा प्रतिवेध से चतुर्विध गम्भीर माना है। यह गम्भीरता उत्पादमात्र में नहीं है। अतः बुद्धघोष का मत है कि गम्भीरनय के असम्भव होने से भी उत्पादमात्र प्रतीत्यसमुत्पाद नही है।[29]

---

[26] *वि.पि.*, महावग्ग, 1/1/1, पृ. 1-2; *सं.नि.*, 2/1/1/1, पृ. 2, 2/1/1/1, पृ. 2; उ., 1/3, पृ. 69-70

[27] लोकसमुदयं खो, कच्चान, यथाभूतं सम्मप्पञ्ञाय पस्सतो या लोके नत्थिता सा न होति। *सं.नि.*, 2/1/2/5, पृ. 17

[28] अनुलोमपटिच्चसमुप्पादो लोकपच्चयतो ''लोकसमुदयो''ति उच्छेददिट्ठिसमुग्घातत्थं पकासितो, न उप्पादमत्तं। *वि.म.*, 2/17, पृ. 148

[29] गम्भीरनयासम्भवतोपि न उप्पादमत्तं पटिच्चसमुप्पादो। वही, पृ. 148

सद्दभेदतो – प्रतीत्य शब्द समान कर्त्ता के पूर्वकाल में प्रयुक्त होने से अर्थ को सिद्ध करता है। *संयुक्तनिकाय* के दुक्खसुत्त में आया है कि चक्षु के प्रत्यय से रूप में चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न होता है। यहाँ भाव को सिद्ध करने वाले उत्पाद शब्द के साथ प्रयुक्त होने से समान कर्त्ता के अभाव से शब्द का भेद होता है, किन्तु कोई अर्थ सिद्ध नहीं करता है। अतःएव शब्द के भेद से भी उत्पादमात्र प्रतीत्यसमुत्पाद नहीं है।[30] बुद्धघोष ने तर्क देते हुये कहा है कि प्रतीत्यसमुत्पाद शब्द के साथ बुद्धवचनों में कहीं भी 'होता है (होति)' पद नहीं जुड़ा है। अतः यदि ऐसा कहा जाता कि प्रतीत्यसमुत्पाद होता है, तो यह भी सम्भव था कि उत्पाद होता है।[31] एक अन्य तर्क दिया है कि हेतुसमूह 'इससे प्रतिमुख है', अतःएव प्रतीत्य कहा गया है और साथ रहने वाले धर्मों को उत्पन्न करता है, इसलिये वह समुत्पाद कहा जाता है।[32] यह प्रत्यय समूह, एक-दूसरे के प्रत्यय से सम और एकत्र धर्मों को उत्पन्न करता है, अतः एव बुद्ध द्वारा ऐसा कहा गया है।[33] यहाँ प्रथम पद अर्थात् प्रतीत्य से शाश्वतादि का अभाव तथा पीछे वाले पद अर्थात् समुत्पाद से उच्छेदादि का प्रहाण तथा दोनों अर्थात् प्रतीत्यसमुत्पाद से न्याय प्रकाशित होता है।[34]

1.3. प्रतीत्यसमुत्पाद और चार आर्य-सत्य

प्रतीत्यसमुत्पाद की देशना गौतम बुद्ध ने द्वादशाङ्गों के माध्यम से दी है। ये द्वादशाङ्ग हैं – अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति तथा जरामरण।

---

[30] पटिच्चसद्दो च पनायं समाने कत्तरि पुब्बकाले पयुज्जमानो अत्थसिद्धिकरो होति। सेय्यथिदं, ''चक्खुञ्च पटिच्च रूपे च उप्पज्जति चक्खुविञ्ञाण''न्ति (*सं.नि.*, 2/1/5/3)। इध पन भावसाधनेन उप्पादसद्देन सद्धिं पयुज्जमानो समानस्स कत्तु अभावतो सद्दभेदं गच्छति, न च किञ्चि अत्थं साधेतीति सद्दभेदतोपि न उप्पादमत्तं पटिच्चसमुप्पादोति। *वि.म.*, 2/17, पृ. 148-49

[31] ''होति-सद्देन सद्धिं योजयिस्साम 'पटिच्चसमुप्पादो होती'ति'', तं न युत्तं।.... इमेसु हि पदेसु एकेनपि सद्धिं होति-सद्दो योगं न गच्छति, न च उप्पादो होति। सचे भवेय्य, उप्पादस्सापि उप्पादो पापुणेय्याति। वही, पृ. 149

[32] पटिमुखमितोति वुत्तो, हेतुसमूहो अयं पटिच्चोति। सहिते उप्पादेति च, इति वुत्तो सो समुप्पादो॥ वही, पृ. 150

[33] पच्चयता अञ्ञोञ्ञं, पटिच्च यस्मा समं सह च धम्मे। अयमुप्पादेति ततोपि, एवमिध भासिता मुनिना॥ वही, पृ. 150

[34] पुरिमेन सस्सतादीन, मभावो पच्छिमेन च पदेन। उच्छेदादिविघातो, द्वयेन परिदीपितो ञायो॥ वही, पृ. 150

अविद्यादि द्वादशाङ्ग का अनुलोमात्मक ज्ञान समुदय अर्थात् उत्पत्ति को बतलाता है जबकि प्रतिलोम ज्ञान निरोध का निरूपण करता है। भरतसिंह उपाध्याय का मानना है कि अनुलोम और प्रतिलोम के मार्ग से क्रमश: समुदय और निरोध का निरूपण करता हुआ यह कार्यकारण भाव रूप नियम अर्थात् प्रतीत्यसमुत्पाद भगवान् के द्वारा विशेषत: दु:ख के समुदय और निरोध को समझाने के लिये ही सिखाया गया है।[35]

गौतम बुद्ध संसार में व्याप्त दु:खों का अन्त करने की शिक्षा देते हैं। बुद्ध ने सारनाथ स्थित ऋषिपत्तन (इसिपत्तन) के मृगदाय वन में कौण्डिन्य, वप्प, भद्दिय, महानाम तथा अश्वजित नामक पञ्चवर्गीय भिक्षुओं को दु:ख, दु:ख-समुदय, दु:ख निरोध एवं दु:ख निरोधगामिनी प्रतिपदा इन चार आर्यसत्यों[36] की देशना दी, जिसे बौद्ध साहित्य में धर्मचक्रप्रवर्तन (धम्मचक्कपवत्तन) कहा जाता है। चार आर्यसत्यों का वर्णन निम्न हैं -

दु:ख :- दु:ख प्रथम आर्य सत्य है। इसकी व्याख्या करते हुये बुद्ध ने कहा है कि "हे भिक्षुओं! दु:ख आर्य सत्य है- जन्म भी दु:ख है, जरा अर्थात् वृद्धावस्था भी दु:ख है, मरण भी दु:ख है, अप्रिय व्यक्तियों का संयोग दु:ख है, प्रिय व्यक्ति के साथ वियोग भी दु:ख है, इच्छित वस्तु की प्राप्ति न होना भी दु:ख है, संक्षेप में समस्त भौतिक-अभौतिक पदार्थ अर्थात् पाँचों उपादान स्कन्ध भी दु:ख हैं।[37]

पाँच उपादानस्कन्ध से आशय रूप, वेदना, सञ्ज्ञा, संस्कार और विज्ञान से है। इनमें से पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु- इन चार भौतिक तत्त्वों का परिणाम यह रूप उपादान स्कन्ध है, जिसे शरीर कहते हैं। कोई व्यक्ति वस्तुओं या उनके विचार के सम्पर्क में आने पर जो सुख, दु:ख या

---

[35] *बौ.द.अ.भा.द.*, I, पृ. 389

[36] चार आर्यसत्य हैं- दु:ख, दु:ख समुदय, दु:ख निरोध और दु:ख निरोध का मार्ग। "दुक्खे अरियसच्चे, दुक्खसमुदये अरियसच्चे, दुक्खनिरोधे अरियसच्चे, दुक्खनिरोधगामिनिया पटिपदाय अरियसच्चे।'' *म.नि.*, 1/3/8, पृ. 245

[37] इदं खो पन, भिक्खवे, दुक्खं अरियसच्चं - जातिपि दुक्खा, जरापि दुक्खा, ब्याधिपि दुक्खो, मरणम्पि दुक्खं, अप्पियेहि सम्पयोगो दुक्खो, पियेहि विप्पयोगो दुक्खो, यम्पिच्छं न लभति तम्पि दुक्खं, सङ्खित्तेन पञ्चुपादानक्खन्धापि दुक्खा। *वि.पि*, महावग्ग, 1/6, पृ. 14; *सं.नि.*, 5/12/2/1, पृ. 485

अनुभय के रूप में जो अनुभव करता है, वह वेदना स्कन्ध कहलाता है। वेदना के बाद मस्तिष्क पर पहले से ही अंकित संस्कारों द्वारा जो अभिज्ञान होता है वह सञ्ज्ञा कहलाता है। रूपों की वेदनाओं और सञ्ज्ञाओं का जो संस्कार मस्तिष्क पर पड़ा है और जिसकी सहायता से पहचान की जाती है वह संस्कार स्कन्ध कहलाता है। चेतना या मन को विज्ञान स्कन्ध कहते हैं। ये पाँचों स्कन्ध जब व्यक्ति की तृष्णा के विषय होकर पास आते हैं, तो इन्हें ही उपादान स्कन्ध कहते हैं। गौतम बुद्ध ने इन पाँचों उपादान स्कन्धों को दुःख रूप कहा है।

दुःखसमुदय :- यह द्वितीय आर्य सत्य है। इस आर्यसत्य में प्रयुक्त 'समुदय' शब्द का अर्थ कारण है। द्वितीय आर्यसत्य से आशय दुःख के कारण से है। गौतम बुद्ध केवल दुःखों की देशना करके शान्त नहीं होते, अपितु उसके कारण की भी व्याख्या करते हैं। बुद्ध ने दुःख का कारण तृष्णा को बताया है। दुःखसमुदय पर बुद्ध कहते हैं, "हे भिक्षुओं यह दुःखसमुदय आर्य सत्य है- यह जो पुनर्जन्म लेने की, रागसहित जहाँ-तहाँ प्रसन्न होने की तृष्णा है, वह इस प्रकार है- कामतृष्णा, भवतृष्णा और विभवतृष्णा।"[38] कामतृष्णा से आशय विभिन्न प्रकार के विषयों की इच्छाओं से है। भव का आशय संसार से है, अतःएव संसार की सत्ता बनाये रखने वाली तृष्णा भवतृष्णा है। विभव भवतृष्णा का विपरीत है। संसार के नाश की इच्छा विभवतृष्णा है।

दुःखनिरोध :- यह तृतीय आर्यसत्य है। जब संसार में दुःख है और उसका कारण है, तो उस कारण को रोका भी जा सकता है अर्थात् निरोध किया जा सकता है। दुःख का मूल कारण तृष्णा है। तृष्णा के निरोध से ही दुःखनिरोध सम्भव है। स्वयं गौतम बुद्ध ने दुःखनिरोध को इस प्रकार बताया है- "हे भिक्षुओं ! यह दुःखनिरोध आर्य सत्य है - यह उस तृष्णा से पूर्ण वैराग्य है। उसका निरोध, त्याग, प्रतिनिःसर्ग, मुक्ति और अनालय है।"[39]

---

[38] इदं खो पन, भिक्खवे, दुक्खसमुदयं अरियसच्चं - यायं तण्हा पोनोब्भविका नन्दीरागसहगता तत्रतत्राभिनन्दिनी, सेय्यथिदं – कामतण्हा भवतण्हा विभवतण्हा। *वि.पि,* महावग्ग, 1/6, पृ. 14 ; *सं.नि.*, 5/12/2/1, पृ. 485

[39] इदं खो पन, भिक्खवे, दुक्खनिरोधं अरियसच्चं- यो तस्सायेव तण्हाय असेसविरागनिरोधो चागो पटिनिस्सग्गो मुत्ति अनालयो। वही

दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदा :- यह चतुर्थ आर्यसत्य है। गौतम बुद्ध ने दुःखों के निरोध की ओर ले जाने वाले पथ की देशना दी। तथागत ने इस मार्ग को इस प्रकार बताया है- "हे भिक्षुओं! यह दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदा आर्य सत्य है। इसी को आर्य अष्टांगिक मार्ग कहते हैं। ये आठ अङ्ग इस प्रकार हैं- सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीविका, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि।[40]

बुद्ध ने दुःखनिरोध के लिए यह अष्टाङ्ग मार्ग बतलाया है, जिसे आर्याष्टाङ्गिक मार्ग कहा जाता है। इस मार्ग पर चलकर प्राणी समस्त दुःखों का निरोध कर निर्वाण पद को प्राप्त कर सकता है। इनमें से प्रथम सम्यक् दृष्टि है, जिसका आशय है- चारों आर्यसत्यों अर्थात् दुःख, दुःख के कारण, दुःख निरोध तथा दुःख निरोध के उपाय का ज्ञान।[41] जब दृष्टि सम्यक् होती है, तो संकल्प अर्थात् निश्चय भी सम्यक् ही होता है। सम्यक् संकल्प से आशय है - निष्कर्मता का संकल्प, अद्रोह का संकल्प तथा अहिंसा का संकल्प।[42] यदि कोई व्यक्ति अनासक्त भाव से परस्पर भेद-भाव तथा हिंसा रहित कर्म करने का संकल्प करे, तो इससे विभिन्न प्रकार के गर्हित कर्मों पर प्रतिबन्ध लगेगा।

मन में सम्यक् निश्चय कर लेने पर वाणी भी सम्यक् हो जाती है। सम्यक् वचन से आशय है- झूठ न बोलना, चुगली न करना, कटु वचन न बोलना तथा वितण्डावाद न करना।[43] सम्यक् वचन बोलने वाला मनुष्य कभी भी कुमार्ग की ओर ले जाने वाली बात नहीं करता।

---

[40] इदं खो पन, भिक्खवे, दुक्खनिरोधगामिनी पटिपदा अरियसच्चं- अयमेव अरियो अट्ठङ्गिको मग्गो, सेय्यथिदं – सम्मादिट्ठि सम्मासङ्कप्पो सम्मावाचा सम्माकम्मन्तो सम्माआजीवो सम्मावायामो सम्मासति सम्मासमाधि। *वि.पि,* महावग्ग, 1/6, पृ. 14 ; *सं.नि.*, 5/12/2/1, पृ. 485

[41] ''कतमा च, भिक्खवे, सम्मादिट्ठि? यं खो, भिक्खवे, दुक्खे ञाणं, दुक्खसमुदये ञाणं, दुक्खनिरोधे ञाणं, दुक्खनिरोधगामिनिया पटिपदाय ञाणं, अयं वुच्चति, भिक्खवे, सम्मादिट्ठि। *दी.नि.*, 2/9, पृ. 233

[42] ''कतमो च, भिक्खवे, सम्मासङ्कप्पो? नेक्खम्मसङ्कप्पो अब्यापादसङ्कप्पो अविहिंसासङ्कप्पो, अयं वुच्चति भिक्खवे, सम्मासङ्कप्पो। वही, पृ. 234

[43] ''कतमा च, भिक्खवे, सम्मावाचा? मुसावादा वेरमणी पिसुणाय वाचाय वेरमणी फरुसाय वाचाय वेरमणी सम्फप्पलापा वेरमणी, अयं वुच्चति, भिक्खवे, सम्मावाचा। वही, पृ. 234

हिंसा, चोरी तथा व्यभिचार का त्याग ही सम्यक् कर्मान्त कहलाता है।[44] इससे मानव पाप कर्म से ऊपर उठता है और सदाचारी बनता है। आर्यश्रावक मिथ्या-आजीविका को त्यागकर सम्यक् आजीविका को स्वीकार करता है।[45] आजीविका का निर्धारण मनुष्य को आदर्श तथा पवित्रता को देखकर करना चाहिये। यह आजीविका समाज के लिए अहितकारी, उत्तेजक या अशोभनीय नहीं होनी चाहिये, बल्कि सज्जनोचित एवं शोभनीय होनी चाहिये।

अष्टाङ्गिक मार्ग में छठे स्थान पर सम्यक् व्यायाम है। यहाँ व्यायाम शब्द का अर्थ शारीरिक श्रम, व्यायाम या आसन नहीं बल्कि उद्योग या मानसिक प्रयत्न है। अनुत्पन्न तथा उत्पन्न पाप अथवा बुराईयों को दूर करने के लिए इच्छा उत्पन्न करना ही सम्यक् व्यायाम है।[46] मानव को प्रत्येक पल प्रयत्न करना चाहिये कि उसके द्वारा किये जाने वाले कृत्य से किसी का अहित नहीं हो।

सम्यक् स्मृति मानव को प्रत्येक पल सजग बनाती है। स्मृति का अर्थ है जागरूकता जिस प्रकार नगर के द्वार पर स्थित द्वारपाल प्रत्येक आगन्तुक पर दृष्टि रखता है और अनर्थकारी तत्त्वों का निवारण करता है। उसी प्रकार सम्यक् स्मृति भी चित्त द्वार पर स्थित होकर अकुशल प्रवेश का निवारण करती है। आध्यात्मिक क्षेत्र में इसका आशय काय, वेदना, चित्त तथा धर्म के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना है।[47] करुणा, मैत्री आदि मनोवृत्तियों पर अथवा जगत् की समस्याओं

---

[44] ‘‘कतमो च, भिक्खवे, सम्माकम्मन्तो? पाणातिपाता वेरमणी अदिन्नादाना वेरमणी कामेसुमिच्छाचारा वेरमणी, अयं वुच्चति, भिक्खवे, सम्माकम्मन्तो। *दी.नि.*, 2/9, पृ. 234

[45] ‘‘कतमो च, भिक्खवे, सम्माआजीवो? इध, भिक्खवे, अरियसावको मिच्छाआजीवं पहाय सम्माआजीवेन जीवितं कप्पेति, अयं वुच्चति, भिक्खवे, सम्माआजीवो। वही, पृ. 234

[46] ‘‘कतमो च, भिक्खवे, सम्मावायामो? इध, भिक्खवे, भिक्खु अनुप्पन्नानं पापकानं अकुसलानं धम्मानं अनुप्पादाय छन्दं जनेति वायमति वीरियं आरभति चित्तं पग्गण्हाति पदहति; उप्पन्नानं पापकानं अकुसलानं धम्मानं पहानाय छन्दं जनेति वायमति वीरियं आरभति चित्तं पग्गण्हाति पदहति; अनुप्पन्नानं कुसलानं धम्मानं उप्पादाय छन्दं जनेति वायमति वीरियं आरभति चित्तं पग्गण्हाति पदहति; उप्पन्नानं कुसलानं धम्मानं ठितिया असम्मोसाय भिय्योभावाय वेपुल्लाय भावनाय पारिपूरिया छन्दं जनेति वायमति वीरियं आरभति चित्तं पग्गण्हाति पदहति; अयं वुच्चति, भिक्खवे, सम्मावायामो। वही, पृ. 234

[47] इध, भिक्खवे, भिक्खु काये कायानुपस्सी विहरति आतापी सम्पजानो सतिमा विनेय्य लोके अभिज्झादोमनस्सं; वेदनासु वेदनानुपस्सी विहरति आतापी सम्पजानो सतिमा विनेय्य लोके अभिज्झादोमनस्सं; चित्ते चित्तानुपस्सी विहरति आतापी सम्पजानो सतिमा विनेय्य लोके अभिज्झादोमनस्सं; धम्मेसु धम्मानुपस्सी विहरति आतापी सम्पजानो सतिमा विनेय्य लोके अभिज्झादोमनस्सं। अयं वुच्चति, भिक्खवे, सम्मासति। वही, पृ. 234

पर चित्त को एकाग्र करके समाधान प्राप्त करने के लिए ध्यान का सम्पादन करना ही सम्यक् समाधि है। कुशल चित्त की एकाग्रता को ही समाधि कहा जाता है।

1.4. प्रतीत्यसमुत्पाद की चतुर्विधा देशना

प्रतीत्यसमुत्पाद को अविद्यादि बारह अङ्गों (प्रत्ययों) के द्वारा व्याख्यायित किया जाता है, अतः एव इसे द्वादशाङ्ग प्रतीत्यसमुत्पाद भी कहा जाता है। क्या शास्ता ने सम्पूर्ण त्रिपिटक में प्रतीत्यसमुत्पाद का विवेचन द्वादशाङ्ग प्रत्ययों के आधार पर किया है? त्रिपिटक के विभिन्न सन्दर्भों के आधार पर यह कहना सम्भव नहीं है कि शास्ता द्वारा सर्वत्र द्वादशाङ्ग का नामोल्लेख किया गया है।

प्रत्ययों की निश्चित सङ्ख्या अथवा क्रम के विषय में त्रिपिटक में किसी निश्चित नियम का अभाव दिखाई देता है। गौतम बुद्ध ने अनेक पर्यायों से प्रतीत्यसमुत्पाद का उपदेश दिया है । भरतसिंह उपाध्याय का मानना है कि शास्ता की कारुणिकता ही विभिन्न प्रकार के उपदेशों और पुनरुक्ति के लिये उत्तरदायी है।[48] गौतम बुद्ध ने प्रतीत्यसमुत्पाद की चार प्रकार से देशना की है। आचार्य बुद्धघोष ने त्रिपिटकों के विभिन्न सन्दर्भों के आधार पर प्रतीत्यसमुत्पाद की इन चारों देशनाओं का विवरण *विसुद्धिमग्ग* के सत्रहवें परिच्छेद 'प्रज्ञाभूमि-निर्देश' में दिया है। बुद्धघोष ने देशना के इन भेदों की तुलना लता को काटकर लाने वाले चार विभिन्न मनुष्यों द्वारा लता को पकड़ने के चार भिन्न-भिन्न तरीकों से की है।

प्रथम देशना – प्रथम देशना के अनुसार बुद्धघोष का मानना है कि जैसे लता लाने वाले चार मनुष्यों में से एक लता की जड़ का पहले दर्शन करता है तथा जड़ से काटकर, सब ओर से आकृष्ट कर, उसे काम में लाता है, वैसे ही भिक्षु अविद्या का सर्वप्रथम दर्शन करता है। अविद्या के प्रत्यय से संस्कार, संस्कारों के प्रत्यय से विज्ञान, विज्ञान के प्रत्यय से नामरूप, नामरूप के प्रत्यय से षडायतन, षडायतन के प्रत्यय से स्पर्श, स्पर्श के प्रत्यय से वेदना, वेदना के प्रत्यय से तृष्णा, तृष्णा

[48] *बौ.द.भा.द.*, I, पृ. 390

के प्रत्यय से उपादान, उपादान के प्रत्यय से भव, भव के प्रत्यय से जाति, जाति के प्रत्यय से जरा-मरणादि उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार शास्ता अविद्या के प्रारम्भ से लेकर जरामरणादि अन्त तक प्रतीत्यसमुत्पाद का उपदेश देते हैं।[49] यह प्रतीत्यसमुत्पाद का अनुलोमात्मक ज्ञान है।

विनयपिटक के महावग्ग के महाखन्धक के बोधिकथा (3/1/1); *सुत्तपिटक* के *संयुत्तनिकाय* के निदानवग्ग के निदानसंयुत्त के पटिच्चसमुप्पादसुत्त (2/1/1) एवं विभङ्गसुत्त (2/1/2); *खुद्दकनिकाय* के ग्रन्थ *उदान* के बोधिवग्ग के पठमबोधिसुत्त (1/1); *मज्झिमनिकाय* के महातण्हासङ्खयसुत्त (1/4/8), बहुधातुकसुत्त (3/2/5); *अभिधम्मपिटक* के अन्तर्गत *धम्मसङ्गणी* के निक्खेपकण्ड के सुत्तन्तिदुक्खनिक्खेप, *विभङ्ग* के पटिच्चसमुप्पादविभङ्ग के सुत्तन्तभाजनीयं (6/1) इन पालि सन्दर्भों में प्रतीत्यसमुत्पाद की प्रथम देशना देखी जा सकती है।

द्वितीय देशना – द्वितीय देशना के अनुसार यदि कोई मनुष्य लता के मध्य भाग को पहले देखता है, तो वह मध्य भाग को काटकर, ऊपरी भाग को खींचकर प्रयोग में लाता है। वैसे ही यदि कोई भिक्षु वेदना (सातवा अङ्ग) का अभिनन्दन करता है, उसको कहता है तथा उसमें प्रविष्ट होकर रहता है, तो उसे नन्दी (अनुराग) उत्पन्न होती है। जो वेदनाओं में नन्दी है, वही उपादान है। उस उपादान के प्रत्यय से भव, भव प्रत्यय से जन्म होता है - ऐसा मध्य से लेकर अन्त तक भी उपदेश देते हैं।[50] इस प्रकार द्वितीय देशना भेद में तथागत द्वारा सातवें प्रत्यय से लेकर बारहवें प्रत्यय तक की देशना भी प्राप्त होती है।

मज्झिमनिकाय के महातण्हासङ्खयसुत्त (1/4/8); *संयुत्तनिकाय* के निदानवग्ग के निदानसंयुत्त में दूसरी प्रकार की देशना देखी जा सकती है।

---

[49] यथा हि वल्लिहारकेसु चतूसु पुरिसेसु एको वल्लिया मूलमेव पठमं पस्सति, सो तं मूले छेत्वा सब्बं आकड्ढित्वा आदाय कम्मे उपनेति, एवं भगवा ‘‘इति खो, भिक्खवे, अविज्जापच्चया सङ्खारा…पे॰… जातिपच्चया जरामरण’’न्ति आदितो पट्ठाय याव परियोसानापि पटिच्चसमुप्पादं देसेति। *वि.म.*, 2/17, पृ. 152-53

[50] तेसु पुरिसेसु एको वल्लिया मज्झं पठमं पस्सति, सो मज्झे छिन्दित्वा उपरिभागञ्चेव आकड्ढित्वा आदाय कम्मे उपनेति, एवं भगवा ‘‘तस्स तं वेदनं अभिनन्दतो अभिवदतो अज्झोसाय तिट्ठतो उप्पज्जति नन्दी। या वेदनासु नन्दी, तदुपादानं। तस्सुपादानपच्चया भवो, भवपच्चया जाती’’ति मज्झतो पट्ठाय याव परियोसानापि देसेति। वही, पृ. 153

तृतीय देशना – तृतीय देशना के अनुसार यदि कोई मनुष्य लता के अग्र भाग को पहले देखता है, तो वह अग्रभाग को पकड़कर, ऊपरी भाग से लेकर जड़ तक को खींचकर प्रयोग में लाता है। शास्ता ने अन्तिम प्रत्यय जरामरण से लेकर प्रथम प्रत्यय अर्थात् अविद्या तक का उपदेश दिया है।[51] *संयुत्तनिकाय* के निदानसंयुत्त के पच्चयसुत्त (2/1/10) एवं *मज्झिमनिकाय* के महातण्हासङ्ख्यसुत्त (1/4/8) में तीसरी प्रकार की देशना देखी जा सकती है।

चतुर्थ देशना – चतुर्थ देशना के अनुसार यदि कोई मनुष्य लता के मध्य भाग को पहले देखता है, तो वह मध्य में से काटकर, जड़ तक लेकर काम में लाता है। विसुद्धिमग्गकार ने *संयुत्तनिकाय* के निदानसंयुत्त के आहारवग्ग के आहारसुत्त की कुछ पङ्क्तियों को उद्धृत करते हुये कहा है कि इन चारों आहारों का निदान (हेतु) क्या है? समुदय क्या है? ये किससे जन्मे हैं या सम्भूत हैं? स्वयं ही गौतम बुद्ध उत्तर देते हुये कहते हैं कि (मुँह भरा कौर अथवा सूक्ष्म आहार, स्पर्श रूपी द्वितीय आहार, मानसिक चेतना रूपी तृतीय आहार तथा विज्ञान रूपी चतुर्थ आहार) चारों आहारों का निदान तृष्णा है। तृष्णा से जन्म या सम्भूत हैं। पुनः इस तृष्णा का निदान क्या है? इस प्रकार क्रमशः वेदना, स्पर्श, षडायतन, नामरूप, विज्ञान, संस्कार और अन्तिम अविद्या तक पहुँचते हैं। इस प्रकार बीच से लेकर प्रारम्भ तक उपदेश देते हैं।[52] इस प्रकार चौथी देशना के अनुसार आठवें प्रत्यय से प्रतिलोम क्रम में प्रत्यय-परम्परा अविद्या तक पहुँचती है।

यह *संयुत्तनिकाय* के निदानसंयुत्त के आहारवग्ग के आहारसुत्त (2/2/1) एवं *मज्झिमनिकाय* के महातण्हासङ्ख्यसुत्त (1/4/8) में प्रतीत्यसमुत्पाद सम्बन्धी चतुर्थ देशना को देखा जा सकता है।

---

[51] यथा च तेसु पुरिसेसु एको वल्लिया अग्गं पठमं पस्सति, सो अग्गे गहेत्वा अग्गानुसारेन याव मूला सब्बं आदाय कम्मे उपनेति, एवं भगवा ‘‘जातिपच्चया जरामरणन्ति इति खो पनेतं वुत्तं, जातिपच्चया नु खो, भिक्खवे, जरामरणं नो वा कथं वो एत्थ होतीति? जातिपच्चया, भन्ते, जरामरणं। एवं नो एत्थ होति जातिपच्चया जरामरणन्ति। भवपच्चया जाति…पे॰… अविज्जापच्चया सङ्खाराति इति खो पनेतं वुत्तं, अविज्जापच्चया नु खो, भिक्खवे, सङ्खारा नो वा कथं वो एत्थ होती’’ति (*म. नि.*, 1/403) परियोसानतो पट्ठाय याव आदितोपि पटिच्चसमुप्पादं देसेति। *वि.म.*, 2/17, पृ. 153

[52] यथा पनेतेसु पुरिसेसु एको वल्लिया मज्झमेव पठमं पस्सति, सो मज्झे छिन्दित्वा हेट्ठा ओतरन्तो याव मूला आदाय कम्मे उपनेति, एवं भगवा ‘‘इमे च, भिक्खवे, चत्तारो आहारा किन्निदाना, किंसमुदया, किंजातिका, किंपभवा? इमे चत्तारो आहारा तण्हानिदाना, तण्हासमुदया, तण्हाजातिका, तण्हापभवा। तण्हा किन्निदाना… वेदना… फस्सो… सळायतनं… नामरूपं… विञ्ञाणं… सङ्खारा किन्निदाना…पे॰… सङ्खारा अविज्जानिदाना…पे॰… अविज्जापभवा’’ति मज्झतो पट्ठाय याव आदितो देसेति। वही, पृ. 153

अन्य प्रकार की देशनायें – उपर्युक्त चतुर्विध देशना के इतर त्रिपिटक के विभिन्न सन्दर्भों से प्रतीत्यसमुत्पाद का अनेक प्रकार से वर्णन प्राप्त होता है। तृतीयाङ्ग (विज्ञान) से द्वादशाङ्ग (जरा-मरण) तक की देशना के सन्दर्भ *संयुत्तनिकाय* के अन्तर्गत निदानसंयुत्त के गहपतिवग्ग में प्राप्त होते हैं। वहाँ लोकसुत्त[53] में लोक की उत्पत्ति के सन्दर्भ में अनुलोमात्मक एवं अरियासावकसुत्त[54] में लोक के समुदय तथा निरोध सम्बन्धी अनुलोमात्मक-प्रतिलोमात्मक वर्णन मिलता है। *संयुत्तनिकाय* के ही निदानसंयुत्त के गहपतिवग्ग के दुक्खसुत्त में पञ्चमाङ्ग (षडायतन) से अष्टमाङ्ग (तृष्णा) तक प्रतीत्यसमुत्पाद की देशना मिलती है।[55]

दीघनिकाय के महानिदानसुत्त में प्रतीत्यसमुत्पाद की अनुलोमात्मक देशना के अन्तर्गत कड़ियां 1-2, 2-3 तथा 4-5 छोड़ दी गयी है। वहाँ विज्ञान से नामरूप, नामरूप से स्पर्श, स्पर्श से वेदना, वेदना से तृष्णा, तृष्णा से उपादान, उपादान से भव, भव से जाति तथा जाति से जरामरणादि का समुदय बताया गया है।[56]

मिलिन्दपञ्ह में प्रतीत्यसमुत्पाद की देशना में पञ्चमाङ्ग (षडायतन) से द्वादशाङ्ग (जरामरणादि) तक का वर्णन मिलता है। नागसेन द्वारा मिलिन्द को संस्कारों की उत्पत्ति के

---

[53] ‘‘कतमो च, भिक्खवे, लोकस्स समुदयो? चक्खुञ्च पटिच्च रूपे च उप्पज्जति चक्खुविञ्ञाणं। तिण्णं सङ्गति फस्सो। फस्सपच्चया वेदना; वेदनापच्चया तण्हा; तण्हापच्चया उपादानं; उपादानपच्चया भवो; भवपच्चया जाति; जातिपच्चया जरामरणं सोकपरिदेवदुक्खदोमनस्सुपायासा सम्भवन्ति। अयं खो, भिक्खवे, लोकस्स समुदयो। *सं.नि.*, 2/1/5/4, पृ. 65

[54] विञ्ञाणे सति नामरूपं होति; नामरूपे सति सळायतनं होति ; सळायतने सति फस्सो होति; फस्से सति वेदना होति; वेदनाय सति तण्हा होति; तण्हाय सति उपादानं होति; उपादाने सति भवो होति; भवे सति जाति होति; जातिया सति जरामरणं होती’ति। सो एवं पजानाति – ‘एवमयं लोको समुदयती’’’ति। विञ्ञाणे असति नामरूपं न होति; नामरूपे असति सळायतनं न होति…पे॰… भवो न होति… जाति न होति… जातिया असति जरामरणं न होती’ति। सो एवं पजानाति – ‘एवमयं लोको निरुज्झती’’’ति। वही, 2/1/5/9, पृ. 69-70

[55] ‘‘कतमो च, भिक्खवे, दुक्खस्स अत्थङ्गमो? चक्खुञ्च पटिच्च रूपे च उप्पज्जति चक्खुविञ्ञाणं। तिण्णं सङ्गति फस्सो। फस्सपच्चया वेदना; वेदनापच्चया तण्हा। तस्सायेव तण्हाय असेसविरागनिरोधा उपादाननिरोधो; उपादाननिरोधा भवनिरोधो; भवनिरोधा जातिनिरोधो; जातिनिरोधा जरामरणं सोकपरिदेवदुक्खदोमनस्सुपायासा निरुज्झन्ति। एवमेतस्स केवलस्स दुक्खक्खन्धस्स निरोधो होति। अयं खो, भिक्खवे, दुक्खस्स अत्थङ्गमो। वही, 2/1/5/3, पृ. 64

[56] ‘‘इति खो, आनन्द, नामरूपपच्चया विञ्ञाणं, विञ्ञाणपच्चया नामरूपं, नामरूपपच्चया फस्सो, फस्सपच्चया वेदना, वेदनापच्चया तण्हा, तण्हापच्चया उपादानं, उपादानपच्चया भवो, भवपच्चया जाति, जातिपच्चया जरामरणं सोकपरिदेवदुक्खदोमनस्सुपायासा सम्भवन्ति। एवमेतस्स केवलस्स दुक्खक्खन्धस्स समुदयो होति। *दी.नि.*, 2/2, पृ. 44

सन्दर्भ में बतलाते हुये कहा गया है कि चक्षु तथा रूपों के रहने से चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न होता है। चक्षुर्विज्ञान के होने से चक्षुःस्पर्श होता है। उससे वेदना होती है, वेदना से तृष्णा, तृष्णा से उपादान, उपादान से भव, भव से जन्म होता है। जन्म से जरा-मरण, शोक-परिवेदन, दौर्मनस्य इत्यादि दुःख होते हैं।[57]

मिलिन्द नागसेन को दुःखसमुदय के साथ ही दुःख निरोध भी बताता है। चक्षु तथा रूपों के न होने पर चक्षुर्विज्ञान नहीं होता। चक्षुर्विज्ञान के न होने पर चक्षु स्पर्श नहीं होता। चक्षु स्पर्श के न होने पर वेदना नहीं होती। वेदना के न होने पर तृष्णा नहीं होती। तृष्णा के न होने पर उपादान नहीं होता। उपादान के न होने पर भव नहीं होता। भव के न होने पर जाति तथा जाति के न होने पर जरामरणादि दुःख नहीं होते।[58]

प्रतीत्यसमुत्पाद की देशना में इतना वैविध्य क्यों है? शास्ता इस प्रकार के उपदेश क्यों देते हैं? इन प्रश्नों का उत्तर देते हुये बुद्धघोष कहते हैं कि प्रतीत्यसमुत्पाद स्वयं कल्याणकारी है तथा शास्ता स्वयं देशना में निपुण हैं। प्रतीत्यसमुत्पाद कल्याणकारी है क्योंकि उपर्युक्त चतुर्विध देशनाओं से मानव कल्याण-मार्ग को प्राप्त करता है तथा चार वैशारद्य एवं प्रतिसम्भिदाओं से संयुक्त तथा चतुर्विध गाम्भीर्य से युक्त भगवान् बुद्ध देशना में निपुण हैं। अतः देशनाओं में निपुण होने से वे नाना न्यायों से ही धर्मोपदेश करते हैं।[59] प्रतीत्यसमुत्पाद की अविद्या प्रत्यय से लेकर जरामरणादि प्रत्यय तक अनुलोम देशना का उद्देश्य सांसारिक प्रवृत्ति के कारण से मूढ़ हुये

---

[57] ''चक्खुस्मिञ्च खो, महाराज, सति रूपेसु च चक्खुविञ्ञाणं होति, चक्खुविञ्ञाणे सति चक्खुसम्फस्सो होति, चक्खुसम्फस्से सति वेदना होति, वेदनाय सति तण्हा होति, तण्हाय सति उपादानं होति, उपादाने सति भवो होति, भवे सति जाति होति, जातिया सति जरामरणं सोकपरिदेवदुक्खदोमनस्सुपायासा सम्भवन्ति, एवमेतस्स केवलस्स दुक्खक्खन्धस्स समुदयो होति। *मि.प.*, 2/3/4, पृ. 52

[58] चक्खुस्मिञ्च खो, महाराज, असति रूपेसु च असति चक्खुविञ्ञाणं न होति, चक्खुविञ्ञाणे असति चक्खुसम्फस्सो न होति, चक्खुसम्फस्से असति वेदना न होति, वेदनाय असति तण्हा न होति, तण्हाय असति उपादानं न होति, उपादाने असति भवो न होति, भवे असति जाति न होति, जातिया असति जरामरणं सोकपरिदेवदुक्खदोमनस्सुपायासा न होन्ति, एवमेतस्स केवलस्स दुक्खक्खन्धस्स निरोधो होती''ति। वही, पृ. 52-53

[59] कस्मा पनेवं देसेतीति? पटिच्चसमुप्पादस्स समन्तभद्दकत्ता सयञ्च देसनाविलासप्पत्तत्ता। समन्तभद्दको हि पटिच्चसमुप्पादो, ततो ततो ञायपटिवेधाय संवत्ततियेव। देसनाविलासप्पत्तो च भगवा चतुवेसारज्जपटिसम्भिदायोगेन चतुब्बिधगम्भीरभावप्पत्तिया च। सो देसनाविलासप्पत्तत्ता नानानयेहेव धम्मं देसेति। *वि.म.*, 2/17, पृ. 153-54

शिक्षणीय को यथानुरूप उसकी सांसारिक प्रवृत्ति और उत्पत्ति क्रम दिखाना है।[60] जरामरणादि प्रत्यय से लेकर अविद्या तक जो प्रतिलोम देशना है, वह पीड़ाग्रस्त संसार के दुःखों को देखकर, उनके पूर्व-पूर्व भाग के जान लेने पर जरामरणादि दुःखों के कारणों के ज्ञान के लिये हुई है। जो देशना मध्य से लेकर आदि भाग तक है वह भूतकाल से लेकर वर्तमान काल में हेतु-फल की परिपाटी के दर्शनार्थ है। चौथी देशना जो मध्य से लेकर अन्त तक प्रवृत्त होती है वह वर्तमान काल में भविष्यत् काल के हेतु की उत्पत्ति से लेकर भविष्य काल को दिखलाने के लिये हुई है।[61]

1.5 प्रतीत्यसमुत्पाद के द्वादशाङ्ग का विश्लेषण

अविद्या – अविद्या शब्द का सामान्य अर्थ विद्या अथवा ज्ञान के अभाव से लिया जाता है। *विसुद्धिमग्ग* में अज्ञान के लक्षण को अविद्या कहा गया है।[62] पालि साहित्य में अविद्या शब्द एक विशेष अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अविद्या से आशय दुःख, दुःखसमुदय, दुःखनिरोध और दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदा - इन चार आर्यसत्यों के विषय में उत्पन्न अज्ञान से है।[63] अविद्या का कार्य मूढ़ बनाना है, आच्छादन इसका प्रत्युपस्थान है अर्थात् आलम्बन के स्वभाव को आच्छादित करने से यह जानी जाती है। आस्रव इसका पदस्थान अर्थात् निकटस्थ कारण है।[64]

---

[60] विसेसतो पनस्स या आदितो पट्ठाय अनुलोमदेसना, सा पवत्तिकारणविभागसंमूळ्हं वेनेय्यजनं समनुपस्सतो यथासकेहि कारणेहि पवत्तिसन्दस्सनत्थं उप्पत्तिक्कमसन्दस्सनत्थञ्च पवत्ताति विञ्ञातब्बा। *वि.म.*, 2/17, पृ. 154

[61] या परियोसानतो पट्ठाय पटिलोमदेसना, सा ''किच्छं वतायं लोको आपन्नो जायति च जीयति च मीयति च चवति च उपपज्जति चा''तिआदिना नयेन किच्छापन्नं लोकं अनुविलोकयतो पुब्बभागपटिवेधानुसारेन तस्स तस्स जरामरणादिकस्स दुक्खस्स अत्तना अधिगतकारणसन्दस्सनत्थं। या मज्झतो पट्ठाय याव आदि पवत्ता, सा आहारनिदानववत्थापनानुसारेन याव अतीतं अद्धानं अतिहरित्वा पुन अतीतद्धतो पभुति हेतुफलपटिपाटिसन्दस्सनत्थं। या पन मज्झतो पट्ठाय याव परियोसानं पवत्ता, सा पच्चुप्पन्ने अद्धाने अनागतद्धहेतुसमुट्ठानतो पभुति अनागतद्धसन्दस्सनत्थं। तासु या पवत्तिकारणसम्मूळ्हस्स वेनेय्यजनस्स यथासकेहि कारणेहि पवत्तिसन्दस्सनत्थं उप्पत्तिक्कमसन्दस्सनत्थञ्च आदितो पट्ठाय अनुलोमदेसना वुत्ता, सा इध निक्खित्ताति वेदितब्बा। वही, पृ. 154

[62] अञ्ञाणलक्खणा अविज्जा। वही, पृ. 157

[63] यं खो, भिक्खवे, दुक्खे अञ्ञाणं, दुक्खसमुदये अञ्ञाणं, दुक्खनिरोधे अञ्ञाणं, दुक्खनिरोधगामिनिया पटिपदाय अञ्ञाणं। अयं वुच्चति, भिक्खवे, अविज्जा। *सं.नि.*, 2/1/1/2, पृ. 4; दुक्खे अञ्ञाणं, दुक्खसमुदये अञ्ञाणं, दुक्खनिरोधे अञ्ञाणं, दुक्खनिरोधगामिनिया पटिपदाय अञ्ञाणं – अयं वुच्चति ''अविज्जा''। *वि.*, 6/1, पृ. 153

[64] सम्मोहनरसा, छादनपच्चुपट्ठाना, आसवपदट्ठाना। *वि.म.*, 2/17, पृ. 157

अविद्या के सन्दर्भ में आचार्य बुद्धघोष कहते हैं कि कायदुश्चरितादि अप्राप्य है, किन्तु अविद्या उन्हें प्राप्त करती है तथा इसके विपरीत कायसुचरितादि प्राप्य है, किन्तु अविद्या उन्हें अप्राप्य बनाती है। अतःएव अप्राप्त को प्राप्य और प्राप्त को अप्राप्य जो बनाती है, उसे अविद्या कहा जाता है। स्कन्धों के राशि होने, आयतनों के आयतन होने, धातुओं के शून्य होने, इन्द्रियों के अधिपति होने और चार आर्यसत्यों के सत्य होने की बात को प्रकट नहीं करती एवं दुःखादि जो पीड़ादायक हैं, उन्हें अविदित रखती है, अतःएव अविद्या कहलाती है। अन्तरहित संसार में सभी योनि, गति, भव, विज्ञान की स्थिति, सत्त्वों को उनके आवासों में यह अविद्या दौड़ाती है। यह अविद्या परमार्थतः अविद्यमान स्त्री-पुरुषों में दौड़ती है तथा विद्यमान स्कन्धादि में नहीं दौड़ती। चक्षुर्विज्ञानादि के आलम्बनों, प्रतीत्यसमुत्पाद और प्रतीत्यसमुत्पन्न धर्मों को आवृत्त करने का कारण भी अविद्या है।[65]

यह अविद्या साङ्ख्याचार्यों की प्रकृति की भाँति संसार का मूल कारण नहीं है, अपितु आस्रवों के समुदय से ही इसका समुदय होता है।[66] यह अविद्या स्वयं अनित्य, संस्कृत और प्रतीत्यसमुत्पन्न है। यह प्रत्ययों से उत्पन्न होने वाली और प्रत्ययों से निरूद्ध होने वाली है। यद्यपि तथागत ने आस्रवों के समुदय से अविद्या का समुदय तथा आस्रवों के निरोध से अविद्या का निरोध बतलाया है[67] तथापि अविद्या के आदि कारण का पता लगाना अत्यन्त दुष्कर है। अविद्या अनादि है। बौद्ध दर्शन के अनुसार यह संसार अनादि है तथा इसके आरम्भ अर्थात् पूर्वकोटि का ज्ञान प्राप्त नहीं

---

[65] पूरेतुं अयुत्तट्ठेन कायदुच्चरितादि अविन्दियं नाम, अलद्धब्बन्ति अत्थो। तं अविन्दियं विन्दतीति अविज्जा। तब्बिपरीततो कायसुचरितादि विन्दियं नाम, तं विन्दियं न विन्दतीति अविज्जा। खन्धानं रासट्ठं, आयतनानं आयतनट्ठं, धातूनं सुञ्ञट्ठं, इन्द्रियानं अधिपतियट्ठं, सच्चानं तथट्ठं अविदितं करोतीतिपि अविज्जा। दुक्खादीनं पीळनादिवसेन वुत्तं चतुब्बिधं अत्थं अविदितं करोतीतिपि अविज्जा। अन्तविरहिते संसारे सब्बयोनिगतिभवविञ्ञाणट्ठितिसत्तावासेसु सत्ते जवापेतीति अविज्जा। परमत्थतो अविज्जमानेसु इत्थिपुरिसादीसु जवति, विज्जमानेसुपि खन्धादीसु न जवतीति अविज्जा। अपिच चक्खुविञ्ञाणादीनं वत्थारम्मणानं पटिच्चसमुप्पादपटिच्चसमुप्पन्नानञ्च धम्मानं छादनतोपि अविज्जा। *वि.म.*, 2/17, पृ. 155-56

[66] कस्मा पनेत्थ अविज्जा आदिनो वुत्ता? किं पतिवादीनं पकति विय अविज्जापि अकारणम् मूलकारणं लोकस्साति? न अकारणं। "आसव समुदया अविज्जा समुदयोति हि अविज्जाय कारण वृत्तं। वही, पृ. 154

[67] आसवसमुदया अविज्जासमुदयो, आसवनिरोधा अविज्जानिरोधो...। *म.नि.*, 1/1/9, पृ. 69

किया जा सकता।[68] संसार के आदि ज्ञान के सदृश अविद्या के आदि कारण को जानना भी दुष्कर है। इसलिये गौतम बुद्ध ने अविद्या के सन्दर्भ में कहा है कि अविद्या के आरम्भ का पता नही चलता, जिससे यह कहा जा सके कि इससे पहले अविद्या नहीं थी अथवा इसके बाद उत्पन्न हुई।[69] अविद्या से ग्रसित मनुष्य जब यह नही देख पाता कि दु:ख का स्वरूप क्या है, दु:ख का कारण क्या है, उसका निवारण क्या है तथा उसके निवारण का उपाय क्या है, तो वह निश्चय ही बार-बार नाना योनियों में जन्म-मरण के आवागमन रूपी चक्र में फंसा रहता है। *दीघनिकाय* के महापरिनिब्बानसुत्त में तथागत ने कहा है कि चारों आर्यसत्यों के अननुबोध अर्थात् ज्ञान न होने से इस प्रकार दीर्घकाल से मेरा और तुम्हारा यह आवागमन अर्थात् जन्म और मरण हो रहा है।[70] इन चारों आर्यसत्यों के सम्यक् प्रकार से दर्शन से भवनेत्री नष्ट हो जाती है, दु:ख की जड़ कट जाती है तथा आवागमन रुक जाता है।[71]

संस्कार - अविद्या प्रत्यय से संस्कार होते हैं।[72] ये संस्कार क्या है? अभिसंस्करण के लक्षण वाले संस्कार हैं। संग्रह करना संस्कार का कार्य है, चेतना से संस्कार को जाना जाता है तथा अविद्या इनका पदस्थान है।[73] संस्कार से आशय उन कुशल और अकुशल कायिक, वाचिक और मानसिक चेतनाओं से है, जो पुनर्जन्म का कारण बनती है। जिन्हें मानसिक वासना भी कहा जा सकता है। या अधिक विस्तृत अर्थ में जीवन के भौतिक और मानसिक तत्त्वों का सम्मिलित नाम ही संस्कार है। पूर्वजन्मों के कर्मों की प्रवृत्ति के रूप में संस्कार को माना जाता है।

---

[68] अनमततग्गोयं भिक्खवे संसारो पुब्बकोटि न पञ्ञायति...। *कथावत्थुपाळि,* धम्मगिरि-पालि-ग्रन्थमाला, इगतपुरी: विपश्यना विशोधन विन्यास, प्रथम आवृत्ति, 1998, 1/11, पृ. 34

[69] पुरिमा भिक्खवे कोटि न पञ्ञायति अविज्जाय, इतो पुवे अविज्जा नाहोसि, अथ पच्छा समभवीति। *वि.म.*, 2/17, पृ. 154

[70] ‘‘चतुन्नं, भिक्खवे, अरियसच्चानं अननुबोधा अप्पटिवेधा एवमिदं दीघमद्धानं सन्धावितं संसरितं ममञ्चेव तुम्हाकञ्च। *दी.नि.*, 2/3, पृ. 71

[71] तानि एतानि दिट्ठानि, भवनेत्ति समूहता। उच्छिन्नं मूलं दुक्खस्स, नत्थि दानि पुनब्भवो’’ति॥ वही, पृ. 71

[72] अविज्जापच्चया सङ्खारा। *वि.पि.*, महावग्ग, 1/1/1, पृ. 1; *सं.नि.*, 2/1/1/1, पृ. 2; उ., 1/3, पृ. 71

[73] अभिसङ्खरणलक्खणा सङ्खारा, आयूहनरसा, चेतनापच्चुपट्ठाना, अविज्जापदट्ठाना। *वि.म.*, 2/17, पृ. 157

संस्कार दो प्रकार के होते हैं- प्रथम अविद्या के प्रत्यय से संस्कार और द्वितीय संस्कार शब्द से आया हुआ संस्कार। अविद्या के प्रत्यय से उत्पन्न संस्कार के छः भेद हैं – पुण्यभिसंस्कार, अपुण्यभिसंस्कार, आनेञ्याभिसंस्कार, काय संस्कार, वाक् संस्कार और चित्त संस्कार। ये सभी लौकिक कुशल, अकुशल चेतना मात्र ही होते हैं। संस्कार शब्द से आये संस्कार चार प्रकार के हैं – संस्कृत संस्कार, अभिसंस्कृत संस्कार, अभिसंस्करणक संस्कार और प्रयोगाभिसंस्कार।[74]

अविद्या के प्रत्यय से संस्कार - पुण्याभिसंस्कार से आशय दानादि आठ कामावचर की कुशल चेतनाओं तथा ध्यानादि पाँच रूपावचर कुशल चेतनाओं से है।[75] कामावचर की आठ कुशल चेतनायें हैं- दान, शील, भावना, बड़ों का सत्कार करना (अपचायन), माता-पिता, अतिथि रोगी आदि की सेवा करना (वेय्यावच्च), अपने पुण्यों में से दूसरे को दान देना (पत्तिदान), दूसरों द्वारा प्रदत्त पुण्य का अनुमोदन (पत्तानुमोदन) और धम्म को सुनना। वितर्क, विचार, प्रीति, सुखेकाग्रता एवं उपेक्षा एकाग्रता रूपी भावनामयी पञ्चविध ध्यानों को पाँच कुशल रूपावचर चेतना कहते हैं। अपुण्याभिसंस्कार से आशय प्राणातिपात आदि बारह अकुशल चेतनाओं से है।[76] ये बारह अकुशल चेतनायें हैं- प्राणी मात्र की हिंसा, बिना दिये ग्रहण करना अर्थात् चोरी करना, कामेसुमिच्छाचार, मृषावाद, पिशुणवाचा अर्थात् चुगलखोरी करना, परुषवाचा, सम्फप्पलाप अर्थात् व्यर्थालाप, अभिज्झा अर्थात् दूसरे की वस्तु के प्रति लोभ, व्यापाद अर्थात् किसी को हानि पहुँचाना, मिथ्यादृष्टि आदि। भावना के अनुसार उत्पन्न होने वाली चार अरूपावचर की कुशल चेतनायें ही आनेञ्याभिसंस्कार है।[77] ये निम्न हैं-

---

[74] सङ्खतमभिसङ्खरोन्तीति सङ्खारा। अपिच अविज्जापच्चया सङ्खारा, सङ्खारसद्देन आगतसङ्खाराति दुविधा सङ्खारा। तत्थ पुञ्ञापुञ्ञानेञ्जाभिसङ्खारा तयो, कायवचीचित्तसङ्खारा तयोति इमे छअविज्जापच्चया सङ्खारा। ते सब्बेपि लोकियकुसलाकुसलचेतनामत्तमेव होन्ति। सङ्खतसङ्खारो, अभिसङ्खतसङ्खारो, अभिसङ्खरणकसङ्खारो, पयोगाभिसङ्खारोति इमे पन चत्तारो सङ्खार-सद्देन आगतसङ्खारा। *वि.म.*, 2/17, पृ. 156

[75] पुञ्ञाभिसङ्खारो दानसीलादिवसेन पवत्ता अट्ठ कामावचरकुसलचेतना चेव भावनावसेन पवत्ता पञ्च रूपावचरकुसलचेतना चाति तेरस चेतना होन्ति। वही, पृ. 159

[76] अपुञ्ञाभिसङ्खारो पाणातिपातादिवसेन पवत्ता द्वादस अकुसलचेतना। वही, पृ. 159

[77] आनेञ्जाभिसङ्खारो भावनावसेनेव पवत्ता चतस्सो अरूपावचरकुसलचेतना। वही, पृ. 159

- आकासानञ्चायतन कुसल चित्त अर्थात् आकाश अनन्त आयतन कुशल चित्त। आकाश की अनन्तता का वह क्षेत्र जो प्रथम अरूप ध्यान वाले चित्त का आलम्बन रहता है।

- विञ्ञाणञ्चायतन कुसल चित्त अर्थात् विज्ञान आयतन कुशल चित्त। विज्ञान के क्षेत्र को चित्त का आलम्बन बनाने वाला द्वितीय अरूप ध्यान।

- आकिञ्चञ्ञायतन कुसल चित्त अर्थात् अकिञ्चन आयतन कुशल चित्त। अनन्त विज्ञान के अकिञ्चनभाव को चित्त का आलम्बन बनाने वाला तृतीय अरूप ध्यान।

- नेवसञ्ञानासञ्ञायतन कुसल चित्त अर्थात् न सञ्ज्ञा न असञ्ज्ञा आयतन कुशल चित्त। इन्द्रिय को न जानने की मानसिक क्रिया तथा चेतना को न जानने की मानसिक स्थिति को चित्त का आलम्बन बनाने वाला चतुर्थ अरूप ध्यान।

इस प्रकार तेरह प्रकार के पुण्याभिसंस्कार, बारह प्रकार के अपुण्याभिसंस्कार एवं चार प्रकार आनेञ्याभिसंस्कार की चेतना कुल उन्तीस प्रकार की होती है। अन्य त्रिविध संस्कार में काय-संचेतना काय संस्कार, वाक्-संचेतना वाक् संस्कार एवं मनो संचेतना चित्त संस्कार कहलाते हैं।[78]

संस्कार शब्द से आये संस्कार – संस्कार शब्द से आये हुये संस्कार चार प्रकार के हैं – संस्कृत संस्कार, अभिसंस्कृत संस्कार, अभिसंस्करणक संस्कार और प्रयोगाभिसंस्कार। सभी संस्कार व्ययधर्मा[79], अनित्य[80] और दुःख स्वरूप हैं।[81] अविद्या प्रत्यय से कहे गये सभी छः संस्कार संस्कृत संस्कार हैं।[82] कर्म से उत्पन्न त्रैभूमिक रूप-अरूप धर्म अभिसंस्कृत संस्कार हैं।[83] त्रैभूमिक कुशल-

---

[78] चाति तयोपि सङ्खारा एकूनतिंस चेतना होन्ति। इतरेसु पन तीसु कायसञ्चेतना कायसङ्खारो, वचीसञ्चेतना वचीसङ्खारो, मनोसञ्चेतना चित्तसङ्खारो। *वि.म.*, पृ. 159-60

[79] वय धम्मा संखारा ..। *दी.नि.*, 2/3, पृ. 93

[80] सब्बे संखारा अनिच्चा...। *ध.प.*, 277, पृ. 48

[81] सब्बे संखारा दुक्खा...। वही, 278, पृ. 48

[82] वुत्ता सब्बेपि सप्पच्चया धम्मा सङ्खतसङ्खारा नाम। *वि.म.*, 2/17, पृ. 156

[83] कम्मनिब्बत्ता तेभूमका रूपारूपधम्मा अभिसङ्खतसङ्खाराति। वही, पृ. 156

अकुशल की चेतना अभिसंस्करणक संस्कार कहलाती है।[84] कायिक और चैत्तसिक वीर्य प्रयोगाभिसंस्कार कहलाता है।[85]

विसुद्धिमग्ग में एक प्रश्न उठाया गया है कि संस्कार अविद्या के प्रत्यय से कैसे होते हैं?[86] अविद्या के भाव से ही संस्कार का भाव है, न कि अभाव से। अतःएव यह संस्कार अविद्या के प्रत्यय से जानना चाहिये। कोई अविज्ञ अविद्या से ग्रसित होते हुये पुण्याभिसंस्कार को भी करता है, अपुण्याभिसंस्कार को भी करता है। जब उसकी अविद्या दूर हो जाती है, तब अविद्या के विराग एवं विद्या की उत्पत्ति से पुण्याभिसंस्कार को भी नहीं करता है।[87]

चौबीस प्रत्यय – 'अविद्या के प्रत्यय से संस्कार' इस पंक्ति में जो प्रत्यय आया है, वह क्या है? *विसुद्धिमग्ग* में प्रत्यय से आशय उपकारक के अर्थ से लिया गया है। जो धर्म जिस धर्म को बिना त्यागे रहता है अथवा उत्पन्न होता है, वह उसका प्रत्यय कहलाता है। लक्षण से प्रत्यय उपकारक है। जो धर्म जिस धर्म की स्थिति या उत्पत्ति का उपकारक होता है, वह उसका प्रत्यय कहा जाता है। प्रत्यय, हेतु, कारण, निदान, सम्भव, प्रभवादि अर्थ से एक हैं, व्यञ्जन से ही भिन्न हैं।[88]

अभिधम्मपिटक के *पट्ठान* में चौबीस प्रत्ययों का वर्णन है। ये हैं- हेतु प्रत्यय, आलम्बन प्रत्यय, अधिपति प्रत्यय, अनन्तर प्रत्यय, समनन्तर प्रत्यय, सहजात प्रत्यय, अन्योन्य प्रत्यय, निश्रय

---

[84] तेभूमिककुसलाकुसलचेतना पन अभिसङ्खरणकसङ्खारोति। *वि.म.*, 2/17, पृ. 156

[85] कायिकचेतसिकं पन वीरियं पयोगाभिसङ्खारोति वुच्चति। वही, पृ. 156

[86] कथं पनेतं जानितब्बं ''इमे सङ्खारा अविज्जा पच्चया होन्ती''ति? वही, पृ. 160

[87] एवं यस्मा अविज्जाभावतोव सङ्खारभावो, न अभावतो। तस्मा जानितब्बमेतं ''इमे सङ्खारा अविज्जापच्चया होन्ती''ति। वुत्तम्पि चेतं ''अविद्वा, भिक्खवे, अविज्जागतो पुञ्ञाभिसङ्खारम्पि अभिसङ्खरोति, अपुञ्ञाभिसङ्खारम्पि अभिसङ्खरोति, आनेञ्जाभिसङ्खारम्पि अभिसङ्खरोति। यतो च खो, भिक्खवे, भिक्खुनो अविज्जा पहीना, विज्जा उप्पन्ना; सो अविज्जाविरागा विज्जुप्पादा नेव पुञ्ञाभिसङ्खारं अभिसङ्खरोती''ति। वही, पृ. 161

[88] पटिच्च एतस्मा एतीति पच्चयो। अपच्चक्खाय नं वत्ततीति अत्थो। यो हि धम्मो यं धम्मं अपच्चक्खाय तिट्ठति वा उप्पज्जति वा, सो तस्स पच्चयोति वुत्तं होति। लक्खणतो पन उपकारकलक्खणो पच्चयो। यो हि धम्मो यस्स धम्मस्स ठितिया वा उप्पत्तिया वा उपकारको होति, सो तस्स पच्चयोति वुच्चति। पच्चयो, हेतु, कारणं, निदानं, सम्भवो, पभवोतिआदि अत्थतो एकं, ब्यञ्जनतो नानं। वही, पृ. 161-62

प्रत्यय, उपनिश्रय प्रत्यय, पुरेजात प्रत्यय, पश्चात् जात प्रत्यय, आसेवन प्रत्यय, कर्म प्रत्यय, विपाक प्रत्यय, आहार प्रत्यय, इन्द्रिय प्रत्यय, ध्यान प्रत्यय, मार्ग प्रत्यय, सम्प्रयुक्त प्रत्यय, विप्रयुक्त प्रत्यय, अस्ति प्रत्यय, नास्ति प्रत्यय, विगत प्रत्यय तथा अविगत प्रत्यय।[89] इनका विश्लेषण निम्न है -

हेतुप्रत्यय — *पट्ठान* के अनुसार हेतुओं से संयुक्त धर्म और इन्हीं से उत्पन्न होने वाली भौतिक जगत् की समस्त अवस्थायें, हेतुप्रत्यय के रूप में अवलम्बित हैं।[90] इस प्रत्यय से उत्पन्न होने वाली वस्तु (पच्चयुप्पन्न) धर्म एवं भौतिक जगत् की अवस्थायें हैं। जिनसे वे उत्पन्न होती हैं (पच्चयधम्म), वे हेतु या कुशलादि मूल धम्म हैं। जिस प्रत्यय से उत्पन्न होती हैं, वह हेतुप्रत्यय है। मूल के अर्थ से हेतु और उपकारक के अर्थ से प्रत्यय होता है। अतः एव संक्षेप में मूल के अर्थ से उपकारक धर्म हेतुप्रत्यय होता है।[91]

आलम्बनप्रत्यय — आलम्बन का अर्थ है विषय अथवा आधार। जिस वस्तु के आधार से कोई दूसरी वस्तु पैदा होती है, तो उस दूसरी वस्तु के प्रति प्रथम वस्तु का सम्बन्ध आलम्बन प्रत्यय का होता है। चक्षुर्विज्ञान और उससे संयुक्त धर्मों की उत्पत्ति रूपायतन पर आधारित है, अतः एव यहाँ चक्षुर्विज्ञान और उससे संयुक्त धर्मों का आलम्बन रूपायतन है। इसी तरह श्रोत्रविज्ञान, घ्राणविज्ञान, जिह्वाविज्ञान, कायविज्ञान और उनसे संयुक्त धर्मों का आलम्बन क्रमशः शब्दायतन, गन्धायतन, रसायतन, स्पृष्टव्यायतन हैं।[92]

---

[89] हेतुपच्चयो, आरम्मणपच्चयो, अधिपतिपच्चयो, अनन्तरपच्चयो, समनन्तरपच्चयो, सहजातपच्चयो, अञ्ञमञ्ञपच्चयो, निस्सयपच्चयो, उपनिस्सयपच्चयो, पुरेजातपच्चयो, पच्छाजातपच्चयो, आसेवनपच्चयो, कम्मपच्चयो, विपाकपच्चयो, आहारपच्चयो, इन्द्रियपच्चयो, झानपच्चयो, मग्गपच्चयो, सम्पयुत्तपच्चयो, विप्पयुत्तपच्चयो, अत्थिपच्चयो, नत्थिपच्चयो, विगतपच्चयो, अविगतपच्चयोति। *प.*, 1/1 (पच्चयुद्देस) पृ. 1

[90] हेतू हेतुसम्पयुत्तकानं धम्मानं तंसमुट्ठानानञ्च रूपानं हेतुपच्चयेन पच्चयो। *प.*, 1/2/1 (पच्चयनिद्देस), पृ. 2

[91] सङ्खेपतो मूलट्ठेन उपकारको धम्मो हेतुपच्चयो। *वि.म.*, 2/17, पृ. 162

[92] रूपायतनं चक्खुविञ्ञाणधातुया तंसम्पयुत्तकानञ्च धम्मानं आरम्मणपच्चयेन पच्चयो ....रूपायतनं सद्दायतनं गन्धायतनं रसायतनं फोट्ठब्बायतनं मनोधातुया तंसम्पयुत्तकानञ्च धम्मानं आरम्मणपच्चयेन पच्चयो। सब्बे धम्मा मनोविञ्ञाणधातुया तंसम्पयुत्तकानञ्च धम्मानं आरम्मणपच्चयेन पच्चयो। *प.*, 1/2/2, पृ. 2

अधिपतिप्रत्यय — किसी वस्तु की उत्पत्ति में अन्य की अपेक्षा जब इच्छा, उद्योग, चित्त और मीमांसा की अधिकता होती है, तो इन चार धर्मों में से जिसकी अधिकता होती है, वही उत्पन्न होने वाली वस्तु के साथ अधिपतिप्रत्यय के सम्बन्ध से सम्बन्धित होता है। जैसे छन्द से जो धर्म संयुक्त है, वह छन्दाधिपति के साथ अधिपति सम्बन्ध से सम्बन्धित है। यहाँ पच्चयुप्पन्न छन्द, पच्चयधम्म छन्दाधिपति और प्रत्यय अधिपति है। अन्य के सन्दर्भ में भी यही जानना चाहिये।[93]

अनन्तरप्रत्यय — *पट्ठान* में कहा गया है कि जिन-जिन धर्मों के अनन्तर जो-जो धर्म होते हैं, तो पूर्व के धर्म पश्चात् के धर्म के प्रति अनन्तरप्रत्यय होते हैं।[94]

समनन्तरप्रत्यय — समनन्तर और अनन्तर दोनों एक हैं। इन दोनों में केवल नाम का भेद है, अर्थ भेद नहीं है। जिन-जिन धर्मों के समनन्तर जो-जो चित्त-चैत्तसिक धर्म होते हैं, तो बाद के धर्म पूर्व के धर्म के प्रति सनन्तरप्रत्यय होते हैं।[95]

सहजातप्रत्यय — वे धर्म जो अन्य धर्मों के साथ-साथ उत्पन्न होते हैं तो उनके बीच सहजात प्रत्यय का सम्बन्ध होता है। सञ्ज्ञादि अरूपी स्कन्ध तथा चार महाभूत एक दूसरे के सहजात-प्रत्यय हैं। चित्त-चैत्तसिक धर्म चित्त-समुत्थान रूप के सहजात-प्रत्यय हैं, महाभूत उपादाय रूप के हैं। रूपी धर्म अरूपी धर्मों के कभी सहजात होते हैं, कभी नहीं।[96]

---

[93] छन्दाधिपति छन्दसम्पयुत्तकानं धम्मानं तंसमुट्ठानानञ्च रूपानं अधिपतिपच्चयेन पच्चयो। वीरियाधिपति वीरियसम्पयुत्तकानं धम्मानं तंसमुट्ठानानञ्च रूपानं अधिपतिपच्चयेन पच्चयो। चित्ताधिपति चित्तसम्पयुत्तकानं धम्मानं तंसमुट्ठानानञ्च रूपानं अधिपतिपच्चयेन पच्चयो। वीमंसाधिपति वीमंससम्पयुत्तकानं धम्मानं तंसमुट्ठानानञ्च रूपानं अधिपतिपच्चयेन पच्चयो। *य.*, 1/2/3, पृ. 2

[94] येसं येसं धम्मानं अनन्तरा ये ये धम्मा उप्पज्जन्ति चित्तचेतसिका धम्मा, ते ते धम्मा तेसं तेसं धम्मानं अनन्तरपच्चयेन पच्चयो। वही, 1/2/4, पृ. 4

[95] येसं येसं धम्मानं समनन्तरा ये ये धम्मा उप्पज्जन्ति चित्तचेतसिका धम्मा, ते ते धम्मा तेसं तेसं धम्मानं समनन्तरपच्चयेन पच्चयो। वही, 1/2/5, पृ. 5

[96] चत्तारो खन्धा अरूपिनो अञ्ञमञ्ञं सहजातपच्चयेन पच्चयो। चत्तारो महाभूता अञ्ञमञ्ञं सहजातपच्चयेन पच्चयो। ओक्कन्तिक्खणे नामरूपं अञ्ञमञ्ञं सहजातपच्चयेन पच्चयो। चित्तचेतसिका धम्मा चित्तसमुट्ठानानं रूपानं सहजातपच्चयेन पच्चयो। महाभूता उपादारूपानं सहजातपच्चयेन पच्चयो। रूपिनो धम्मा अरूपीनं धम्मानं किञ्चि काले सहजातपच्चयेन पच्चयो, किञ्चि काले न सहजातपच्चयेन पच्चयो। वही, 1/2/6, पृ. 5

अन्योन्यप्रत्यय — एक-दूसरे के आश्रय से उत्पन्न होने वाले धर्म इस प्रत्यय के द्वारा परस्पर सम्बन्धित रहते हैं। जैसे त्रिदण्ड अथवा तिपाही के तीनों दण्ड एक दूसरे का सहायक होते हैं तथा सन्तुलन स्थापित करते हैं, वैसे ही चार अरूपी स्कन्ध तथा चार महाभूत अन्योन्यप्रत्यय हैं। चारों अरूपी स्कन्धों की उत्पत्ति अन्योन्य प्रत्यय से ही होती है।[97]

निश्रय — निश्रय का आशय आधार है। एक-दूसरे के आश्रय से उत्पन्न तथा अन्योन्यप्रत्यय के द्वारा परस्पर सम्बन्धित निश्रय है। जैसे वृक्ष का आधार पृथ्वी है, वैसे ही सञ्ज्ञा, वेदना, संस्कार एवं विज्ञान इन चारों अरूपी स्कन्धों का आधार निश्रयप्रत्यय है।[98]

उपनिश्रय — उपनिश्रय का अर्थ है बलवान् आधार। कुशल धर्मों के दृढ़ आधार पूर्वगामी कुशलधर्म अथवा अव्याकृत ही होते हैं। अतः उनके मध्य का सम्बन्ध उपनिश्रय है।[99]

पुरेजातप्रत्यय — जिस धर्म से किसी धर्म की उत्पत्ति पहले हुई हो तो उनके मध्य पुरेजातप्रत्यय का सम्बन्ध होता है। यथा — चक्षुरायतन चक्षुर्विज्ञान का पुरेजातप्रत्यय है क्योंकि चक्षुर्विज्ञान से पहले चक्षुरायतन की उत्पत्ति पहले होती है।[100]

पश्चात्-जातप्रत्यय — जिस धर्म से किसी धर्म की उत्पत्ति बाद में हुई हो तो उनके मध्य पश्चात्-जातप्रत्यय का सम्बन्ध होता है। यथा — शरीर की उत्पत्ति पहले होती है तथा चित्त-चैत्तसिक बाद में पैदा होते हैं।[101]

---

[97] चत्तारो खन्धा अरूपिनो अञ्ञमञ्ञपच्चयेन पच्चयो। चत्तारो महाभूता अञ्ञमञ्ञपच्चयेन पच्चयो। ओक्कन्तिक्खणे नामरूपं अञ्ञमञ्ञपच्चयेन पच्चयो। *प.*, 1/2/7, पृ. 5

[98] चत्तारो खन्धा अरूपिनो अञ्ञमञ्ञं निस्सयपच्चयेन पच्चयो। वही, 1/2/8, पृ. 5

[99] पुरिमा पुरिमा कुसला धम्मा पच्छिमानं पच्छिमानं कुसलानं धम्मानं उपनिस्सयपच्चयेन पच्चयो। पुरिमा पुरिमा कुसला धम्मा पच्छिमानं पच्छिमानं अकुसलानं धम्मानं केसञ्चि उपनिस्सयपच्चयेन पच्चयो। पुरिमा पुरिमा कुसला धम्मा पच्छिमानं पच्छिमानं अब्याकतानं धम्मानं उपनिस्सयपच्चयेन पच्चयो। वही, 1/2/9, पृ. 6

[100] चक्खायतनं चक्खुविञ्ञाणधातुया तंसम्पयुत्तकानञ्च धम्मानं पुरेजातपच्चयेन पच्चयो। वही, 1/2/10, पृ. 6

[101] पच्छाजाता चित्तचेतसिका धम्मा पुरेजातस्स इमस्स कायस्स पच्छाजातपच्चयेन पच्चयो। वही, 1/2/11, पृ. 7

आसेवनप्रत्यय — आसेवन का अर्थ है बार-बार आवृत्ति। प्रत्येक कुशल धर्म की उत्पत्ति किसी पूर्वगामी कुशल धर्म के सतत अभ्यास से हो रही हो। अतः दोनों के मध्य आसेवन प्रत्यय का सम्बन्ध है। ऐसे ही अकुशल कर्म और अव्याकृत कर्मों को जानना चाहिये।[102]

कर्मप्रत्यय – किसी भी कर्मविपाक के पूर्वगामी कुशल या अकुशल धर्म होते हैं। अतः उनके बीच का सम्बन्ध कर्मप्रत्यय का होता है।[103]

विपाकप्रत्यय — वेदनादि अरूपी स्कन्ध उत्पत्ति से पूर्व विपाक स्वरूप होते हैं। अतः इनके बीच विपाक प्रत्यय होता है। [104]

आहारप्रत्यय — शरीर का निर्माण कबळीकार आहार से होता है। अतःएव शरीर का भोजन के साथ आहार-प्रत्यय का सम्बन्ध है।[105]

इन्द्रियप्रत्यय — चक्षुर्विज्ञानादि की उत्पत्ति चक्षुरादि इन्द्रियों के प्रत्ययों से है। अतः पहले का दूसरे के प्रति इन्द्रियप्रत्यय का सम्बन्ध है।[106]

ध्यानप्रत्यय — ध्यान से संयुक्त अवस्थाओं की उत्पत्ति ध्यान के अङ्गों के प्रत्यय से है। अतः पहले का दूसरे के साथ ध्यानप्रत्यय का सम्बन्ध है।[107]

---

[102] पुरिमा पुरिमा कुसला धम्मा पच्छिमानं पच्छिमानं कुसलानं धम्मानं आसेवनपच्चयेन पच्चयो। पुरिमा पुरिमा अकुसला धम्मा पच्छिमानं पच्छिमानं अकुसलानं धम्मानं आसेवनपच्चयेन पच्चयो। पुरिमा पुरिमा किरियाब्याकता धम्मा पच्छिमानं पच्छिमानं किरियाब्याकतानं धम्मानं आसेवनपच्चयेन पच्चयो। *प.*, 1/2/12, पृ. 7

[103] कुसलाकुसलं कम्मं विपाकानं खन्धानं कटत्ता च रूपानं कम्मपच्चयेन पच्चयो। चेतना सम्पयुत्तकानं धम्मानं तंसमुट्ठानानञ्च रूपानं कम्मपच्चयेन पच्चयो। वही, 1/2/13, पृ. 7

[104] विपाका चत्तारो खन्धा अरूपिनो अञ्ञमञ्ञं विपाकपच्चयेन पच्चयो। वही, 1/2/14, पृ. 8

[105] कबळीकारो आहारो इमस्स कायस्स आहारपच्चयेन पच्चयो। वही, 1/2/15, पृ. 8

[106] अरूपिनो इन्द्रिया सम्पयुत्तकानं धम्मानं तंसमुट्ठानानञ्च रूपानं इन्द्रियपच्चयेन पच्चयो। वही, 1/2/16, पृ. 8

[107] झानङ्गानि झानसम्पयुत्तकानं धम्मानं तंसमुट्ठानानञ्च रूपानं झानपच्चयेन पच्चयो। वही, 1/2/17, पृ. 8

मार्गप्रत्यय — ध्यानप्रत्यय की भाँति मार्ग से संयुक्त अवस्थाओं की उत्पत्ति मार्ग के अङ्गों के प्रत्यय से है। अतः उनके बीच मार्गप्रत्यय का सम्बन्ध है।[108]

सम्प्रयुक्तप्रत्यय — सञ्ज्ञा, वेदनादि से संयुक्त धर्मों की उत्पत्ति क्रमशः वेदनादि के अङ्गों के प्रत्यय से होती है। अतः उनके बीच का सम्बन्ध सम्प्रयुक्तप्रत्यय का है।[109]

विप्रयुक्तप्रत्यय — रूपी धर्म अरूपी धर्मों के साथ विप्रयुक्तप्रत्यय के सम्बन्ध से होते हैं।[110]

अस्तिप्रत्यय — जिस धर्म की उपस्थिति से दूसरे धर्म की उत्पत्ति अनिवार्यतः निर्भर होती है, तो दोनों के बीच अस्तिप्रत्यय का सम्बन्ध होता है। सम्पूर्ण भौतिक विकारों की उत्पत्ति के लिये चार महाभूतों की उपस्थिति आवश्यक है। महाभूतों का विकारों के साथ अस्तिप्रत्यय सम्बन्ध है।[111]

नास्तिप्रत्यय — जो धर्म अपनी अनुपस्थिति से किसी दूसरे धर्म की उत्पत्ति में सहायक हो, तो उत्पन्न होने वाले धर्म के प्रति नास्तिप्रत्यय के सम्बन्ध से सम्बन्धित होता है। जैसे निरुद्ध हुये चित्त और चैत्तसिक अपनी अविद्यमानता से ही अभी उत्पन्न होने वाले चित्त और चैत्तसिक धर्मों के प्रति नास्तिप्रत्यय के सम्बन्ध से सम्बन्धित है।[112]

विगतप्रत्यय — यह विगतभाव से उपकारक है। जो धर्म अपने विगतभाव से किसी दूसरे धर्म की उत्पत्ति में सहायक हो, तो उत्पन्न होने वाले धर्म के प्रति विगतप्रत्यय के सम्बन्ध से सम्बन्धित

---

[108] मग्गङ्गानि मग्गसम्पयुत्तकानं धम्मानं तंसमुट्ठानानञ्च रूपानं मग्गपच्चयेन पच्चयो। *प.*, 1/2/18, पृ. 8

[109] चत्तारो खन्धा अरूपिनो अञ्ञमञ्ञं सम्पयुत्तपच्चयेन पच्चयो। वही, 1/2/19, पृ. 8

[110] रूपिनो धम्मा अरूपीनं धम्मानं विप्पयुत्तपच्चयेन पच्चयो। अरूपिनो धम्मा रूपीनं धम्मानं विप्पयुत्तपच्चयेन पच्चयो। वही, 1/2/20, पृ. 8

[111] चत्तारो खन्धा अरूपिनो अञ्ञमञ्ञं अत्थिपच्चयेन पच्चयो। चत्तारो महाभूता अञ्ञमञ्ञं अत्थिपच्चयेन पच्चयो। ओक्कन्तिक्खणे नामरूपं अञ्ञमञ्ञं अत्थिपच्चयेन पच्चयो। चित्तचेतसिका धम्मा चित्तसमुट्ठानानं रूपानं अत्थिपच्चयेन पच्चयो। महाभूता उपादारूपानं अत्थिपच्चयेन पच्चयो। वही, 1/2/21, पृ. 9

[112] समनन्तरनिरुद्धा चित्तचेतसिका धम्मा पटुप्पन्नानं चित्तचेतसिकानं धम्मानं नत्थिपच्चयेन पच्चयो। वही, 1/2/22, पृ. 9

होता है। जैसे विगत हुये चित्त और चैत्तसिक अपनी अविद्यमानता से ही अभी उत्पन्न होने वाले चित्त और चैत्तसिक धर्मों के प्रति विगतप्रत्यय के सम्बन्ध से सम्बन्धित है।[113]

अविगतप्रत्यय — अस्तिप्रत्यय धर्म ही अविगतभाव से उपकारक है। जिस धर्म की उपस्थिति से दूसरे धर्म की उत्पत्ति अनिवार्यतः निर्भर होती है, तो दोनों के बीच अविगतप्रत्यय का सम्बन्ध होता है। अस्तिप्रत्यय की भाँति महाभूतों का विकारों के साथ अविगतप्रत्यय सम्बन्ध है।[114]

उपर्युक्त 24 प्रत्ययों में अविद्या पुण्याभिसंस्कार का आलम्बन और उपनिश्रय इन दो प्रत्ययों से होती है, अनेञ्जाभिसंस्कार का उपनिश्रय से होती है तथा अपुण्याभिसंस्कारों का अनेकविध प्रत्यय होती है।[115] अविद्या से अन्धा किया गया व्यक्ति अन्धे की भाँति पृथ्वी पर विचरण करते हुये मार्ग-कुमार्ग, ऊँची-नीची, सम-विषम भूमि पर विकल्प बनाता हुआ चलता है, वैसे ही अविद्या से पुण्य, अपुण्य और आनेञ्जाभिसंस्कार करता है।[116]

विज्ञान - संस्कारों के प्रत्यय से विज्ञान होता है।[117] विजानन अर्थात् विशेष रूप से जानना इस लक्षण वाला विज्ञान कहलाता है। आगे-आगे चलना इसका कृत्य है। प्रतिसन्धि से जाना जाता है तथा संस्कार इसके पदस्थान हैं।[118] विज्ञान से यहां तात्पर्य उन चित्त-धाराओं से है जो पूर्वजन्म में किये हुये कुशल या अकुशल कर्मों के विपाक स्वरूप यहां प्रकट होती है और जिनके कारण ही मनुष्य को अपने विषय में आंख, कान, नाक, जीभ शरीर आदि विषयक अनुभूति होती है। यदि

---

[113] समनन्तरविगता चित्तचेतसिका धम्मा पटुप्पन्नानं चित्तचेतसिकानं धम्मानं विगतपच्चयेन पच्चयो। *प.*, 1/2/23, पृ. 9

[114] चत्तारो खन्धा अरूपिनो अञ्ञमञ्ञं अविगतपच्चयेन पच्चयो। चत्तारो महाभूता अञ्ञमञ्ञं अविगतपच्चयेन पच्चयो । ओक्कन्तिक्खणे नामरूपं अञ्ञमञ्ञं अविगतपच्चयेन पच्चयो। चित्तचेतसिका धम्मा चित्तसमुट्ठानानं रूपानं अविगतपच्चयेन पच्चयो। महाभूता उपादारूपानं अविगतपच्चयेन पच्चयो वही, 1/2/24, पृ. 10

[115] पच्चयो होति पुञ्ञानं, दुविधानेकधा पन। परेसं पच्छिमानं सा, एकधा पच्चयो मताति॥ *वि.म.*, 2/17, पृ. 170

[116] सो अविज्जाय अन्धीकतो एवं विकप्पेन्तो यथा नाम अन्धो पथवियं विचरन्तो मग्गम्पि अमग्गम्पि थलम्पि निन्नम्पि समम्पि विसमम्पि पटिपज्जति, एवं पुञ्ञम्पि अपुञ्ञम्पि आनेञ्जाभिसङ्खारम्पि अभिसङ्खरोती'ति। वही, पृ. 174

[117] सङ्खारपच्चया विञ्ञाणं। *वि.पि.*, महावग्ग, 1/1/1, पृ. 1; *सं.नि.*, 2/1/1/1, पृ. 2; *उ.*, 1/3, पृ. 71

[118] विजाननलक्खणं विञ्ञाणं, पुब्बङ्गमरसं, पटिसन्धिपच्चुपट्ठानं, सङ्खारपदट्ठानं, वत्थारम्मणपदट्ठानं वा। *वि.म.*, 2/17, पृ. 157

अविद्या और तृष्णा के अशेष निरोध से कुशल, अकुशल अथवा अव्याकृत संस्कार उत्पन्न न हों तो फिर माता के गर्भ में पुनः विज्ञान का बीज पड़ता ही नहीं, पुनर्जन्म होता ही नहीं ।[119]

संस्कार के कारण विज्ञान का जन्म होता है। जब नवजात शिशु माँ के गर्भ में रहता है तब विज्ञान के कारण ही उस शिशु का शरीर एवं मन विकसित होता है। विज्ञान के कारण नामरूप उत्पन्न होता है। जब विज्ञान माता के गर्भ में प्रतिसन्धि ग्रहण करता है, तभी से नाम रूप उत्पन्न होना शुरू हो जाता है। बुद्धघोष ने एक प्रश्न उठाया है कि यह कैसे ज्ञात होगा कि उक्त प्रकार का विज्ञान संस्कारों के प्रत्यय से होता है? उपचित अर्थात् सञ्चित कर्मों के अभाव में विपाकाभाव से ही पता चलता है कि उक्त विज्ञान संस्कारों के प्रत्यय से ही होता है। विपाक सञ्चित कर्मों के बिना उत्पन्न नहीं होता। अतः एव यह ज्ञात होता है कि संस्कारों के प्रत्यय से विज्ञान होता है।[120]

नामरूप – विज्ञान के प्रत्यय से नामरूप होता है।[121] झुकने के लक्षण वाला नाम है। नाम का कार्य मिलना है। वियोग न होने से यह जाना जाता है। विज्ञान पदस्थान है। नाश होने के लक्षण वाला रूप है। रूप का कार्य विकीर्ण होना है। अव्याकृत से यह जाना जाता है। विज्ञान इसका पदस्थान है।[122] *मिलिन्दपञ्ह* में नागसेन ने नामरूप को परिभाषित किया है। उनके अनुसार जितनी स्थूल चीजें हैं सभी रूप हैं और जितने सूक्ष्म मानसिक धर्म हैं सभी नाम हैं। ये दोनों परस्पर अन्योन्याश्रय भाव से सम्बन्धित हैं। एक के बिना दूसरे की स्थिति नहीं हो सकती।[123] नाम और रूप दोनों परस्पर आश्रित एवं सापेक्ष हैं। एक उदाहरण से नागसेन ने नामरूप की

---

[119] *बौ.द.अ.भा.द.*, I, पृ. 395

[120] कथं पनेतं जानितब्बं इदं वुत्तप्पकारं विञ्ञाणं सङ्खारपच्चया होती''ति? उपचितकम्माभावे विपाकाभावतो। विपाकं हेतं, विपाकञ्च न उपचितकम्माभावे उप्पज्जति। यदि उप्पज्जेय्य सब्बेसं सब्बविपाकानि उप्पज्जेय्युं, न च उप्पज्जन्तीति जानितब्बमेतं सङ्खारपच्चया इदं विञ्ञाणं होतीति। *वि.म.*, 2/17, पृ. 175

[121] विञ्ञाणपच्चया नामरूपं । *वि.पि.*, महावग्ग, 1/1/1, पृ. 1; *सं.नि.*, 2/1/1/1, पृ. 2; उ., 1/3, पृ. 71

[122] नमनलक्खणं नामं, सम्पयोगरसं, अविनिब्भोगपच्चुपट्ठानं, विञ्ञाणपदट्ठानं। रुप्पनलक्खणं रूपं, विकिरणरसं, अब्याकतपच्चुपट्ठानं, विञ्ञाणपदट्ठानं। *वि.म.*, 2/17, पृ. 157

[123] ओळारिकं, एतं रूपं, ये तत्थ सुखुमा चित्तचेतसिका धम्मा, एतं नाम''न्ति। अञ्ञमञ्ञूपनिस्सिता महाराज, इमे धम्मा एकतोव उप्पज्जन्तीति। *मि.प.*, 2/2/8, पृ. 48

परस्पर आश्रितता को स्पष्ट किया है। यदि मुर्गी के पेट में अण्डा नहीं होगा तो बच्चा (चूजा) भी नहीं होगा। जैसे अण्डा तथा बच्चा दोनों एक-दूसरे पर आश्रित हैं, वैसे ही नाम तथा रूप एक-दूसरे के बिना नहीं ठहर सकते।[124] जब प्रतिसन्धि विज्ञान उत्पन्न होता है तब उस विज्ञान से सम्प्रयुक्त वेदनादि अर्थात् वेदना, सञ्ज्ञा व संस्कार ये तीनों नाम स्कन्ध एवं कर्मज रूपकलापों की उत्पत्ति भी युगपत् होती है। उन युगपत् उत्पन्न विज्ञान से ही नामरूप की उत्पत्ति होती है।[125] रूप के अन्तर्गत पृथ्वी, जल, तेज व वायु ये चार महाभूत और उपादाय रूप आते हैं। उपादाय रूप से आशय चारों महाभूतों के आश्रय से उत्पन्न रूपों से है। इस प्रकार वेदना, सञ्ज्ञा, संस्कार व विज्ञान ये चारों संयुक्त रूप से नाम तथा रूप को पञ्चस्कन्ध भी कहा जाता है।

षडायतन – नामरूप के प्रत्यय से षडायतन होता है।[126] आयतन के लक्षण वाले छः आयतन अर्थात् षडायतन कहलाते हैं। दर्शनादि इनका कार्य है। वस्तु, द्वार व भाव से जाने जाते हैं। नामरूप इनके पदस्थान हैं।[127] एकशेष द्वन्द्व समास से षडायतन का प्रत्यय जानना चाहिये।

षडायतन में आयतन पद का अर्थ इन्द्रिय है।[128] इन्द्रियाँ छः हैं – चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, त्वक् और मन।[129] इन इन्द्रियों के क्रमशः छः विषय हैं – रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श और धर्म। प्रश्न हो सकता है कि नामरूप षडायतन का प्रत्यय कैसे हो सकता है? नामरूप के होने से ही षडायतन हो

---

[124] यथा, महाराज, कुक्कुटिया कललं न भवेय्य, अण्डम्पि न भवेय्य, यञ्च तत्थ कललं, यञ्च अण्डं, उभोपेते अञ्ञमञ्ञूपनिस्सिता, एकतोव नेसं उप्पत्ति होति। *मि.प.*, 2/2/8, पृ. 48

[125] वेदना, सञ्ञा, चेतना, फस्सो, मनसिकारो – इदं वुच्चतावुसो, नामं; चत्तारि च महाभूतानि, चतुन्नञ्च महाभूतानं उपादायरूपं – इदं वुच्चतावुसो, रूपं। इति इदञ्च नामं इदञ्च रूपं – इदं वुच्चतावुसो, नामरूपं। *म.नि.*, 1/1/9, पृ. 67; नामन्ति आरम्मणाभिमुखं नमनतो वेदनादयो तयो खन्धा, रूपन्ति चत्तारि महाभूतानि चतुन्नञ्च महाभूतानं उपादायरूपं। तेसं विभागो खन्धनिद्देसे वुत्तोयेवाति। एवं तावेत्थ विभागा नामरूपानं विञ्ञातब्बो विनिच्छयो। *वि.म.*, 2/17, पृ. 181

[126] नामरूपपच्चया सळायतनं । *वि.पि.*, महावग्ग, 1/1/1, पृ. 1; *सं.नि.*, 2/1/1/1, पृ. 2; उ., 1/3, पृ. 71

[127] आयतनलक्खणं सळायतनं, दस्सनादिरसं, वत्थुद्वारभावपच्चुपट्ठानं, नामरूपपदट्ठानं। *वि.म.*, 2/17, पृ. 157

[128] कौसल्यायन, आनन्द, *पालि-हिन्दी कोश*, दिल्ली: सिद्धार्थ बुक्स, 2012, पृ. 51

[129] तत्थ कतमं नामरूपपच्चया सळायतनं? चक्खायतनं, सोतायतनं, घानायतनं, जिव्हायतनं, कायायतनं, मनायतनं – इदं वुच्चति ‘‘नामरूपपच्चया सळायतनं’’। *वि.*, 6/1, पृ. 154

सकता है।[130] चूंकि नामरूप से ही ऐन्द्रिक अनुभूतियाँ होती हैं। यदि रूप (चारों महाभूत) तथा नाम (वेदना, सञ्ज्ञा व संस्कार) नहीं होते तो षडायतन का होना असम्भव है। अतः एव कहा गया है कि प्रतिसन्धि में जो जिसका प्रत्यय होता है और जैसे प्रत्यय होता है, वैसे प्रज्ञावान् को जानना चाहिये।[131] प्रतिसन्धि में, पञ्चोकार भव में तीन स्कन्ध, वस्तुरूप कहा जाने वाला नामरूप षडायतन का सहजात, अन्योन्य, निश्रय, विपाक, सम्प्रयुक्त, विप्रयुक्त, अस्ति, अविगत प्रत्ययादि से प्रत्यय जानना चाहिये। [132]

स्पर्श – षडायतन के प्रत्यय से स्पर्श होता है।[133] छूने के लक्षण वाला स्पर्श है। संघर्ष करना इसका काम है। एकत्र होने से यह जाना जाता है तथा षडायतन इसका पदस्थान है।[134] इन्द्रिय और विषय का संयोग ही स्पर्श कहलाता है। *विभङ्ग* में कहा गया है कि षडायतन के प्रत्यय से षड्विध स्पर्श होते हैं - चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय और मन का स्पर्श।[135] ये सभी 'कुशल' या 'अकुशल' विपाक वाले हैं। चक्षुरादि आयतनों में से किसी एक से कोई एक स्पर्श उत्पन्न नहीं होता, अपितु षडायतन से ही स्पर्श होता है।[136] निश्रय, पूर्वभाव, इन्द्रिय, विप्रयुक्त, अस्ति और अविगत इन छः प्रत्ययों से चक्षुरादि षट् आयतनों से स्पर्श का उदय होता है।

---

[130] तत्थ सिया – कथं पनेतं जानितब्बं ''नामरूपं सळायतनस्स पच्चयो''ति? नामरूपभावे भावतो। तस्स तस्स हि नामस्स रूपस्स च भावे तं तं आयतनं होति, न अञ्ञथा। सा पनस्स तब्भावभाविता पच्चयनयस्मिं येव आविभविस्सति। *वि.म.*, 2/17, पृ. 194

[131] पटिसन्धिया पवत्ते वा, होति यं यस्स पच्चयो। यथा च पच्चयो होति, तथा नेय्यं विभाविना॥ *वि.म.*, 2/17, पृ.194

[132] पटिसन्धियं ताव पञ्चवोकारभवे खन्धत्तयवत्थुरूपसङ्खातं नामरूपं छट्ठायतनस्स सहजातअञ्ञमञ्ञनिस्सयविपाकसम्पयुत्तविप्पयुत्तअत्थिअविगतपच्चयादीहि पच्चयो होतीति। वही, 2/17, पृ. 196

[133] सळायतनपच्चया फस्सो । *वि.पि.*, महावग्ग, 1/1/1, पृ. 1; *सं.नि.*, 2/1/1/1, पृ. 2; उ., 1/3, पृ. 71

[134] फुसनलक्खणो फस्सो, सङ्घट्टनरसो, सङ्गतिपच्चुपट्ठानो, सळायतनपदट्ठानो। *वि.म.*, 2/17, पृ. 157

[135] तत्थ कतमो सळायतनपच्चया फस्सो? चक्खुसम्फस्सो सोतसम्फस्सो घानसम्फस्सो जिव्हासम्फस्सो कायसम्फस्सो मनोसम्फस्सो – अयं वुच्चति ''सळायतनपच्चया फस्सो''। *वि.*, 6/1, पृ. 154

[136] एकोपनेकायतनप्पभवो इति दीपितो। *वि.म.*, 2/17, पृ. 198

वेदना – स्पर्श के प्रत्यय से वेदना होती है।[137] अनुभव करने के लक्षण वाली वेदना होती है। विषय के रस का आस्वादन करना इसका काम है। सुख-दुःख से यह जान पड़ती है। स्पर्श इसका पदस्थान है।[138] इन्द्रिय और विषय के संयोग से उत्पन्न मन पर प्रथम प्रभाव का नाम वेदना है । *विभङ्ग* में कहा गया है कि स्पर्श के प्रत्यय से कौन सी वेदना होती है? चक्षुस्पर्श से उत्पन्न वेदना, श्रोत्रस्पर्श से उत्पन्न वेदना, नासिकास्पर्श से उत्पन्न वेदना, इसी प्रकार जिह्वास्पर्श, कायस्पर्श और मनस्पर्श से उत्पन्न वेदनायें स्पर्श के प्रत्यय से होती हैं।[139]

आचार्य बुद्धघोष के अनुसार चक्षुस्पर्शादि से उत्पन्न वेदनायें छः प्रकार की होती हैं, किन्तु प्रभेद से नवासी (89) चित्तों से सम्प्रयुक्त होने से नवासी तरह की होती है।[140] वेदना तीन प्रकार की होती है- सुख वेदना, दुःख वेदना, न सुख न दुःख वेदना। चेतना से प्रत्येक प्रकार की वेदना अनिवार्य रूप से स्पर्श रहती है । यदि स्पर्श हुआ है तो वेदना रोकी नही जा सकती, फिर वह चाहे दुःख रूप हो या सुख रूप, चाहे दुःख-सुख रूप, चाहे न दुःख-न सुख रूप ।

तृष्णा – वेदना के प्रत्यय से तृष्णा होती है।[141] हेतु के लक्षण वाली वेदना होती है। अभिनन्दन करना इसका कार्य है। यह तृप्ति न होने से जानी जाती है। वेदना इसका पदस्थान है।[142] *विभङ्ग* के अनुसार रूपतृष्णादि के भेद से वेदनाप्रत्यय से उत्पन्न तृष्णा छः प्रकार की है। जो है - रूपतृष्णा, शब्दतृष्णा, गन्धतृष्णा, रसतृष्णा, स्पर्शतृष्णा और धर्मतृष्णा।[143] उन तृष्णाओं में से

---

[137] फस्सपच्चया वेदना। *वि.पि.,* महावग्ग, 1/1/1, पृ. 1; *सं.नि.*, 2/1/1/1, पृ. 2; उ., 1/3, पृ. 71

[138] अनुभवनलक्खणा वेदना, विसयरससम्भोगरसा, सुखदुक्खपच्चुपट्ठाना, फस्सपदट्ठाना। *वि.म.*, 2/17, पृ. 157

[139] चक्खुसम्फस्सजा वेदना, सोतसम्फस्सजा वेदना, घानसम्फस्सजा वेदना, जिव्हासम्फस्सजा वेदना, कायसम्फस्सजा वेदना, मनोसम्फस्सजा वेदना – अयं वुच्चति ''फस्सपच्चया वेदना''। *वि.*, 6/1, पृ. 154

[140] द्वारतो वेदना वुत्ता, चक्खुसम्फस्सजादिका। सळेव ता पभेदेन, एकूननवुती मता॥ *वि.म.*, 2/17, पृ. 199

[141] वेदनापच्चया तण्हा। *वि.पि.,* महावग्ग, 1/1/1, पृ. 2; *सं.नि.*, 2/1/1/1, पृ. 2; उ., 1/3, पृ. 71

[142] हेतुलक्खणा तण्हा, अभिनन्दनरसा, अतित्तभावपच्चुपट्ठाना, वेदनापदट्ठाना। *वि.म.*, 2/17, पृ. 157

[143] तत्थ कतमा वेदनापच्चया तण्हा? रूपतण्हा, सद्दतण्हा, गन्धतण्हा, रसतण्हा, फोट्ठब्बतण्हा, धम्मतण्हा – अयं वुच्चति ''वेदनापच्चया तण्हा''। *वि.*, 6/1, पृ. 155

एक-एक प्रवृत्ति के आधार पर कामतृष्णा, भवतृष्णा तथा विभवतृष्णा तीन प्रकार की तृष्णा मानी जाती है।[144]

इनमें से किसी भी पदार्थ के प्रति काम वासना को लेकर तृष्णा उत्पन्न होती है तो वह 'कामतृष्णा' कहलाती है, यदि व्यक्तिगत जीवन की शाश्वत अभिलाषा को लेकर प्रवृत्त होती है तो 'भवतृष्णा' और व्यक्तिगत जीवन के विनाश सम्बन्धी विश्वास को लेकर होने वाली प्रवृत्ति, विभवतृष्णा कहलाती है। गौतम बुद्ध का मानना है कि तृष्णा के पीछे लगे प्राणी, बन्धे खरगोश की भाँति चक्कर काटते हैं। संयोजनों में फंसे मनुष्य चिरकाल तक बार-बार दुःख पाते हैं।[145] उपनिश्रय प्रत्यय से ही प्रत्यय होती है।[146]

उपादान – तृष्णा प्रत्यय से उपादान होता है।[147] ग्रहण करने के लक्षण वाला उपादान है। नहीं छोड़ना इसका काम है। तृष्णा की दृढ़ता और दृष्टि से उपादान को जाना जाता है। तृष्णा इसका पदस्थान है।[148] बुद्धघोष ने उपादान का आशय विषयों के प्रति दृढ़ आसक्ति को कहा है।[149] उपादान के चार प्रकार है – काम-उपादान, दृष्टि-उपादान, शीलव्रत-उपादान एवं आत्मवाद-उपादान।[150] काम-उपादान से तात्पर्य है – वस्तुकाम और क्लेशकाम में से वस्तुकाम को

---

[144] रूपतण्हादिभेदेन, छ तण्हा इध दीपिता। एकेका तिविधा तत्थ, पवत्ताकारतो मता॥ *वि.म.*, 2/17, पृ. 200

[145] तसिणाय पुरक्खता पजा परिसप्पन्ति ससो व बाधितो। सञ्ञोजनसङ्गसत्तका दुक्खमुपेन्ति पुनप्पुन चिराय॥ *ध.प.*, 342, पृ. 56

[146] एकधाति उपनिस्सयपच्चयेनेव पच्चयो होति। *वि.म.*, 2/17, पृ. 201

[147] तण्हापच्चया उपादानं। *वि.पि.*, महावग्ग, 1/1/1, पृ. 2; *सं.नि.*, 2/1/1/1, पृ. 2; उ., 1/3, पृ. 71

[148] गहणलक्खणं उपादानं, अमुञ्चनरसं, तण्हादळ्हत्तदिट्ठिपच्चुपट्ठानं, तण्हापदट्ठानं। *वि.म.*, 2/17, पृ. 157

[149] उपादानन्ति दळ्हग्गहणं। वही, 2/17, पृ. 201

[150] कामुपादानं, दिट्ठुपादानं, सीलब्बतुपादानं, अत्तवादुपादानं – इदं वुच्चति ''तण्हापच्चया उपादानं''। *वि.*, 6/1, पृ. 155; तत्रायं विभावना – कामुपादानं, दिट्ठुपादानं, सीलब्बतुपादानं, अत्तवादुपादानन्ति इमानि तावेत्थ चत्तारि उपादानानि। *वि.म.*, 2/17, पृ. 201

दृढ़तापूर्वक ग्रहण करना।[151] *विसुद्धिमग्ग* के अनुसार जो दृष्टि को दृढ़तापूर्वक ग्रहण करता है, वह दृष्टि उपादान है। आत्मा और लोक शाश्वत है आदि वाक्यों में पूर्व की दृष्टि को पीछे उत्पन्न हुई दृष्टि दृढ़तापूर्वक ग्रहण करती है।[152] यह दृष्टि मिथ्या सिद्धान्तों की ओर अग्रसर होती है।

बुद्धघोष के अनुसार शील-व्रत को दृढ़तापूर्वक ग्रहण करना ही शील-व्रतोपादान है। 'गो' शील और 'गौ' व्रतादि जैसे व्यर्थ के कर्मकाण्डीय व्रतों को दृढ़तापूर्वक ग्रहण करना शीलव्रत उपादान है। आत्मा विषयक वाद का उपादान आत्मवाद उपादान कहलाता है। आत्मवाद ही मात्र आत्मा है। इसे दृढ़तापूर्वक ग्रहण करना आत्मवाद उपादान है।[153]

तृष्णा काम-उपादान से उपनिश्रयप्रत्यय के द्वारा प्रत्यय होती है, जबकि शेष तीनों के लिये सहजात, अन्योन्य, निश्रय, सम्प्रयुक्त, अस्ति, अविगत, हेतु इन सात प्रकार से अथवा इनके सहित उपनिश्रय से युक्त आठ प्रकार से प्रत्यय होती है।[154]

भव – उपादान के प्रत्यय से भव होता है।[155] कर्म और कर्मफल के लक्षण वाला भव होता है। उत्पन्न कराना और उत्पन्न होना इसका काम है। कुशल, अकुशल और अव्याकृत से यह जान

---

[151] वत्थुसङ्खातं कामं उपादियतीतिकामुपादानं, कामो च सो उपादानञ्चातिपि कामुपादानं। *वि.म.*, 2/17, पृ. 201

[152] तथा दिट्ठि च सा उपादानञ्चाति दिट्ठुपादानं। दिट्ठिं उपादियतीति वा दिट्ठुपादानं। ''सस्सतो अत्ता च लोको चा''तिआदीसु (*दी.नि.*, 1.31) हि पुरिमदिट्ठिं उत्तरदिट्ठि उपादियति। *वि.म.*, 2/17, पृ. 202

[153] तथा सीलब्बतं उपादियतीति सीलब्बतुपादानं। सीलब्बतञ्च तं उपादानञ्चातिपि सीलब्बतुपादानं। गोसीलगोवतादीनि हि ''एवं सुद्धी''ति अभिनिवेसतो सयमेव उपादानानि। तथा वदन्ति एतेनाति वादो। उपादियन्ति एतेनाति उपादानं। किं वदन्ति, उपादियन्ति वा? अत्तानं। अत्तनो वादुपादानं अत्तवादुपादानं। अत्तवादमत्तमेव वा अत्ताति उपादियन्ति एतेनाति अत्तवादुपादानं। वही, पृ. 202

[154] एत्थ च एवं देसिते उपादानचतुक्के पुरिमस्स कामुपादानस्स कामतण्हा उपनिस्सयवसेन एकधाव पच्चयो होति, तण्हाभिनन्दितेसु विसयेसु उप्पत्तितो। सेसत्तयस्स पन सहजातअञ्ञमञ्ञनिस्सयसम्पयुत्तअत्थिअविगतहेतुवसेन सत्तधा वा, उपनिस्सयेन सह अट्ठधा वापि पच्चयो होति। यदा च सा उपनिस्सयवसेन पच्चयो होति, तदा असहजातावं होतीति। वही, पृ. 203

[155] उपादानपच्चया भवो। *वि.पि.*, महावग्ग, 1/1/1, पृ. 2; *सं.नि.*, 2/1/1/1, पृ. 2; उ., 1/3, पृ. 71

पड़ता है। उपादान इसका पदस्थान है।[156] पुनर्जन्म को करने वाले कर्म को भव कहते हैं। भव के दो प्रकार है - कर्म भव और उत्पत्ति भव। पुण्याभिसंस्कार, अपुण्याभिसंस्कार और आनेञ्जाभिसंस्कार इन्हें कर्म भव कहा जाता है। सभी कर्म पुनर्जन्म को करने वाले हैं, अतः एव पुनर्जन्मकारी चेतना को ही कर्मभव कहा जाता है।[157] कौनसा कर्म उत्पत्ति कर्म होता है? इस प्रश्न के उत्तरार्थ *विभङ्ग* में कहा गया है कि कामभव, रूपभव, अरूपभव, असञ्ज्ञाभव, नैवसञ्ज्ञानासञ्ज्ञाभव, एक अवकरभव, चतुःअवकरभव, पञ्च-अवकर भव ये उत्पत्ति भव हैं। जिस-जिस उपादान को लेकर व्यक्ति जिस-जिस लोक मे जन्म पाता है, वही 'उत्पत्ति भव' है।[158]

जाति – भव के प्रत्यय से जाति होती है।[159] जाति से तात्पर्य है बच्चे के मां की कोख में आने पर रूप, वेदना, सञ्ज्ञा, संस्कार और विज्ञान रूप पञ्चस्कन्ध के प्रस्फुरण से है। जब 'भव' है तभी तो 'जाति' है अन्यथा माता के पेट मे गर्भ नहीं होता। यह कैसे जानना चाहिये कि भव प्रत्यय से जाति होती है? बाह्य प्रत्ययों के समान होने पर भी हीन, प्रणीत आदि विशेषता को देखने से। क्योंकि बाहरी जनक, जननी, शुक्र, शोणित, आहारादि प्रत्ययों के युक्त होने पर भी हीन, प्रणीत विशेषतायें दिखाई देती है और वह सदैव सबके अभाव से अहेतुक नहीं है। उससे उत्पन्न सत्त्वों के अपने में अन्य कारण के अभाव से कर्मभव के द्वारा अहेतुक नहीं है, अपितु कर्म हेतुक है। क्योंकि कर्म ही सत्त्वों की हीन-प्रणीत आदि विशेषता का हेतु है।[160]

---

[156] कम्मकम्मफललक्खणो भवो, भावनभवनरसो, कुसलाकुसलाब्याकतपच्चुपट्ठानो, उपादानपदट्ठानो। *वि.म.*, 2/17, पृ. 157

[157] भवो दुविधेन– अत्थि कम्मभवो, अत्थि उपपत्तिभवो। तत्थ कतमो कम्मभवो? पुञ्ञाभिसङ्खारो, अपुञ्ञाभिसङ्खारो, आनेञ्जाभिसङ्खारो – अयं वुच्चति कम्मभवो। सब्बम्पि भवगामिकम्मं कम्मभवो। *वि.*, 6/1, पृ. 155

[158] तत्थ कतमो उपपत्तिभवो? कामभवो, रूपभवो, अरूपभवो, सञ्ञाभवो, असञ्ञाभवो, नेवसञ्ञानासञ्ञाभवो, एकवोकारभवो, चतुवोकारभवो, पञ्चवोकारभवो – अयं वुच्चति ''उपपत्तिभवो''। वही, 6/1, पृ. 155

[159] भवपच्चया जाति। *वि.पि.*, महावग्ग, 1/1/1, पृ. 2; *सं.नि.*, 2/1/1/1, पृ. 2; उ., 1/3, पृ. 71

[160] कथं पनेतं जानितब्बं भवो जातिया पच्चयोति चे? बाहिरपच्चयसमत्तेपि हीनपणीततादिविसेसदस्सनतो। बाहिरानं हि जनकजननीसुक्कसोणिताहारादीनं पच्चयानं समत्तेपि सत्तानं यमकानम्पि सतं हीनपणीततादिविसेसो दिस्सति। सो च न अहेतुको सब्बदा च सब्बेसञ्च अभावतो, न कम्मभवतो अञ्ञहेतुको तदभिनिब्बत्तकसत्तानं अज्झत्तसन्ताने अञ्ञस्स कारणस्स अभावतोति कम्मभवहेतुकोव। कम्मं हि सत्तानं हीनपणीततादिविसेसस्स हेतु। *वि.म.*, 2/17, पृ. 208

जरामरण – जाति के प्रत्यय से जरा, मरण, शोक, परिदेव, दुःख, दौर्मनस्य, उपायास उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार इस सम्पूर्ण दुःख स्कन्ध का समुदय होता है।[161] दुःखस्कन्ध से आशय प्रथम आर्य सत्य दुःख से है, जिसे परिभाषित करते हुये त्रिपिटक में कहा गया है कि जन्म भी दुःख है, जरा भी दुःख है, मरण भी दुःख है, अप्रियों का संयोग दुःख है, प्रिय के साथ वियोग भी दुःख है, इच्छित वस्तु की अप्राप्ति भी दुःख है, संक्षेप में समस्त भौतिक-अभौतिक पदार्थ अर्थात् पाँचों उपादानस्कन्ध भी दुःख हैं।

जाति अर्थात् जन्म से ही जरामरण होता है। *दीघनिकाय* के महानिदानसुत्त में तथागत आनन्द को सम्बोधित करते हुये कहते हैं कि हे आनन्द ! यदि जन्म न होता तो देवों का देवत्व, गन्धर्वों का गन्धर्वत्व, यक्षों का यक्षत्व, भूतों का भूतत्व, मनुष्यों का मनुष्यत्व, चतुष्पदों (चौपायों) का चतुष्पदत्व, पक्षियों का पक्षित्व, सरीसृपों (रेंगने वाले) का सरीसृपत्व नहीं होता। यदि जन्म न होता अथवा जन्म का निरोध होता, तो क्या आनन्द ! जरा-मरण दिखलाई पड़ता।' आनन्द नहीं में उत्तर देते हैं। अन्त में बुद्ध पुनः कहते हैं कि इसलिये आनन्द ! जन्म अर्थात् जाति ही जरामरण का हेतु, निदान, समुदय अथवा प्रत्यय है।[162]

यदि जरामरणादि को हटाना है तो पुनर्जन्म को हटाना होगा, क्योंकि ये उसी पर आश्रित हैं। पुनः यदि पुनर्जन्म नष्ट हो जाता है अथवा उसका निरोध हो जाता है, तो उसका आधार 'भव' भी नष्ट हो जायेगा, इसी प्रकार भव के निरोध के लिये उपादान का निरोध, उपादान के निरोध के लिये तृष्णा का निरोध, तृष्णा के निरोध के लिये वेदना का निरोध, वेदना को निरुद्ध करने के लिये स्पर्श का निरोध, स्पर्श को निरुद्ध करने के लिये षडायतन का निरोध, षडायतन को निरुद्ध करने

---

[161] जातिपच्चया जरामरणसोकपरिदेवदुक्खदोमनस्सुपायासा सम्भवन्ति एवमेतस्सकेवलस्स दुक्खन्धस्स समुदयो होति। *वि.पि.*, महावग्ग, 1/1/1, पृ. 2; *सं.नि.*, 2/1/1/1, पृ. 2; उ., 1/3, पृ. 71

[162] जातिपच्चया जरामरण'न्ति इति खो पनेतं वुत्तं, तदानन्द, इमिनापेतं परियायेन वेदितब्बं, यथा जातिपच्चया जरामरणं। जाति च हि, आनन्द, नाभविस्स सब्बेन सब्बं सब्बथा सब्बं कस्सचि किम्हिचि, सेय्यथिदं – देवानं वा देवत्ताय, गन्धब्बानं वा गन्धब्बत्ताय, यक्खानं वा यक्खत्ताय, भूतानं वा भूतत्ताय, मनुस्सानं वा मनुस्सत्ताय, चतुप्पदानं वा चतुप्पदत्ताय, पक्खीनं वा पक्खित्ताय, सरीसपानं वा सरीसपत्ताय तेसं तेसञ्च हि, आनन्द, सत्तानं तदत्ताय जाति नाभविस्स। सब्बसो जातिया असति जातिनिरोधा अपि नु खो जरामरणं पञ्ञायेथा''ति? ''नो हेतं, भन्ते''। ''तस्मातिहानन्द, एसेव हेतु एतं निदानं एस समुदयो एस पच्चयो जरामरणस्स, यदिदं जाति''। *दी.नि.*, 2/2, पृ. 44-45

के लिये नाम-रूप का निरोध, नाम-रूप को निरुद्ध करने के लिये विज्ञान का निरोध, विज्ञान को निरुद्ध करने के लिये संस्कारों का निरोध और अन्त मे संस्कारों को निरुद्ध करने के लिये अविद्या का निरोध करना होगा।

1.6. प्रतीत्यसमुत्पाद की गम्भीरता

विनयपिटक के महावग्ग के ब्रह्मयाचनकथा में अजपाल निग्रोध अर्थात् बरगद के वृक्ष के नीचे विहार करते हुये भगवान् बुद्ध के चित्त में वितर्क उत्पन्न हुआ, "मैंने गम्भीर, दुर्दर्शनीय, दुर्ज्ञेय, शान्त, उत्तम, तर्क से अप्राप्य, निपुण पण्डितों के द्वारा ज्ञेय इस धम्म को अधिगत किया है। आलय अर्थात् कामतृष्णा में रमण करने वाली यह प्रजा काम में संलग्न है तथा उसी में प्रसन्न है। काम में रमण करने वाली प्रजा के लिये कार्यकारण रूपी प्रतीत्यसमुत्पाद दुर्दर्शनीय है।"[163] *दीघनिकाय* के महानिदानसुत्त से प्रतीत्यसमुत्पाद की गम्भीरता के बारे में पता चलता है। आनन्द ने बुद्ध से कहा, "आश्चर्य है, भन्ते ! अद्‌भुत है, भन्ते ! प्रतीत्यसमुत्पाद कितना गम्भीर है और गम्भीर सा दिखता है, किन्तु मुझे स्पष्ट जान पड़ता है।"[164] बुद्ध ने प्रत्युत्तर में कहा, "आनन्द! यह प्रतीत्यसमुत्पाद गम्भीर है और गम्भीर सा दिखता है। इस धर्म को न जानने से ही जनता उलझे सूत सी, गांठें पड़ी रस्सी सी, मूञ्ज-बल्बज के समान दुर्गति को प्राप्तकर संसार से पार नहीं हो पाती है।"[165]

---

[163] अधिगतो खो म्यायं धम्मो गम्भीरो दुद्दसो दुरनुबोधो सन्तो पणीतो अतक्कावचरो निपुणो पण्डितवेदनीयो। आलयरामा खो पनायं पजा आलयरता आलयसम्मुदिता। आलयरामाय खो पन पजाय आलयरताय आलयसम्मुदिताय दुद्दसं इदं ठानं यदिदं इदप्पच्चयतापटिच्चसमुप्पादो..। *वि.पि.*, महावग्ग, 1/1/5, पृ. 5

[164] ''अच्छरियं, भन्ते, अब्भुतं, भन्ते! याव गम्भीरो चायं, भन्ते, पटिच्चसमुप्पादो गम्भीरावभासो च, अथ च पन मे उत्तानकुत्तानको विय खायती''ति। *दी.नि.*, 2/2, पृ. 43

[165] गम्भीरो चायं, आनन्द, पटिच्चसमुप्पादो गम्भीरावभासो च। एतस्स, आनन्द, धम्मस्स अननुबोधा अप्पटिवेधा एवमयं पजा तन्ताकुलकजाता कुलगण्ठिकजाता मुञ्जपब्बजभूता अपायं दुग्गतिं विनिपातं संसारं नातिवत्तति। *दी.नि.*, 2/2, पृ. 43; *सं.नि.*, 2/1/6/10, पृ. 82

चतुर्विध गम्भीर भेद- *विभङ्ग* में प्रतिसम्भिदा अर्थात् गम्भीरता को चार प्रकार का बताया गया है- अर्थ, धर्म, देशना तथा प्रतिवेध प्रतिसम्भिदा।[166] आचार्य बुद्धघोष ने इन्हीं के आधार पर प्रतीत्यसमुत्पाद की गम्भीरता को चार प्रकार का माना है – अर्थ से, धर्म से, देशना से तथा प्रतिवेध से गम्भीर। इनका विवेचन निम्न हैं –

अर्थ से गम्भीर – *विभङ्ग* में आया है कि हेतुफल में ज्ञान अर्थ-प्रतिसम्भिदा है।[167] द्वादशाङ्गों में जाति अर्थात् जन्म से ही जरामरण होता है, जाति के बिना अन्यत्र से नहीं होता है। इस प्रकार जाति (हेतु) के प्रत्यय से ही जरामरण (फल) होता है, यह दुर्बोध है। अतःएव जैसे जाति के प्रत्यय के दुर्बोध होने से जरामरण का जाति के प्रत्यय से उत्पन्न हुये का स्वभाव गम्भीर है, वैसे ही अन्य भव, उपादानादि अङ्गों के प्रत्यय से उत्पन्न हुये का स्वभाव गम्भीर जानना चाहिये। इस प्रकार यह भव-चक्र अर्थ की दृष्टि से गम्भीर है। यही अर्थ की गम्भीरता है।[168]

धर्म से गम्भीर – *विभङ्ग* के अनुसार हेतु में ज्ञान धर्म-प्रतिसम्भिदा है।[169] हेतु का ही नाम धर्म है। जैसे जिस आकार से जिस अवस्था में अविद्या उन-उन संस्कारों का प्रत्यय होती है, उसके दुर्बोधता से अविद्या का संस्कारों का प्रत्यय होना गम्भीर है, वैसे ही संस्कादि अन्य अङ्गों का प्रत्यय होना गम्भीर है। अतःएव यह भवचक्र धर्म गम्भीर है। यही धर्म की गम्भीरता है।[170]

---

[166] चतस्सो पटिसम्भिदा-अत्थपटिसम्भिदा, धम्मपटिसम्भिदा, निरुत्तिपटिसम्भिदा, पटिभानसम्भिदा। *वि.*, 15/1/3, पृ. 331

[167] हेतुफले ञाणं अत्थपटिसम्भिदा। *वि.*, 15/1/3, पृ. 331

[168] तत्थ यस्मा न जातितो जरामरणं न होति, न च जातिं विना अञ्ञतो होति, इत्थञ्च जातितो समुदागच्छतीति एवं जातिपच्चयसमुदागतट्ठस्स दुरवबोधनीयतो जरामरणस्स जातिपच्चयसम्भूतसमुदागतट्ठो गम्भीरो। तथा जातिया भवपच्चय…पे॰… सङ्खारानं अविज्जापच्चयसम्भूतसमुदागतट्ठो गम्भीरो। तस्मा इदं भवचक्कं अत्थगम्भीरन्ति अयं तावेत्थअत्थगम्भीरता। *वि.म.*, 2/17, पृ. 216

[169] हेतुम्हि ञाणं धम्मपटिसम्भिदा''ति। *वि.*, 15/1/3, पृ. 331

[170] हेतुनो हि धम्मोति नामं।...यस्मा पन येनाकारेन यदवत्था च अविज्जा तेसं तेसं सङ्खारानं पच्चयो होति, तस्स दुरवबोधनीयतो अविज्जाय सङ्खारानं पच्चयट्ठो गम्भीरो। तथा सङ्खारानं…पे॰… जातिया जरामरणस्स पच्चयट्ठो गम्भीरो, तस्मा इदं भवचक्कं धम्मगम्भीरन्ति अयमेत्थ धम्मगम्भीरता। *वि.म.*, 2/17, पृ. 216

देशना से गम्भीर – बुद्ध द्वारा विभिन्न प्रकार से प्रतीत्यसमुत्पाद की देशना दी गई है। उसका उस-उस कारण से वैसे-वैसे प्रवर्तित करने के योग्य होने से देशना भी गम्भीर है।[171] वहाँ सर्वज्ञ ज्ञान से इतर अन्य ज्ञान प्रतिष्ठा नहीं पा सकता। सुत्त में कहीं अनुलोम से, कहीं प्रतिलोम से, कहीं दोनों से, कहीं मध्य से लेकर अनुलोम या प्रतिलोम से, कहीं तीन सन्धि चार संक्षेप, कहीं दो सन्धि तीन संक्षेप से उपदेश दिया गया है। यही देशना की गम्भीरता है।

प्रतिवेध से गम्भीर – द्वादशाङ्गों का प्रतिवेध भी गम्भीर है। अविद्या आदि का जो स्वभाव है, उसके प्रतिवेध से अविद्या आदि सम्यक् स्वलक्षण से जानी जाती हैं। वह बुद्धि से ज्ञात न होने के कारण गम्भीर है। यह भवचक्र प्रतिवेध से गम्भीर है।[172]

1.7. प्रतीत्यसमुत्पाद का चतुर्विध नयभेद

प्रतीत्यसमुत्पाद से सम्बन्धित चार नय स्वीकार किये गये हैं – एकत्व नय, नानात्व नय, अव्यापार नय और एवं धर्मता नय। प्रतीत्यसमुत्पाद को नय से भी जाना जाता है।[173] ये निम्न हैं -

एकत्व नय - अविद्या के प्रत्यय से संस्कार, संस्कार के प्रत्यय से विज्ञान- ऐसे यहाँ बीज से अङ्कुर आदि के होने से वृक्ष के होने के समान सन्तति का उच्छेद न होना एकत्व नय है। अर्थात् जड़-चेतन पदार्थों की सन्तति निरवच्छिन्न रूप से सदैव प्रवृत्त होती है। जिसे सम्यक् रूप से देखने वाला हेतु-फल के सम्बन्ध से सन्तति के अनुपच्छेद के अवबोध से उच्छेद-दृष्टि को त्यागता है,

---

[171] यस्मा चस्स तेन तेन कारणेन तथा तथा पवत्तेतब्बत्ता देसनापि गम्भीरा वही, पृ. 217

[172] यस्मा चेत्थ यो सो अविज्जादीनं सभावो, येन पटिविद्धेन अविज्जादयो सम्मा सलक्खणतो पटिविद्धा होन्ति, सो दुप्परियोगाहत्ता गम्भीरो, तस्मा इदं भवचक्कं पटिवेधगम्भीरं। *वि.म.*, 2/17, पृ. 217

[173] यस्मा पनेत्थ एकत्तनयो, नानत्तनयो, अब्यापारनयो, एवंधम्मतानयोति चत्तारो अत्थनया होन्ति, तस्मा नयभेदतोपेतं भवचक्कं विञ्ञातब्बं यथारहं। वही, पृ. 217

मिथ्या रूप से देखने वाला हेतु-फल के सम्बन्ध से प्रवर्तित होते हुये सन्तान के अनुच्छेद का एकत्व के ग्रहण से शाश्वत दृष्टि को ग्रहण करता है।[174] एकत्व नय से उच्छेद दृष्टि नष्ट होती है।

नानात्व नय - अविद्या आदि का अपने लक्षण के अनुसार व्यवस्थापन करना नानात्व नय है। जैसे सम्यक् रूप से देखने वाला नवीन उत्पत्ति के दर्शन से शाश्वत दृष्टि को त्यागता है, वैसे ही मिथ्या रूप से देखने वाला एक सन्तान में पड़े हुये का भिन्न-सन्तान के समान नानात्व को ग्रहण करने से उच्छेद दृष्टि को ग्रहण करता है।[175] धर्मों की सन्तति के निरन्तर प्रवाहमान होने पर भी सभी धर्म स्वभावतः और लक्षणतः भिन्न-भिन्न होते हैं। इस नय से शाश्वत दृष्टि का नाश सम्भव होता है।

अव्यापार नय - अविद्या से संस्कारों का उत्पाद होने पर भी अविद्या में यह विचार नहीं होता कि वह संस्कार को उत्पन्न कर रही है। न ही संस्कारों में यह विचार उत्पन्न होता है कि वे विज्ञान को उत्पन्न कर रहे हैं- इस प्रकार आदि व्यापार के अभाव को अव्यापार-नय कहा जाता है। जिसे सम्यक् रूप से देखने वाला कर्त्ता के अभाव के अवबोध से आत्म-दृष्टि को त्यागता है। मिथ्या रूप से देखने वाला, जो व्यापार के नहीं होने पर भी अविद्या आदि का हेतु स्वभाव के नियम से सिद्ध है, उसे नहीं ग्रहण करने वाला अक्रिय-दृष्टि को ग्रहण करता है।[176] इसके द्वारा ईश्वरीय सृजनवाद और स्वतन्त्र आत्मवाद का निराकरण होता है।

---

[174] तत्थ अविज्जापच्चया सङ्खारा, सङ्खारपच्चया विञ्ञाणन्ति एवं बीजस्स अङ्कुरादिभावेन रुक्खभावप्पत्ति विय सन्तानानुपच्छेदो एकत्तनयो नाम। यं सम्मा पस्सन्तो हेतुफलसम्बन्धेन सन्तानस्स अनुपच्छेदावबोधतो उच्छेददिट्ठिं पजहति। मिच्छा पस्सन्तो हेतुफलसम्बन्धेन पवत्तमानस्स सन्तानानुपच्छेदस्स एकत्तगहणतो सस्सतदिट्ठिं उपादियति। वही, पृ. 217

[175] अविज्जादीनं पन यथासकंलक्खणववत्थानं नानत्तनयो नाम। यं सम्मा पस्सन्तो नवनवानं उप्पाददस्सनतो सस्सतदिट्ठिं पजहति। मिच्छा पस्सन्तो एकसन्तानपतितस्स भिन्नसन्तानस्सेव नानत्तग्गहणतो उच्छेददिट्ठिं उपादियति। *वि.म.*, 2/17, पृ. 217-18

[176] अविज्जाय सङ्खारा मया उप्पादेतब्बा, सङ्खारानं वा विञ्ञाणं अम्हेहीति एवमादिब्यापाराभावो अब्यापारनयो नाम। यं सम्मा पस्सन्तो कारकस्स अभावावबोधतो अत्तदिट्ठिं पजहति। मिच्छा पस्सन्तो यो असतिपि ब्यापारे अविज्जादीनं सभावनियमसिद्धो हेतुभावो, तस्स अग्गहणतो अकिरियदिट्ठिं उपादियति। वही, पृ. 218

एवं धर्मता नय - अविद्यादि कारणों से संस्कारादि की उत्पत्ति होती है, अन्य की नहीं। जैसे दुग्धादि से दध्यादि की उत्पत्ति हो सकती है। इस एवं धर्मता नय को सम्यक् रूप से देखने वाला प्रत्यय के अनुरूप फल के अवबोध से अहेतुक दृष्टि और अक्रिय दृष्टि को त्यागता है। मिथ्या रूप से देखने वाला प्रत्यय के अनुरूप फल की प्रवृत्ति को नहीं ग्रहण करके जहाँ कहीं से जिस किसी के असम्भव होने के ग्रहण करने से अहेतुक दृष्टि और नियतिवाद को ग्रहण करता है।[177] इसके ज्ञान से अहेतुकवाद, नास्तिकवाद, अक्रियावादादि दृष्टियों का निराकरण हो जाता है।

1.8. प्रतीत्यसमुत्पाद की चतुर्विध

संयुक्तनिकाय के अनुसार गौतम बुद्ध से जब किसी भिक्खु ने यह पूछा कि प्रतीत्यसमुत्पाद क्या है? तो प्रत्युत्तर में बुद्ध ने कहा कि जाति प्रत्यय के कारण जरामरण होता है। प्रतीत्यसमुत्पाद जो प्रत्येक धर्म का निश्चित नियम है और उसका स्वरूप है। चाहे तथागत उत्पन्न हो या न हो, किन्तु जो यह धर्मों की अविचल स्थिति है, धर्म नियामता रूपी धातु है, इदं प्रत्ययता है। यह प्रत्येक अवस्था में सदैव ठहरती ही है। तथागत तो उसका केवल परिज्ञान करते हैं। तत्पश्चात् क्रमशः निर्देशन, देशना, निर्धारण, स्थापन, प्रकटन, विश्लेषण और स्पष्टीकरण करते हैं।[178] यहाँ इदं प्रत्ययता से आशय प्रतीत्यसमुत्पाद से है। *संयुक्तनिकाय* में ही प्रतीत्यसमुत्पाद की चार विशेषतायें - तथता, अवितथता, अनञ्ञथता एवं इदप्पच्चयता का उल्लेख मिलता है।[179]

---

[177] अविज्जादीहि पन कारणेहि सङ्खारादीनंयेव सम्भवो खीरादीहि दधिआदीनं विय, न अञ्ञेसन्ति अयं एवंधम्मतानयो नाम। यं सम्मा पस्सन्तो पच्चयानुरूपतो फलावबोधा अहेतुकदिट्ठिं अकिरियदिट्ठिञ्च पजहति। मिच्छा पस्सन्तो पच्चयानुरूपं फलप्पवत्तिं अग्गहेत्वा यतो कुतोचि यस्स कस्सचि असम्भवग्गहणतो अहेतुकदिट्ठिञ्चेव नियतवादञ्च उपादियतीति। वही, पृ. 218

[178] ‘‘कतमो च, भिक्खवे, पटिच्चसमुप्पादो? जातिपच्चया, भिक्खवे, जरामरणं। उप्पादा वा तथागतानं अनुप्पादा वा तथाग तानं, ठितावा सा धातु धम्मट्ठितता धम्मनियामता इदप्पच्चयता। तं तथागतो अभिसम्बुज्झति अभिसमेति। अभिसम्बुज्झित्वा अभिसमेत्वा आचिक्खति देसेति पञ्ञापेति पट्ठपेति विवरति विभजति उत्तानीकरोति। *सं.नि.*, 2/1/2/10, पृ. 24

[179] इति खो, भिक्खवे, या तत्र तथता अवितथता अनञ्ञथता इदप्पच्चयता – अयं वुच्चति, भिक्खवे, पटिच्चसमुप्पादो। वही, पृ. 24

तथता – प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धान्त वस्तु जगत् की यथास्थिति का वर्णन करता है। अतः एव यह सत्य अथवा तथता का सिद्धान्त है। *विसुद्धिमग्ग* के अनुसार तथता से आशय उन-उन अन्यूनाधिक प्रत्ययों से उन-उन धर्मों अथवा अवस्थाओं के नियमानुसार उत्पन्न होने से है।[180] अन्यूनाधिक का आशय है - न कम अथवा न अधिक।

अवितथता – इसके अनुसार आवश्यक प्रत्ययों के एकत्र होने पर कार्य की उत्पत्ति बिना अपवाद के अर्थात् नियमतः एवं अनिवार्यतः होती है।[181] यह प्रक्रिया किसी बाह्य शक्ति अर्थात् ईश्वरादि के अधीन नहीं होती।

अनञ्ञथता – इसके अनुसार निरपवाद रूप से एक निश्चित हेतुपुञ्ज से एक निश्चित कार्यपुञ्ज की ही उत्पत्ति होती है। जैसे औपनिषदिक एवं सांख्यादि दर्शनों के अनुसार किसी निश्चित, स्थिर, एकरूप कारणद्रव्य से एक निश्चित, स्थिर, एकरूप कार्यद्रव्य की ही उत्पत्ति होती है, वैसे प्रतीत्यसमुत्पाद में नहीं होता। *विसुद्धिमग्ग* के अनुसार अन्य धर्म के प्रत्ययों से अन्य धर्म की उत्पत्ति नहीं हो सकती, यही न-अन्यथा है।[182]

इदप्पच्चयता – यह विशेषता प्रतीत्यसमुत्पाद के मूल अर्थ एवं सामान्य नियम को स्पष्ट करती है। जरामरणादि के प्रत्यय अथवा प्रत्ययसमूह से इदप्पच्चयता होती है।[183] अर्थात् सभी पदार्थ प्रत्ययों या प्रत्ययसमूहों के द्वारा ही उत्पन्न होते हैं।

पालि साहित्य में प्रतीत्यसमुत्पाद का विश्लेषण करने के पश्चात् यह कहा जा सकता है कि प्रतीत्यसमुत्पाद बुद्ध की बोधि है। गौतम बुद्ध ने चार आर्य सत्यों के मध्य प्रतीत्यसमुत्पाद की देशना की है। इसका मुख्य उद्देश्य कार्य-कारण भाव की व्याख्या करना है। हेतु प्रत्ययापेक्षा से

---

[180] सो पनायं तेहि तेहि पच्चयेहि अनूनाधिकेहेव तस्स तस्स धम्मस्स सम्भवतो तथताति। *वि.म.*, 2/17, पृ. 147

[181] सामग्गिं उपगतेसु पच्चयेसु मुहुत्तम्पि ततो निब्बत्तधम्मानं असम्भवाभावतो अवितथताति। वही, पृ. 147

[182] अञ्ञधम्मपच्चयेहि अञ्ञधम्मानुप्पत्तितो अनञ्ञथताति। *वि.म.*, 2/17, पृ. 147

[183] यथावुत्तानं एतेसं जरामरणादीनं पच्चयतो वा पच्चयसमूहतो वा इदप्पच्चयताति वुत्तो। वही, पृ. 147

भावों का उत्पाद ही प्रतीत्यसमुत्पाद कहलाता है। जगत् में हेतु के बिना कुछ भी होना असम्भव है। जिनका उत्पाद होता है, उनका निरोध भी होता है। अविद्यादि द्वादशाङ्गों के अनुलोम क्रम से दुःखों की उत्पत्ति का तथा प्रतिलोम क्रम से निर्वाण का ज्ञान होता है। पालि साहित्य में प्रतीत्यसमुत्पाद की चतुर्धा देशना बतलाई है। अर्थ, धर्म, देशना तथा प्रतिवेध से यह प्रतीत्यसमुत्पाद गम्भीर है। चतुर्विध नय तथा विशेषताओं से युक्त प्रतीत्यसमुत्पाद समग्र विश्व को हेतुप्रत्यय से उत्पन्न मानते हुये कार्य-कारण भाव की ही व्याख्या करता है।

द्वितीय अध्याय

वैभाषिक दर्शन में प्रतिपादित प्रतीत्यसमुत्पाद का विश्लेषण

वैभाषिक शब्द की उत्पत्ति 'विभाषा' शब्द से 'क्रतूक्थादिसूत्रान्ताट् ठक्[184]' सूत्र से ठक् प्रत्यय लगकर होती है। 'ठस्येकः[185]' सूत्र से 'ठक्' का इकादेश हो जाता है। 'यचि भम्[186] सूत्र से अजादि इक् परे होने पर विभाषा की भसञ्ज्ञा होगी तथा 'यस्येति च[187]' सूत्र से भसञ्ज्ञक विभाषा के अन्त्य आकार का लोप के पश्चात् 'किति च[188]' सूत्र से अङ्ग के आदि अच् की वृद्धि होकर वैभाषिक शब्द निष्पन्न होता है। यशोमित्र की स्फुटार्था के अनुसार जो विभाषा में विश्वास करते हैं अर्थात् विभाषा नामक शास्त्र के अनुसार आचरण करते हैं अथवा विभाषा को ही बोलते हैं, वे वैभाषिक कहलाते हैं।[189] यह 'विभाषा' आर्य कात्यायनीपुत्र विरचित '*ज्ञानप्रस्थानशास्त्र*[190]' की विपुलकाय टीका है, जिसका सृजन सम्राट कनिष्क के राज्याश्रय तथा वसुमित्र की अध्यक्षता में आयोजित चतुर्थ बौद्ध सङ्गीति[191] में किया गया। सर्वास्तिवाद की वह शाखा जो अन्य बौद्ध

---

[184] *अष्टाध्यायी (अष्टा.)*, पाणिनि, व्याख्याकार – नरेश झा, वाराणसी: चौखम्बा सुरभारती, 2006, 4/2/60, पृ. 249

[185] वही, 7/3/50, पृ. 585

[186] वही, 1/4/18, पृ. 46

[187] वही, 6/4/148, पृ. 537

[188] वही, 7/2/118, पृ. 576

[189] विभाषया दिव्यन्ति चरन्ति वा वैभाषिकाः, विभाषां वा विदन्ति वैभाषिकाः। उक्थादिप्रक्षेपाट् ठक्। *स्फु.*, पृ. 13

[190] सर्वास्तिवादियों के अभिधर्म में सात ग्रन्थ हैं - आर्य कात्यायनीपुत्र का ज्ञानप्रस्थान, स्थविर वसुमित्र का प्रकरणवाद, स्थविर देवशर्मा का ज्ञानकाय, आर्य शारिपुत्र का धर्मस्कन्ध, आर्य मौद्गल्यायन का प्रज्ञप्तिशास्त्र, पूर्ण का धातुकाय एवं महाकौष्ठिल का सङ्गीतिपर्याय। इनमें से ज्ञानप्रस्थान पर लिखा गया भाष्य 'विभाषा' कहा गया। विभाषा पर विश्वास करने के कारण सर्वास्तिवाद की वह शाखा कालान्तर में वैभाषिक कहलाई।

[191] प्राचीन पश्चिमोत्तर भारत के शासक कनिष्क ने 100 ईस्वी में चौथी बौद्ध सङ्गीति बुलाई। इसके आयोजन स्थल पर विवाद है। कुछ इसे जालन्धर मानते हैं, कुछ कश्मीर। कनिष्क के समय तक भारत में बौद्ध धर्म के 18 निकाय प्रचलित थे। इस सङ्गीति में अधिकतर सर्वास्तिवादी भिक्षुओं ने भाग लिया। इसमें बुद्ध वचन को संस्कृत में सूत्रबद्ध किया गया। इस सभा में सुत्तपिटक पर भाष्य, विनयपिटक तथा अभिधर्म पर विभाषा लिखी गईं। इस सङ्गीति को स्थविरवादी स्वीकार नहीं करते, वे श्रीलङ्का की सङ्गीति को ही चतुर्थ बौद्ध सङ्गीति मानते हैं।

ग्रन्थों की अपेक्षा विभाषा को अधिक मान्यता देने लगी, कालान्तर में वैभाषिक कहलाने लगी। विभाषा शब्द का अर्थ विकल्प होता है। बलदेव उपाध्याय के अनुसार विभाषा से आशय एक विषय पर भिन्न-भिन्न विद्वानों के मतों के सङ्ग्रह करने और प्रामाणिक मत को मान्यता देने से है।[192]

वैभाषिक अष्टादशनिकायों में से सर्वास्तिवादी दर्शन से विकसित हुआ है। सर्वास्तिवाद का प्रभाव पश्चिमोत्तर भारत विशेषकर प्राचीन मथुरा, कश्मीर और गान्धारादि प्रदेशों में था। सम्राट कनिष्क से पूर्व ही सर्वास्तिवादियों की दो प्रधान शाखायें गान्धार और काश्मीर उपलब्ध थीं। कश्मीर के सर्वास्तिवादियों को काश्मीर- वैभाषिक कहते हैं, आचार्य वसुबन्धु ने अपने *अभिधर्मकोश* और *अभिधर्मकोशभाष्य* की रचना इन्हीं के मतानुसार की।[193] कश्मीर के बाहर के सर्वास्तिवादी बहिर्देशक कहलाते हैं। कश्मीर से पश्चिम के सर्वास्तिवादी पाश्चात्य एवं अपरान्तक कहलाते थे।[194]

सर्वास्तिवाद वह दार्शनिक निकाय था, जो त्रिविध काल अर्थात् भूत, वर्तमान तथा भविष्य में धर्मों की द्रव्यसत्ता स्वीकार करते हैं। सर्वास्तिवादियों के चार नयभेद प्रसिद्ध हैं, जो हैं- भावान्यथिक, लक्षणान्यथिक, अवस्थान्यथिक और अन्यथान्यथिक।[195]

भावान्यथिक – भावान्यथिक मत के आचार्य भदन्त धर्मत्रात हैं, जो तीनों कालों में गमन करने वाले धर्मों के भाव में अन्यथात्व मानते हैं, न कि द्रव्य में। धर्मत्रात ने स्वर्ण-आभूषण एवं दुग्ध-दधि के उदाहरण से समझाया है। जैसे स्वर्ण को गलाकर आभूषण बनाने पर केवल संस्थान अर्थात् आकार में अन्यथात्व अर्थात् परिवर्तन आता है, उसके वर्ण में नहीं तथा जैसे दुग्ध के दधि में परिणाम होने पर केवल दुग्ध के रस, वीर्य एवं विपाक में परिवर्तन आता है, उसके वर्ण में

---

[192] उपाध्याय, बलदेव, *बौद्ध-दर्शन-मीमांसा (बौ.द.मी.)*, वाराणसी: चौखम्बा विद्याभवन, पञ्चम संस्करण, 1999, पृ. 152

[193] काश्मीरवैभाषिकनीतिसिद्धः, प्रायो मयाऽयं कथितोऽभिधर्मः। *अभिधर्मकोशः (अभि.को.)*, वसुबन्धु, सम्पादक – संघसेन सिंह, दिल्ली: राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, 2012, 8/40, पृ. 98

[194] *बौ.द.प्र.*, पृ. 35

[195] तदस्तिवादात् सर्वास्तिवादा इष्टाः चतुर्विधाः॥ ते भावलक्षणावस्थाऽन्यथाऽन्यथिकसंज्ञिताः। *अभि.को.*, 5/25-26, पृ. 58

नहीं। वैसे ही धर्म जब अनागतादि से प्रत्युत्पन्नादि में आते हैं, तो अनागतादि भाव का त्याग करते हैं, द्रव्य भाव का नहीं।[196]

लक्षणान्यथात्ववाद – भदन्त घोषक इस मत के आचार्य हैं। इनके अनुसार धर्म जब अध्वों अर्थात् कालों में प्रवृत्त होता है, तो अतीत धर्म, अतीत लक्षण से युक्त होने पर भी, अनागत और प्रत्युत्पन्न लक्षणों से अवियुक्त रहता है। जैसे एक पुरुष किसी एक स्त्री में अनुरक्त रहने पर अन्य स्त्रियों से अविरक्त रहता है, वैसे ही किसी कालविशेष का धर्म उस कालविशेष से युक्त होता है, अन्य से विरक्त।[197]

अवस्थान्यथात्ववादी – भदन्त वसुमित्र इस मत के आचार्य हैं। इनके अनुसार त्रिविध कालों में प्रवृत्त धर्म भिन्न-भिन्न अवस्था को प्राप्त कर भिन्न-भिन्न निर्दिष्ट होते हैं, न कि द्रव्य के अन्यथात्व से। जैसे एक अङ्क में निक्षिप्त गुलिका अर्थात् अङ्कीय शून्य एक कही जाती है, दस अङ्क में दस, सौ में सौ और सहस्र में सहस्र कही जाती है। वैसे ही अवस्था के कारण ही धर्मों का अध्वभेद होता है, न कि द्रव्य के परिवर्तन से।[198]

अन्यथान्यथात्ववाद – भदन्त बुद्धदेव इस मत के आचार्य हैं। इनके अनुसार अध्वों में प्रवर्तमान धर्म सञ्ज्ञान्तर ग्रहण करते हैं, द्रव्यान्तर नहीं। जैसे एक ही स्त्री अपने पिता की अपेक्षा से पुत्री है तथा पुत्रों की अपेक्षा से माता भी है, वैसे ही धर्म भिन्न-भिन्न अध्वों में पूर्व-पर की अपेक्षा से अन्य-अन्य निर्दिष्ट होते हैं, द्रव्यान्तर से नहीं।[199]

---

[196] भावान्यथिको भदन्तधर्मत्रातः। स किलाह- धर्मस्याध्वसु प्रवर्तमानस्य भावान्यथात्वं भवति, न द्रव्यान्यथात्वम्। यथा सुवर्णभाजनस्य भित्त्वाऽन्यथा क्रियमाणस्य संस्थानान्यथात्वं भवति, न वर्णान्यथात्वम्। यथा च क्षीरं दधित्वेन परिणमद् सरवीर्यविपाकान् परित्यजति, न वर्णम्। एष धर्मोऽप्यनागतादध्वनः प्रत्युत्पन्नमध्वानमागच्छन्नागतभावं जहाति, न द्रव्यभावम्। *अभि.को.भा.*, पृ. 633

[197] लक्षणान्यथिको भदन्तघोषकः। स किलाह- धर्मोऽध्वसु प्रवर्त्तमानोऽतीतोऽतीतलक्षणयुक्तः, अनागतप्रत्युत्पन्नोऽप्यतीतानागताभ्यामवियुक्तः। तद्यथा- पुरुष एकस्यां स्त्रियां रक्तः, शेषास्वविरक्त इति। वही, पृ. 633

[198] अवस्थान्यथिको भदन्तवसुमित्रः। स किलाह- धर्मोऽध्वसु प्रवर्त्तमानोऽवस्थामवस्थां प्राप्यान्योऽन्यो निर्दिश्यते अवस्थान्तरतः, न द्रव्यान्तरतः। यथैका गुलिका एकाङ्के निक्षिप्ता एकमित्युच्यते, शताङ्के शतम्, सहस्राङ्के सहस्रमिति। वही, पृ. 634

[199] अन्यथान्यथिको भदन्तबुद्धदेवः। स किलाह- धर्मोऽध्वसु प्रवर्त्तमानः पूर्वापरमपेक्षयान्योऽन्य उच्यते अवस्थान्तरतः, न द्रव्यान्तरतः। यथैका स्त्री माता वोच्यते दुहिता च। *अभि.को.भा.*, पृ. 634

इनमें से तृतीय मत अवस्थान्यथिक को वैभाषिक स्वीकार करते हैं। इसे वसुबन्धु ने शोभन कहा है, क्योंकि इनके अनुसार कारित्र के कारण से काल की व्यवस्था की जाती है।[200] जो धर्म अपना कारित्र नहीं करता, वह अनागत है। जो अपना कारित्र करता है, वह प्रत्युत्पन्न है तथा जब कारित्र से उपरत हो जाता है, तो वह अतीत है।

2.1. वैभाषिक दर्शन के साहित्य का संक्षिप्त परिचय

चतुर्थ सङ्गीति में आचार्य वसुमित्र के साथ ही अश्वघोष का '*विभाषा*' की रचना में विशेष अवदान था। *विभाषा* की तीन टीकायें की गयी, जिनमें सबसे बड़ी टीका '*महाविभाषा*' के नाम से विख्यात है। चीनी भाषा में इसका तीन बार अनुवाद किया गया। प्रथम कश्मीर के संघदेव ने 383 ईस्वी में, द्वितीय बुद्धवर्मा और ताओ-ताई ने मिलकर 425-427 ईस्वी में तथा तृतीय ह्वेनसांग ने 656-659 ईस्वी में किया।[201]

महाविभाषा को बौद्ध दर्शन का विराट् ज्ञानकोश कहा जा सकता है। चतुर्थ शताब्दी ईस्वी में इसी को आधार बनाकर वसुबन्धु ने *अभिधर्मकोश* नामक प्रामाणिक एवं विस्तृत ग्रन्थ का निर्माण किया, जिसे वैभाषिक दर्शन का मूल स्रोत माना जाता है। *अभिधर्मकोश* पर वसुबन्धु ने स्वयं भाष्य भी लिखा। *अभिधर्मकोश* में छः सौ कारिकायें हैं, जिनका विभाजन कुल आठ परिच्छेदों में किया गया है, जिन्हें कोशस्थान कहा गया है। ये हैं - धातुनिर्देश, इन्द्रियनिर्देश, लोकनिर्देश, कर्मनिर्देश, अनुशयनिर्देश, मार्गपुद्गलनिर्देश, ज्ञाननिर्देश तथा समापत्तिनिर्देश। राहुल सांकृत्यायन, नरेन्द्र देव, प्रह्लाद प्रधान और संघसेन इन सभी ने नवम कोशस्थान पुद्गलविनिश्चय को स्वीकारा है, जबकि द्वारिकादास शास्त्री ने इसे अष्टम कोशस्थान के पश्चात् रखते हुये, पृथक् कोशस्थान नहीं माना है। इसके पीछे कारण यह है कि इस परिच्छेद में भाष्य व *स्फुटार्था* तो प्राप्त होती है, किन्तु कारिका भाग नहीं है। नालन्दा के विद्वान् यशोमित्र द्वारा

---

[200] तृतीयः शोभनः अध्वानः कारित्रेण व्यवस्थिताः॥ *अभि.को.*, 5/26, पृ. 58

[201] *बौ.द.मी.*, पृ. 152

अभिधर्मकोश के कारिका और भाष्य दोनों पर *स्फुटार्था* व्याख्या[202] लिखी गई। वसुबन्धु का समय चतुर्थ शताब्दी ईस्वी का उत्तरार्ध और पाँचवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है।[203]

अभिधर्मकोश के चीनी भाषा में दो अनुवाद प्राप्त होते हैं, जिनमें प्रथम 563 ईस्वी में परमार्थ द्वारा किया गया अनुवाद है तथा द्वितीय 651-654 ईस्वी में ह्वेनसांग द्वारा किया गया अनुवाद है। फ्रांसीसी विद्वान् लुई द ला वाले पूंसे ने 1923-32 ईस्वी में ह्वेनसांग के चीनी अनुवाद से *अभिधर्मकोश* को फ्रेंच भाषा में अनूदित किया तथा मूल कारिकाओं का संस्कृत में पुनरुद्धार कर पेरिस से प्रकाशित किया। जापानी विद्वान् वोगिहारा ने टोक्यो से *अभिधर्मकोशव्याख्या-स्फुटार्था* को रोमन लिपि में 1932-36 ईस्वी में सम्पादित किया। *अभिधर्मकोश* के कारिका भाग के तिब्बती अनुवाद से महापण्डित राहुल सांकृत्यान ने संस्कृत पुनरुद्धार किया तथा स्वयं विरचित नालन्दिका टीका के साथ काशी विद्यापीठ, वाराणसी से 1931 ईस्वी में छपवाया, जिसे संघसेन सिंह ने सम्पादित करते हुये 2012 ईस्वी में राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली से पुनः प्रकाशित किया।

देवनागरी लिपि के *अभिधर्मकोश* तथा वसुबन्धु के भाष्य के साथ इसे प्रह्लाद प्रधान ने काशी प्रसाद जायसवाल रिसर्च इन्स्टीट्यूट से 1967 ईस्वी में छपवाया। बौद्ध भारती वाराणसी से स्वामी द्वारिकादास शास्त्री द्वारा 1970 ईस्वी में *अभिधर्मकोश* के कारिका, भाष्य तथा *स्फुटार्था* के साथ सम्पादित किया, जिसका द्वितीय संस्करण 2008 में प्रकाशित हुआ। पूंसे के फ्रेंच अनुवाद से हिन्दी अनुवाद आचार्य नरेन्द्र देव ने किया, जिसे हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद ने 1958 ईस्वी में चार भागों में प्रकाशित किया। पूंसे के ही अनुवाद का अंग्रेजी अनुवाद लोद्रो सांग्पो *द्वारा चार भागों में किया गया, जिसे मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली ने 2012 ईस्वी में प्रकाशित किया।*

---

[202] स्फुटार्था के इतर स्थिरमति की *भाष्यटीका (तत्त्वार्थ)*, दिङ्नाग की *मर्मप्रदीपवृत्ति*, गुणमति एवं वसुमित्र की व्याख्यायें, पुण्यवर्धन की *लक्षणानुसारिणी* एवं शान्तिस्थिर देव की *औपयिकी* आदि व्याख्यायें भी लिखी गई, जिनमें से अधिकतर अप्राप्त हैं।

[203] ताकाकुसू वसुबन्धु का काल 420-500 ईस्वी, वोगिहारा 390-470 ईस्वी, एन. पेरी 350 ईस्वी का जन्म तथा विन्टरनित्स चतुर्थ शताब्दी मानते हैं। देव, नरेन्द्र (अनुवादक), *अभिधर्म कोश*, इलाहाबाद: हिन्दुस्तानी एकेडमी, द्वितीय संस्करण, 2008 प्रथम भाग, पृ.5

वसुबन्धु के अलावा अन्य वैभाषिक आचार्यों में संघभद्र का नाम समादृत है, जिन्होंने *अभिधर्मन्यायानुसार* एवं *अभिधर्मसमयदीपिका* नामक ग्रन्थों की रचना की, जो चीनी भाषा में उपलब्ध हैं।

2.2. वैभाषिक दर्शन में धर्म प्रविचय

वसुबन्धु के *अभिधर्मकोश* के प्रथमकोशस्थान की तृतीय कारिका में कहा गया है कि धर्मों के प्रविचय के बिना क्लेशों की शान्ति का कोई अन्य उपाय नहीं है। क्लेशों के कारण ही लोक इस संसार रूपी महासागर अर्थात् भवार्णव में भ्रमित होते रहते हैं। वैभाषिकों का मानना है कि शास्ता ने धर्मों के प्रविचय के लिये अभिधर्म का उपदेश दिया है।[204] पुष्पों के सदृश व्यवकीर्ण धर्मों को चुनने तथा उनके सास्रव-अनास्रवादि विभाग करने की प्रक्रिया को धर्म प्रविचय कहते है।[205] धर्मों का वर्गीकरण ही धर्म प्रविचय कहलाता है।

सास्रव-अनास्रव धर्म – वैभाषिक दर्शन में धर्म को सास्रव और अनास्रव नामक भेद से दो भागों में वर्गीकृत किया गया है। सास्रव से आशय उन धर्मों से है, जहाँ आस्रव अर्थात् मल अनुशयन अथवा पुष्टि लाभ करते हैं। अनास्रव से आशय उन धर्मों से है, जहाँ आस्रव प्रतिष्ठा लाभ नहीं करते। मार्गसत्य और तीन असंस्कृत धर्म अनास्रव हैं। मार्गसत्य से आशय दुःखादि आर्य सत्यों से है तथा तीन असंस्कृत धर्मों से आशय आकाश, प्रतिसङ्ख्यानिरोध और अप्रतिसङ्ख्यानिरोध से है। मार्गसत्य से परे जितने भी संस्कृत धर्म हैं वे सभी सास्रव हैं। असंस्कृत धर्मों में अनावृत्ति ही आकाश है। जो न तो दूसरों का आवरण करता है तथा न अन्य धर्मों के द्वारा आवृत होता है, ऐसा अनावृत्ति लक्षण वाला आकाश है। प्रतिसङ्ख्या का आशय है प्रज्ञा अथवा ज्ञान। प्रज्ञा के उदय होने पर सास्रवधर्म के विषय में राग का सर्वथा परित्याग करने पर प्रतिसङ्ख्यानिरोध का उदय

---

[204] धर्माणां प्रविचयमन्तरेण नास्ति क्लेशानां यत उपशान्तयेऽभ्युपायः।
क्लेशैश्च भ्रमति भवार्णवेऽत्र लोकस्तद्धेतोरत उदितः किलैष शास्त्रा॥ *अभि.को.*, 1/3, पृ. 1

[205] देव, नरेन्द्र, *बौद्धधर्म-दर्शन (बौ.ध.द.)*, दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास, 2011, पृ. 314

होता है। अप्रतिसङ्ख्यानिरोध का फल अनुत्पाद ज्ञान है। भविष्य में रागादि क्लेशों की उत्पत्ति का सदैव के लिये नाश होना ही अप्रतिसङ्ख्यानिरोध है।[206]

संस्कृत-असंस्कृत धर्म – वैभाषिक दर्शन में धर्मों को संस्कृत तथा असंस्कृत के भेद से भी विभाजित किया गया है। संस्कृत धर्म हेतु और प्रत्ययों की अपेक्षा से तथा उनके समागम से उत्पन्न होते हैं। संस्कृत धर्म अनित्यता के कारण अध्व, शब्दों (कथा) के विषय होने से कथावस्तु, निःसरण होने से सनिःसार और सहेतुक होने से सवस्तुक भी कहलाते हैं। रूप, वेदना, सञ्ज्ञा, संस्कार व विज्ञान ये पाँचों स्कन्ध जब सास्रव होते हैं, तो उपादानस्कन्ध कहलाते हैं, जिन्हें क्रमशः दुःख, समुदय, लोक, दृष्टिस्थान और भव भी कहा जाता है।[207] संस्कृत के विपरीत धर्म असंस्कृत धर्म कहलाते हैं। संस्कृत धर्म क्षणिक होते हैं।[208] असंस्कृत धर्म हेतुप्रत्यय से जन्य न होकर स्वतः सिद्ध हैं। इनकी स्थिति किसी कारण पर अवलम्बित नहीं होती है। आकाश, द्विविध निर्वाण असंस्कृत धर्म हैं।

स्कन्ध, आयतन व धातु – वैभाषिकों ने स्कन्ध, आयतन व धातु के आधार पर पुनः धर्म को तीन भागों में विभाजित किया है।[209] रूपादि पञ्चस्कन्ध हैं। आयतन से आशय ज्ञानोत्पत्ति के कारणों षट् इन्द्रिय चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय व मन और इनके विषयों क्रमशः रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पृष्टव्य व धर्म से है। इन छः इन्द्रियों और उनके छः विषयों को द्वादश आयतन कहते हैं। अष्टादश धातुओं से आशय रूपादि छः विषय, चक्षुरादि छः इन्द्रिय तथा चक्षुर्विज्ञानादि छः

---

[206] सास्रवाऽनास्रवा धर्माः संस्कृता मार्गवर्जिताः। सास्रवाः आस्रवास्तेषु यस्मात्समनुशेरते॥
अनास्रवा मार्गसत्यं त्रिविधं चाऽप्यसंस्कृतम्। आकाशं द्वौ निरोधौ च तत्राऽऽकाशमनावृतिः॥
प्रतिसङ्ख्यानिरोधो यो विसंयोगः पृथक् पृथक्। उत्पादात्यन्तविघ्नोऽन्यो निरोधोऽप्रतिसङ्ख्यया॥ *अभि.को.*, 1/4-6, पृ. 1

[207] ते पुनः संस्कृता धर्मा रूपादिस्कन्धपञ्चकम्। स एवाध्वा कथावस्तु सनिःसाराः सवस्तुकाः॥
ये सास्रवा उपादानस्कन्धास्ते सरणा अपि। दुःखं समुदयो लोको दृष्टिस्थानं भवश्च ते॥ वही, 1/7-8, पृ. 2

[208] संस्कृतं क्षणिकं यतः॥ वही, 4/2, पृ. 36

[209] संस्कारस्कन्धश्चतुर्भ्योऽन्ये संस्काराः। धर्माऽऽयतनधात्वाख्याः सहाऽविज्ञप्त्यसंस्कृतैः॥ वही, 1/15, पृ. 3

विज्ञानों से है।[210] इनके अलावा वैभाषिक चित्त, चैत्तसिक, चित्तविप्रयुक्त, रूप एवं निर्वाण के आधार पर धर्म को पाँच तरीके से वर्गीकृत करते हैं।

2.3. वैभाषिक दर्शन में कार्य-कारणवाद का सिद्धान्त

वैभाषिकों का कार्य-कारणवाद सिद्धान्त हेतु-फलवाद कहलाता है। वैभाषिक कारणहेतु, सहभूहेतु, सभागहेतु, सम्प्रयुक्तकहेतु, सर्वत्रगहेतु एवं विपाकहेतु छः हेतुओं[211]; हेतुप्रत्यय, समनन्तरप्रत्यय, आलम्बनप्रत्यय एवं अधिपतिप्रत्यय चार प्रत्ययों[212]; विपाकफल, अधिपतिफल, निष्यन्दफल एवं पुरुषकारफल इन चार फलों को स्वीकार करते हैं। बौद्धों में हेतु और प्रत्यय के अर्थ को लेकर मतवैविध्य है। मुख्य कारण को हेतु तथा साहायक कारण को प्रत्यय कहा जाता है। यथा बीज अङ्कुर का हेतु है तथा मृत्तिका, जल आदि प्रत्यय। किन्तु वैभाषिकों को यह अभीष्ट नहीं है। उनके अनुसार हेतु और प्रत्यय दोनों एकार्थक हैं। अतः एव वे छः हेतुओं का चार प्रत्ययों में अन्तर्भाव करते हैं। इन षट् हेतुओं में कारणहेतु के अलावा अन्य पाँच हेतु हेतुप्रत्यय हैं। अर्हत् के निर्वाण काल के चरम चित्त और चरम चैत्त को वर्जित कर अन्य सब उत्पन्न चित्त–चैत्त जहाँ समनन्तरप्रत्यय हैं, वहीं सब धर्म, संस्कृत और असंस्कृत, चित्त–चैत्त के आलम्बनप्रत्यय हैं। छः हेतुओं में प्रथम कारणहेतु अधिपतिप्रत्यय कहलाता है।[213]

कारणहेतु — सभी धर्म स्वतः से अन्य सभी धर्मों के कारणहेतु होते हैं।[214] कोई भी धर्म अपना कारणहेतु नहीं होता। *अभिधर्मकोशभाष्य* में कहा गया है कि सभी धर्म समस्त संस्कृत धर्मों के

---

[210] षण्णामनन्तराऽतीतं विज्ञानं यद्धि तन्मनः। षष्ठाश्रयप्रसिद्धयर्थं धातवोऽष्टादश स्मृताः॥ *अभि.को.*, 1/17, पृ. 3-4

[211] कारणहेतुः सहभूः सभागः संप्रयुक्तकः। सर्वत्रगो विपाकश्च षड्विधो हेतुरिष्यते॥ वही, 2/49, पृ. 16

[212] चत्वारः प्रत्यया उक्ताः..। *अभि.को.*, 2/61, पृ. 18; चतस्र प्रत्ययताः। हेतुप्रत्ययता, समनन्तरप्रत्ययता, आलम्बनप्रत्ययता, अधिप्रत्ययता च। *अभि.को.भा.*, पृ. 270

[213] *बौ.द.प्र.*, पृ. 47

[214] स्वतोऽन्ये कारणहेतुः, ..। *अभि.को.*, 2/50, पृ. 16

कारणहेतु हैं, क्योंकि उत्पत्तिमान् धर्मों के उत्पाद के प्रति प्रत्येक धर्म का अविघ्नभाव से अवस्थान होता है। अर्थात् कार्यों के उत्पाद में विघ्न न करना ही कारणहेतु का लक्षण है।[215]

सहभूहेतु — सहभूहेतु वे धर्म हैं, जो परस्पर एक-दूसरे के फल हैं।[216] जैसे पृथ्वी आदि चार महाभूत परस्पर एक दूसरे के सहभूहेतु अर्थात् फल हैं वैसे ही चित्त व चित्तानुवर्त्ती एवं लक्षण व लक्ष्य परस्पर सहभूहेतु होते हैं।[217] इस प्रकार सभी संस्कृत धर्म यथासम्भव सहभूहेतु हैं। किन्तु उन धर्मों में यथायोग्य विशेष करना चाहिये जिनका अन्योऽन्यफल के रूप में सम्बद्ध हों।[218]

वैभाषिक हेतु और फल को एककालिक मानते हैं। अन्य बौद्ध दर्शन प्रस्थान कार्य और कारण को एककालिक नहीं मानते। सौत्रान्तिक प्रश्न करते हैं कि लोक में कुछ का हेतुफलभाव सदा सुव्यवस्थापित है। हेतु फल का पूर्ववर्ती है। बीज अङ्कुर का हेतु है, अङ्कुर काण्ड का हेतु है, इत्यादि। किन्तु सहोत्पन्न अर्थों में यह न्याय नहीं देखा जाता। सौत्रान्तिकों को उत्तर देते हुये वैभाषिक कहते हैं कि प्रदीप सप्रभ उत्पन्न होता है तथा आतप में उत्पद्यमान अङ्कुर सच्छाय उत्पन्न होता है।[219]

वैभाषिकों का जो हेतुफलभाव है, उससे अन्योन्यहेतुफलभाव व्यवस्थापित होता है। जैसे एक त्रिदण्ड अर्थात् तिपाही के तीनों पांव अन्योन्य बल से एक-दूसरे को अवस्थान (खड़ा) रखते हैं, वैसे ही सभी चित्त-चैत्तादि का हेतुफलभाव सिद्ध होता है।[220]

---

[215] संस्कृतस्य हि धर्मस्य स्वभाववर्ज्याः सर्वधर्माः कारणहेतुः, उत्पादं प्रति अविघ्नभावावस्थानात्। *अभि.को.भा.*, पृ. 222

[216] .....सहभूर्ये मिथःफलाः। *अभि.को.*, 2/50, पृ. 16; मिथः पारम्पर्येण ये धर्माः परस्परफलास्ते परस्परः सहभूहेतुर्यथाकथम्। *अभि.को.भा.*, पृ. 224

[217] भूत वाक् चित्त चित्तानुवर्तिलक्षणलक्ष्यवत्॥ *अभि.को.*, 2/50, पृ. 16 ; चत्वारि महाभूतान्यन्योन्यं सहभूहेतुः। चित्तं चित्तानुवर्त्तिनां धर्माणाम्, तेऽपि तस्य। संस्कृतलक्षणानि लक्ष्यस्य, सोऽपि तेषाम्। *अभि.को.भा.*, पृ. 224

[218] एवं च कृत्वा सर्वमेव संस्कृतं सहभूहेतुर्यथायोगम्। विनापि चान्योन्यफलत्वेन धर्मोऽनुलक्षणानां सहभूहेतुः, न तानि तस्यत्युपसङ्ख्यातव्यम्। *अभि.को.भा.*, पृ. 224

[219] सर्वमप्येतत् स्यात्; प्रसिद्धहेतुफलभावानां बीजादीनामेष न्यायो न दृष्ट इति वक्तव्यमेतत् – कथं सहोत्पन्नानां धर्माणां हेतुफलभाव इति? तद्यथा प्रदीपप्रभयोरङ्कुरच्छाययोश्च। वही, पृ. 229

[220] त्रिदण्डान्योन्यबलावस्थानवत् तर्हि सहभुवां हेतुफलभावः सिध्यति। *अभि.को.भा.*, पृ. 230

सभागहेतु — सदृश धर्म सभागहेतु होते हैं।[221] जैसे पाँच कुशल स्कन्ध, पाँच कुशल स्कन्ध के सभागहेतु हैं। तथा क्लिष्ट (अकुशल धर्म) क्लिष्ट के सभागहेतु होते हैं।[222] एक निकायसभाग में कलल दस अवस्थाओं का सभागहेतु है। पाँच गर्भावस्था हैं- कलल, अर्बुद, पेशिन्, घन, प्रशाखा तथा पाँच जातावस्था हैं – बाल, कुमार, युवा, मध्य व वृद्ध। यहाँ प्रत्येक अवस्था का पूर्व क्षण उस अवस्था के अपर क्षणों का सभागहेतु है।[223]

सम्प्रयुक्तकहेतु — चित्त और चैत्तसिक सम्प्रयुक्तक हेतु होते हैं।[224] वे ही चित्त-चैत्तसिक परस्पर सम्प्रयुक्तकहेतु होते हैं, जिनका आश्रय सम अथवा अभिन्न होता है। जैसे चक्षुरिन्द्रिय का एक क्षण एक चक्षुर्विज्ञान और विज्ञान से सम्प्रयुक्त वेदना और अन्य चैत्तसिकों का आश्रय है। वैसे ही मन-इन्द्रिय का एक क्षण, एक मनोविज्ञान एवं तत्सम्प्रयुक्त चैत्तसिकों का आश्रय होता है। अन्य इन्द्रियों में भी चक्षुरिन्द्रिय के सदृश जानना चाहिये।[225]

सहभूहेतु और सम्प्रयुक्तक हेतु में अन्तर होता है। अन्योन्यफल वाला धर्म सहभूहेतु है। जबकि वे हेतु सम्प्रयुक्तक कहलाते हैं, जिनकी सम प्रवृत्ति होती है। चित्त और चैत्तसिक पाँचों समताओं से सम्प्रयुक्त होते हैं, क्योंकि उनके आश्रय, आलम्बन और आकार एक ही होते हैं। ये एक साथ उत्पन्न होते हैं। इनका काल भी एक होता है। इन पाँच समताओं में से यदि एक का भी अभाव

---

[221] सभागहेतुः सदृशाः ..। *अभि.को.*, 2/52, पृ. 16

[222] सदृशा धर्माः सदृशानां धर्माणां सभागहेतुः, तद्यथा – कुशलाः पञ्च स्कन्धाः कुशलानामन्योन्यं क्लिष्टाः क्लिष्टानाम्। *अभि.को.भा.*, पृ. 231

[223] कललं कललादीनां दशानामवस्थानम्, अर्बुदादयोऽर्बुदादीनामेकैकापह्नासेनैकस्मिन् निकायसभागे। *अभि.को.भा.*, पृ. 231; पञ्च गर्भावस्थाः – कललार्बुदपेशीघनप्रशाखावस्थाः, पञ्च जातावस्थाः – बालकुमारयुवमध्यवृद्धावस्थाः। इत्येते दश दशानामवस्थानां सभागहेतुः। *स्फु.*, पृ. 231

[224] सम्प्रयुक्तक हेतुस्तु चित्तचैत्ताः समाश्रयाः॥ *अभि.को.*, 2/53, पृ. 17

[225] समान आश्रयो येषां ते चित्तचैत्ता अन्योन्यं सम्प्रयुक्तकहेतुः। समान इत्यभिन्नः। तद्यथा – य एव चक्षुरिन्द्रियक्षणश्चक्षुर्विज्ञानस्याश्रयः, स एव तत्सम्प्रयुक्तानां वेदनादीनामेव, यावन्मनः। इन्द्रियक्षणो मनोविज्ञानतत्सम्प्रयुक्तानां वेदितव्यः। यः सम्प्रयुक्तहेतुः सहभूहेतुरपि सः। *अभि.को.भा.*, पृ. 243

हो तो उनकी समप्रवृत्ति नहीं हो सकती। इस अवस्था में वह सम्प्रयुक्त नहीं हो सकते।[226] जैसे सहसार्थिकों की यात्रा अन्योन्यबल से होती है, अतःएव सहभूहेतु होगी, किन्तु उनकी अन्नपानादि परिभोगप्रक्रिया समान होती है, जिसे सम्प्रयुक्तक हेतु कहते हैं।

सर्वत्रगहेतु — पूर्वोत्पन्न सर्वत्रग[227] स्वभूमिक क्लिष्ट धर्मों के सर्वत्रगहेतु होते है।[228] भूत अथवा वर्तमान स्वभूमिक सर्वत्रग धर्म बाद में उत्पन्न होने वाले स्वभूमिक क्लिष्ट धर्मों के सर्वत्रगहेतु होते हैं।[229] सर्वत्रग हेतु क्लिष्ट धर्मों के सामान्य कारण हैं। ये निकायान्तरीय क्लिष्ट धर्मों के भी हेतु होते हैं। अर्थात् इनके प्रभाव से अन्य निकायों (शरीरों) में सपरिवार क्लेश उत्पन्न होते हैं।

विपाकहेतु — अकुशल और कुशल सास्रव धर्म विपाकहेतु हैं।[230] विपाक देना इनकी प्रकृति हैं। जैसे पूतिबीज अभिष्यन्दित होने पर भी अङ्कुरोत्पत्ति में हेतु नहीं हो सकते, वैसे ही दुर्बल होने के कारण अव्याकृत धर्म भी विपाकहेतु नहीं हो सकते।[231]

फलव्यवस्था — विपाकफल अन्तिम विपाकहेतु से उत्पन्न होता है। इसके दो अर्थ किये जाते हैं, यथा – एक विपाक का हेतु और द्वितीय विपाक ही हेतु। प्रथम कारण हेतु का अधिपतिफल होता है। सभाग और सर्वत्रग हेतु का निःष्यन्द फल होता है तथा सहभूहेतु और सम्प्रयुक्तकहेतु

---

[226] अन्योन्यफलार्थेन सहभूहेतुः; सहसार्थिकान्योन्यबलमार्गप्रयाणवत्। पञ्चभिः समताभिः सम्प्रयोगार्थेन सम्प्रयुक्तहेतुः। तेषामेव सार्थिकानां स्नानशयनादिपरिभोगक्रियाप्रयोगवत्। एकेनापि हि विना न सर्वे सम्प्रयुज्यन्त इत्ययमेषां हेतुभावः। *अभि.को.भा.*, पृ. 243-44

[227] सात दृष्टि, दो प्रकार की विचिकित्सा एवं दो प्रकार की अविद्या ये 11 अनुशय सर्वत्रग कहलाते हैं। ये अपनी धातु को साकल्यतः आलम्बन बनाते हैं, अतः एव ये 11 अनुशय सर्वत्रग कहलाते हैं।

[228] सर्वत्रगाख्यः क्लिष्टानां स्वभूमौ पूर्वसर्वगाः। *अभि.को.*, 2/54, पृ. 17

[229] स्वभूमिकाः पूर्वोत्पन्नाः सर्वत्रगा धर्माः पश्चिमानां क्लिष्टानां धर्माणां सर्वत्रगहेतुः। *अभि.को.भा.*, पृ. 244

[230] विपाकहेतुरशुभाःकुशलाश्चैव सास्रवाः॥ *अभि.को.*, 2/54, पृ. 17

[231] अकुशलाः कुशलसास्रवाश्च धर्मा विपाकहेतुः; विपाकधर्मत्वात्। कस्मादव्याकृता धर्माः विपाकं न निर्वर्त्तयन्ति? दुर्बलत्वात् पूतिबीजवत्। *अभि.को.भा.*, पृ. 245-46

का पुरुषकार फल होता है।[232] निःष्यन्द का आशय हेतुसदृश फल से है[233] तथा जिस धर्म का जो कारित्र है, वह पुरुषकार कहलाता है।[234]

प्रत्यय – स्थविरवाद में जहाँ 24 प्रत्ययों का उल्लेख है, वैभाषिक चार प्रत्यय स्वीकार करते हैं।[235] वसुबन्धु ने बताया है कि सूत्रोक्त चतुर्विध प्रत्ययता है। ये चार प्रत्यय हैं- हेतुप्रत्यय, समनन्तरप्रत्यय, आलम्बनप्रत्यय एवं अधिपतिप्रत्यय।[236] प्रत्ययता का अर्थ प्रत्ययजाति है। *स्फुटार्था* में प्रत्ययता का अर्थ प्रत्ययों के प्रकार से किया गया है। जैसे गो जाति के लिये गोता कहते हैं[237], वैसे ही प्रत्ययजाति का अर्थ प्रत्ययों के चतुर्विध प्रकार हैं।

हेतुप्रत्यय – हेतुप्रत्यय मूल का अधिवचन है। जब एक धर्म दूसरे धर्म का प्रत्यक्षहेतु होता है, तो हेतुप्रत्यय कहलाता है।[238] कारणहेतु को छोड़कर शेष पाँच हेतु हेतुप्रत्यय कहलाते हैं।[239] हेतुप्रत्यय में पाँच हेतु सङ्गृहीत हैं तथा कारणहेतु केवल अधिपतिप्रत्यय के अनुरूप है।[240]

समनन्तरप्रत्यय– अर्हत् के निर्वाण काल के चरम चित्त और चरम चैत्त को वर्जित कर अन्य सब उत्पन्न चित्त–चैत्त समनन्तरप्रत्यय हैं।[241] सम और अनन्तर धर्मों के उत्पाद के कारण ही यह

---

[232] विपाकः फलमन्त्यस्य, पूर्वस्याधिपतं फलम्। सभाग सर्वत्रगयोः निष्यन्दः पौरुषं द्वयोः॥ *अभि.को.*, 2/56, पृ. 17

[233] सदृशफलत्वादनयोर्निःष्यन्दफलम्। *अभि.को.भा.*, पृ. 260

[234] कर्तुः पुरुषकारफलम्। वही, पृ. 263

[235] चत्वारः प्रत्यया उक्ताः..। *अभि.को.*, 2/61, पृ. 18

[236] सूत्रे चतस्र प्रत्ययताः। हेतुप्रत्ययता, समनन्तरप्रत्ययता, आलम्बनप्रत्ययता, अधिप्रत्ययता च। *अभि.को.भा.*, पृ. 270

[237] प्रत्ययप्रकार इत्यर्थः। गोतावत्। *स्फु.*, पृ. 271

[238] *बौ.ध.द.*, पृ. 354

[239] कारणहेतुवर्ज्याः पञ्च हेतवो हेतुप्रत्ययः। *अभि.को.भा.*, पृ. 271

[240] *बौ.ध.द.*, पृ. 354

[241] चित्तचैत्ता अचरमा उत्पन्नाः समनन्तरः। *अभि.को.*, 2/62, पृ. 18; अर्हतः पश्चिमानपास्योत्पन्नाश्चित्तचैत्ताः समनन्तरप्रत्ययः। *अभि.को.भा.*, पृ. 271

प्रत्यय समनन्तरप्रत्यय कहलाता है।[242] केवल चित्त–चैत्त समनन्तरप्रत्यय हैं, क्योंकि अन्य धर्मों के लिये, यथा रूपी धर्मों के लिये हेतु और फल में समता नहीं है। नरेन्द्र देव समनन्तरप्रत्यय को *अभिधर्मकोशभाष्य* के आधार पर विश्लेषित करते हुये कहते हैं कि चित्तनियम पूर्व–पूर्व चित्त के कारण समृद्ध होता है, अन्यथा नहीं। इसलिये एक दूसरे के अनन्तर अनुरूप चित्तोत्पाद के उत्पादन में समर्थ धर्म समनन्तरप्रत्यय है। प्रत्येक चैत्तसिक कलाप की स्थिति एक क्षण की होती। जब यह कलाप निरुद्ध होता है, तब अन्य उसके स्थान में उत्पन्न होता है। पूर्व कलाप उत्तर कलाप के कारित्र को अभिसंस्कृत करता है अर्थात् उसके आकार को निश्चित करता है। किन्तु यह उसका हेतुप्रत्यय नहीं है, क्योंकि उत्तर कलाप का समुत्थान क्लेश–कर्मवश होता है। अतः नये कलाप का हेतुप्रत्यय कर्म या अनुशय है, और पूर्ववर्ती कलाप उसका समनन्तरप्रत्यय है। चित्तप्रवाह के उत्तरोत्तर चित्तों में अधिक समानता और आनन्तर्य होता है, रूपी धर्मों में नहीं। अतः रूपी धर्म समनन्तरप्रत्यय नहीं होते।[243]

आलम्बनप्रत्यय – आलम्बन भाव से उपकारक धर्म आलम्बनप्रत्यय है। सब धर्म, संस्कृत और असंस्कृत, चित्त–चैत्त के आलम्बनप्रत्यय हैं, किन्तु अनियत रूप से नहीं। जैसे सभी रूप चक्षुर्विज्ञान और तत्सम्प्रयुक्त वेदनादि चैत्त के आलम्बन हैं। वैसे ही शब्द श्रोत्रविज्ञान का, गन्ध घ्राणविज्ञान का, स्पृष्टव्य कायविज्ञान का आलम्बन है। सब धर्म मनोविज्ञान और तत्सम्प्रयुक्त चैत्त के आलम्बन हैं।[244] जब एक धर्म एक चित्त का आलम्बन होता है, तो ऐसा नहीं होता कि यह धर्म किसी क्षण में इस चित्त का आलम्बन न हो। अर्थात् यद्यपि चक्षुर्विज्ञान रूप को

---

[242] समश्चायमनन्तरश्च प्रत्यय इति समनन्तरप्रत्ययः। *अभि.को.भा.*, पृ. 271

[243] *अभि.को.भा.*, पृ. 271; *बौ.ध.द.*, पृ. 354-55

[244] धर्मा आलम्बनं सर्वे। *अभि.को.*, 2/62, पृ. 18; यथायोगं चक्षुर्विज्ञानस्य ससम्प्रयोगस्य रूपम्, श्रोत्रविज्ञानस्य शब्दः, घ्राणविज्ञानस्य गन्धः, जिह्वाविज्ञानस्य रसः, कायविज्ञानस्य स्प्रष्टव्यम्, मनोविज्ञानस्य सर्वधर्माः। *अभि.को.भा.*, पृ. 275-76

आलम्बन रूप में ग्रहण नहीं करता तथापि यह आलम्बन है; क्योंकि चाहे इसका ग्रहण आलम्बन रूप में हो या न हो, इसका स्वभाव वही रहता है, जैसे ईन्धन ईन्धन ही रहता है, यद्यपि वह प्रदीप्त हो अथवा न हो।[245]

अधिपतिप्रत्यय – कारणहेतु अधिपतिप्रत्यय कहलाता है।[246] अधिपतिप्रत्यय सञ्ज्ञा दो दृष्टियों से होती है। प्रथम अधिपतिप्रत्यय वह प्रत्यय है, जो बहुधर्मों का है और द्वितीय अधिपतिप्रत्यय वह है, जो बहुधर्मों का पति है।[247] सर्वधर्म मनोविज्ञान के आलम्बनप्रत्यय हैं। किसी चित्त के सहभूधर्म उस चित्त के सदा आलम्बन नहीं होते, किन्तु वह उसके कारणहेतु होते हैं। अतः कारणहेतु होने से, न कि आलम्बनप्रत्यय होने से, सब धर्म अधिपतिप्रत्यय हैं।[248] स्वभाव को वर्जित कर सब संस्कृतधर्म सब धर्म के कारणहेतु हैं। कोई भी धर्म किसी भी नाम से स्वभाव का प्रत्यय नहीं होता। संस्कृत धर्म असंस्कृत धर्म का प्रत्यय नहीं है और विपर्यय भी नहीं है।[249]

2.4. वैभाषिक दर्शन में प्रतीत्यसमुत्पाद का आशय

प्रतीत्यसमुत्पाद शब्द का अर्थ - प्रतीत्यसमुत्पाद एक यौगिक शब्द है, जिसमें प्रतीत्य और समुत्पाद शब्दों का योग हुआ है। प्रतीत्य शब्द में प्रति उपसर्ग तथा इण् धातु है। 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले'[250] सूत्र से प्रति उपसर्ग पूर्वक इण् धातु से क्त्वा प्रत्यय होता है तथा क्त्वान्त शब्द की

---

[245] यो धर्मो यस्य धर्मस्यालम्बनं न कदाचित् स धर्मस्तद्धर्मस्य नालम्बनम्; अनालम्ब्यमानोऽपि तथालक्षणत्वाद्। यथा अनिध्यमानमपीन्धनमुच्यते काष्ठादिकम्, तथालक्षणत्वादिति। *अभि.को.भा.*, पृ. 276

[246] पतिः कारणमुच्यते। *अभि.को.*, 2/62, पृ. 18; य एव कारणहेतुः स एवाधिपतिप्रत्ययः। *अभि.को.भा.*, पृ. 276

[247] अधिकोऽयं प्रत्यय इत्यधपतिप्रत्ययः ..... अधिकस्य वा प्रत्ययः। *अभि.को.भा.*, पृ. 276

[248] आलम्बनप्रत्ययोऽपि सर्वधर्माः अधिपतिप्रत्ययोऽपीति किमस्त्याधिक्यम्? न जातु सहभुवो धर्मा आलम्बनं भवन्ति, भवन्ति त्वधिपतिप्रत्यय इत्यस्यैवाधिक्यम्। वही, पृ. 276

[249] सर्वः सर्वस्य संस्कृतस्य स्वभाववर्ज्यस्य। स्याद्धर्मो धर्मस्य चतुर्भिरपि प्रत्ययैर्न प्रत्ययः। स्यात् स्वभावः स्वभावस्य परभावोऽपि। स्यात् संस्कृतमसंस्कृतस्य असंस्कृतं चासंस्कृतस्य। वही, पृ. 276-77

[250] *अष्टा.*, 3/4/21, पृ. 195

'क्त्वा-तोसुन्-कसुनः'[251] सूत्र से अव्ययसञ्ज्ञा होती है।'समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्'[252] सूत्र से नञ् से भिन्न अव्यय होने पर क्त्वा के स्थान पर ल्यप् आदेश होता है। 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः[253]' से प्राप्त गुण का निषेध 'क्ङिति च'[254] करता है। ल्यप् के लित् व पित् होने से 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्'[255] सूत्र से तुकागम और 'अव्ययीभावश्च'[256] सूत्र से समास करने पर प्रतीत्य शब्द निष्पन्न होता है। यहाँ प्राप्त्यर्थ में प्रति तथा गत्यर्थ में 'इण्' धातु होती है। प्रति उपसर्ग पूर्वक इण् धातु से क्त्वा प्रत्यय होने पर धातु के अर्थ में परिवर्तन होता है। अतः 'प्रतीत्य' का अर्थ 'प्राप्त कर' होगा।[257] सम् और उत् उपसर्गपूर्वक पद् धातु से 'कृत्यल्युटो बहुलम्'[258] सूत्र से कर्त्ता में घञ् प्रत्यय लगकर 'समुत्पाद' शब्द निष्पन्न होता है। सत्तार्थक 'पद्' धातु का सम् और उत् उपसर्गों के प्रभाव से प्रादुर्भाव अर्थ हो जाता है। समुत्पाद का अर्थ है - समुत्पन्न होना।[259]

'समुत्पाद' शब्द का 'प्रतीत्य' शब्द के साथ 'सह सुपा[260]' सूत्र से समास हो सकता है अथवा इसका असमस्त रूप में भी प्रयोग किया जा सकता है। फलतः प्रत्ययों को प्राप्त करके कार्य का उत्पन्न होना प्रतीत्यसमुत्पाद शब्द का अर्थ है।[261]

---

[251] वही, 1/1/40, पृ. 12

[252] वही, 7/1/37, पृ. 547

[253] वही, 7/3/84, पृ. 590

[254] वही, 1/1/5, पृ. 7

[255] वही, 6/1/71, पृ. 426

[256] वही, 2/4/18, पृ. 96

[257] प्रतिः प्राप्त्यर्थः, एतिः गत्यर्थः। उपसर्गवशेन धात्वर्थपरिणामात् प्राप्येति योऽर्थः सोऽर्थः प्रतीत्येति। *अभि.को.भा.*, पृ. 358

[258] *अष्टा.*, 3/3/113, पृ. 180

[259] पदिः सत्तार्थः, समुत्पूर्वः प्रादुर्भावार्थः। *अभि.को.भा.*, पृ. 358

[260] *अष्टा.*, 2/1/4, पृ. 61

[261] तेन प्रत्ययं प्राप्य समुद्भवः प्रतीत्यसमुत्पादः। *अभि.को.भा.*, पृ. 358

वैयाकरणों की आपत्तियाँ तथा परिहार – वसुबन्धु के प्रतीत्यसमुत्पाद के अर्थ से वैयाकरण सहमत नहीं हैं।[262] वैयाकरणों ने वसुबन्धु के अर्थ पर कई आक्षेप लगाये हैं, जो निम्न प्रकार हैं-

→ एक ही कारक की दो क्रियाओं में से पूर्वकालिक क्रिया में क्त्वाविधि का विधान होता है। जैसे – स्नान करके भोजन करता है। किन्तु एक ऐसे धर्म की कल्पना नहीं की जा सकती जिसका उत्पाद के पूर्व अस्तित्व हो तथा जो पूर्व प्रत्ययों के प्रति गमन करता हो और पश्चात् उत्पन्न होता हो।[263]

→ कोई ऐसी अकर्तृक क्रिया भी नहीं होती है।[264]

→ अविद्यमान होने से वह अपने उत्पाद के पूर्व भी प्रत्ययों के प्रति गमन नहीं कर सकता।[265]

→ क्त्वा प्रत्यय पूर्वकाल का विधानकर्त्ता होने से एक साथ प्रत्यय क्रिया एवं समुत्पाद क्रिया नहीं हो सकता।[266]

आचार्य वसुबन्धु ने वैभाषिक मतानुसार वैयाकरणों के उपर्युक्त आक्षेपों को निस्सार मानते हुये, उनका समाधान किया है। *अभिधर्मकोशभाष्य* में प्रश्नात्मक ढंग से कहा गया है कि जो उत्पन्न होता है वह प्रत्युत्पन्न है अथवा अनागत। यदि वह प्रत्युत्पन्न है तो उत्पन्न का पुनः उत्पन्न होना अनवस्था दोष से ग्रसित हो जायेगा। द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ क्षण में उत्पन्न होना, यही अनवस्था है। यदि अनागत उत्पन्न होता है तो असत् से क्रिया की उत्पत्ति कैसे होगी? अनागत से आशय ऐसे धर्म से है जिसने अपना स्वरूप ग्रहण नहीं किया हो। जब कर्तृत्व सिद्ध नहीं होगा तो कोई क्रिया भी सिद्ध नहीं होगी। अतः जिस अवस्था में वैयाकरणों के अनुसार उत्पन्न होता है वैसे ही वैभाषिक मत में हेतु-प्रत्यय की अपेक्षा से उत्पन्न होता है। अर्थात् उत्पाद की ओर उन्मुख

---

[262] न युक्त एव पदार्थः। वही, पृ. 358

[263] एकस्य हि कर्त्तुर्द्वयोः क्रिययोः पूर्वकालायां क्रियायां क्त्वाविधिर्भवति। तद्यथा- स्नात्वा भुङ्क्त इति। न चासौ पूर्वमुत्पादात् कश्चिदस्ति, यः पूर्वं प्रतीत्योत्तरकालमुत्पद्यते। वही, पृ. 358

[264] न चाप्यकर्तृकाऽस्ति क्रियते। वही, पृ. 358

[265] प्रत्येति पूर्वमुत्पादाद् यद्यसत्त्वान्न युज्यते। वही, पृ. 358

[266] सह चेत् क्त्वा न सिद्धोऽत्र पूर्वकालविधानतः॥ वही, पृ. 359

अनागत उत्पन्न होता है।[267] वैयाकरण पुनः प्रश्न करता है कि आपके मत में वह धर्म जो उत्पद्यमान होता है किस अवस्था में होता है? वसुबन्धु कहते हैं कि जो धर्म उत्पद्यमान होता है वह उत्पादाभिमुख अनागत धर्म है। सभी अनागत उत्पन्न नहीं होते, किन्तु उत्पादाभिमुख ही उत्पन्न होते हैं।[268] इस प्रकार उत्पादाभिमुख अनागत हेतु-प्रत्ययों की अपेक्षा करता है।

वैभाषिकों का मानना है कि शाब्दिकों की कर्त्ता और क्रिया की यह व्यवस्था काल्पनिक है। वैभाषिकों के अनुसार जो होता है (भवति), वह कर्त्ता है और उसका होना (भूति) ही क्रिया है। वैभाषिकों को कल्पित कर्त्ता और कल्पित क्रिया का अन्यत्व इष्ट नहीं है अर्थात् 'भवति' और 'भूति' भिन्न नहीं है। इसलिये शाब्दिकों की समस्त प्रक्रिया व्यवहारमात्र है, जिससे वस्तुस्थिति में कुछ भी परिवर्तन नहीं होता।[269] अतःएव प्रतीत्यसमुत्पाद शब्द का अर्थ है - 'इसके होने पर यह होता है; इसके उत्पाद से यह उत्पन्न होता है।[270]'

अभिधर्मकोशभाष्य में उपर्युक्त प्रकिया को संक्षिप्त करते हुये वसुबन्धु कहते हैं कि यदि वैयाकरण मानते हैं कि यह पूर्व असत् होकर उत्पद्यमान होता है तो वैभाषिक मतानुसार उसी प्रकार असत् होकर यह प्रत्ययों के प्रति गमन भी करता है। यदि वैयाकरण यह मानते हैं कि पूर्व सत् होकर यह उत्पद्यमान होता है तो वैभाषिकों के मत में उत्पन्न होकर यह पुनः-पुनः उत्पद्यमान होगा। अतः अनिष्ट का प्रसङ्ग होगा। अथवा विभाषा को प्रामाणिक मानने वालों का यह पक्ष है कि इसकी उत्पत्ति के काल में पूर्व सत्ता है।[271] दो क्रियाओं का एक कर्त्ता होने पर पूर्वकालिक क्रिया में ही केवल 'क्त्वा' का विधान नहीं होता, अपितु समानकालिक क्रियाओं में

---

[267] नैष दोषः, इदं तावदयं प्रष्टव्य शाब्दिकः – किमवस्थो धर्मः उत्पद्यते वर्त्तमानः, उताहोऽनागत इति? किं चात? यदि वर्त्तमान उत्पद्यते, कथं वर्त्तमानो यदि नोत्पन्नः। उत्पन्नस्य वा पुनरुत्पत्तावनस्थाप्रसङ्गः। अथानागत उत्पद्यते, कथमसतः कर्तृत्वं सिद्धत्यकर्तृका वा क्रियेति? अतो यदवस्थ उत्पद्यते तदवस्थ एव प्रत्येति। *अभि.को.भा.*, पृ. 359

[268] किमवस्थश्चोत्पद्यते? उत्पादाभिमुखोऽनागतः। तदवस्थ एव प्रत्ययं प्रत्येतीत्युच्यते। वही, पृ. 359

[269] अनिष्पन्नं चेदं यदुत शाब्दिकीयं कर्तृक्रिया व्यवस्थानं भवतीत्येष कर्त्ता, भूतिरित्येषा क्रिया। न चात्र भवितुरर्थात् भूतिमन्यां क्रियां पश्यामः। तस्मादच्छलं व्यवहारेषु। वही, पृ. 359

[270] अस्मिन् सत्यस्य भावः अस्योत्पादादिदमुत्पद्यत इति योऽर्थः सोऽर्थः प्रतीत्यसमुत्पादः इति। वही, पृ. 359

[271] असन्नुत्पद्यते यद्वत् प्रत्येत्यपि तथाऽथ सन्। उत्पन्न उत्पद्यत इत्यनिष्ठाऽसन् पुरापि वा॥ *अभि.को.भा.*, पृ. 359

भी क्त्वाविधि देखी जाती है। जैसे 'दीपं प्राप्य तमोगतम्' अर्थात् दीपक प्राप्त होने पर अन्धकार चला गया। यहाँ पर अन्धकार पहले दीपक को प्राप्त करके पीछे नहीं जाता, अपितु दीपक को प्राप्त करना और अन्धकार का जाना एक ही काल में हुआ है। एक अन्य उदाहरण 'मुखं व्यादाय शेते' अर्थात् मुख खोलकर सोता है, यहाँ पर भी कोई पहले मुख खोलता है और बाद में सोता है, ऐसा नहीं होता। मुख का खोलना और सोना दोनों एक ही काल में होता है।[272] अतः समान काल में भी क्त्वा प्रत्यय का होना विरुद्ध नहीं है। रामशङ्कर त्रिपाठी के अनुसार शब्दों का प्रयोग सर्वथा वक्ता की इच्छा के अधीन होता है और कल्पना के द्वारा उनका स्वरूप निर्धारित होता है। इसी तरह प्रतीत्यसमुत्पाद शब्द में प्रयुक्त क्त्वाप्रत्यय समानकालिक है। अङ्कुर और बीज के उदाहरण से इसे स्पष्ट करते हुये कहते हैं कि जिस समय अङ्कुरादि वस्तुयें उत्पन्न होती हैं, उसी समय वे बीजादि हेतु प्रत्ययों की अपेक्षा करती हैं। इस प्रकार एक ही काल में कर्त्ता और क्रिया आदि की व्यवस्थायें सुचारू रूप से घटित हो जाती हैं।[273]

वीप्सार्थक व्युत्पत्ति और उसका परिहार – भदन्त श्रीलाभ प्रतीत्यसमुत्पाद शब्द का एक भिन्न अर्थ करके 'क्त्वा' सम्बन्धी दोष का परिहार करते हैं। उनके अनुसार 'प्रति' वीप्सार्थक और 'इति' विनाशार्थक है। यहाँ 'तत्र साधुः'[274] सूत्र से इति से यत् प्रत्यय होकर इत्य शब्द बनता है, जिसका अर्थ अनवस्थायी अर्थात् विनाशिक होता है। उत् उपसर्ग पूर्वक 'पद्' धातु का अर्थ प्रादुर्भाव है। अतःएव प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ हुआ उन-उन हेतुसामग्रियों को प्राप्त कर विनश्वर धर्मों का समवाय में उत्पाद।[275] स्फुटार्था में इसे अधिक स्पष्ट करते हुये कहा गया है कि कोई भी

---

[272] सहभावेऽपि च क्त्वाऽस्ति दीपं प्राप्य तमो गतम्। आस्यं व्यादाय शेते वा पश्चाच्चेत् किं न संवृते॥ वही, पृ. 360

[273] *सौ.द.*, पृ. 243

[274] *अष्टा.*, 4/4/98, पृ. 302

[275] अन्ये पुनरस्य चोद्यस्य परिहारार्थमन्यथा परिकल्पयन्ति- प्रतिर्वीप्सार्थः, इतौ साधव इत्याः=अनवस्थायिनः, उत्पूर्वः पदिः प्रादुर्भावार्थः, तां तां कारणसामग्रीं प्रति इत्यानां समवायेनोत्पादः प्रतीत्यसमुत्पाद इति। *अभि.को.भा.*, पृ. 360

धर्म अकेला उत्पन्न नहीं होता। रूपादि तथा चित्त-चैत्तसिक आदि में सहोत्पाद का नियम होता है।[276]

भदन्त श्रीलाभ की तद्धितान्त इत्य शब्द बनाकर जो प्रतीत्यसमुत्पाद की व्युत्पत्ति की गई है, वह *प्रतीत्यसमुत्पादनिर्देशसूत्र* के लिये युक्त है किन्तु 'चक्षु और रूपप्रत्ययवश चक्षुर्विज्ञान उत्पद्यमान होता है' इत्यादि विशेष स्थलों पर यह कल्पना घटित नहीं होती।[277] अतःएव 'हेतुप्रत्ययान् प्राप्य समुत्पादः प्रतीत्यसमुत्पादः' यह व्युत्पत्ति समीचीन है, क्योंकि यह सामान्य और विशेष समस्त स्थलों पर घटित हो जाती है।

समुत्पाद और समुत्पन्न - वैभाषिक दर्शन के अनुसार हेतु को समुत्पाद तथा फल को समुत्पन्न कहा जाता है।[278] *अभिधर्मकोशभाष्य* के अनुसार जो अङ्ग हेतु कहलाता है वही प्रतीत्यसमुत्पाद है, क्योंकि उससे उत्पाद होता है। जो अङ्ग फल है वह प्रतीत्यसमुत्पन्न है क्योंकि वह उत्पन्न होता है।[279] अविद्यादि द्वादशाङ्गों में यदि 'अविद्या प्रत्यय से संस्कार' कहते हैं तो हेतुभूत अङ्ग होने से अविद्या प्रतीत्यसमुत्पाद तथा संस्कार प्रतीत्यसमुत्पन्न होगा। किन्तु यहाँ यह ध्यातव्य है कि वैभाषिकों के अनुसार सभी बारह अङ्गों का हेतुफलभाव है। अतः वह एक ही समय में प्रतीत्यसमुत्पाद और प्रतीत्यसमुत्पन्न दोनों हैं। ऐसा होने पर अव्यवस्थान नहीं होता क्योंकि एक अङ्ग उस अङ्ग के प्रति प्रतीत्यसमुत्पाद नहीं होता जिसके प्रति वह प्रतीत्यसमुत्पन्न है। यह भिन्न अङ्गों की अपेक्षा करते हैं।[280] पितृपुत्रवत् के उदाहरण में जैसे पुत्र

---

[276] न कश्चिद्धर्म एक उत्पद्यते; सहोत्पादनियमात्, रूपादीनाम्। *स्फु.*, पृ. 360

[277] एषा तु कल्पनाऽत्रैव युज्यते। इह कथं भविष्यति- 'चक्षुः प्रतीत्य रूपाणि चोत्पद्यते चक्षुर्विज्ञानम्' इति। *अभि.को.भा.*, पृ. 360

[278] हेतुरत्र समुत्पादः समुत्पन्नं फलं मतम्। *अभि.को.*, 3/28, पृ. 25

[279] हेतुभूतमङ्गं प्रतीत्यसमुत्पादः, समुत्पद्यतेऽस्मादिति कृत्वा। फलभूतमङ्गं प्रतीत्यसमुत्पन्नम्। *अभि.को.भा.*, पृ. 355

[280] एवं सर्वाण्यङ्गान्युभयथा सिध्यन्ति; हेतुफलभावात्। न चैवं सत्यव्यवस्थानं भवति, भिन्नापेक्षत्वात्। यदपेक्ष्य प्रतीत्यसमुत्पादो न तदेवापेक्ष्य प्रतीत्यसमुत्पन्नम्। *अभि.को.भा.*, पृ. 355

की अपेक्षा पिता पिता है तथा पिता की अपेक्षा पुत्र पुत्र है[281] वैसे ही संस्कार की अपेक्षा अविद्या अविद्या है तथा अविद्या की अपेक्षा संस्कार संस्कार है।

प्रतीत्यसमुत्पाद संस्कृत धर्म है अथवा असंस्कृत धर्म - *अभिधर्मकोशभाष्य* में महीशासक निकाय के मत को उद्धृत करते हुये प्रतीत्यसमुत्पाद को असंस्कृत बतलाया गया है। इसके लिये महीशासक एक सूत्रवचन प्रमाण के रूप में प्रस्तुत करते हैं, जिसमें कहा गया है कि 'तथागतों का उत्पाद हो या न हो किन्तु धर्मों की धर्मता तो स्थित होती है।[282]' महीशासकों के अनुसार अविद्यादि प्रत्यय से संस्कारादि का सदैव उत्पाद होता है, अन्य प्रत्ययवश नहीं तथा न ही अहेतुक होता है। यह प्रतीत्यसमुत्पाद की स्थिरता है।[283] वैभाषिकों को महीशासकों का यह मत अग्राह्य है। उनके मत में प्रतीत्यसमुत्पाद एक असंस्कृत अथवा नित्य धर्म नहीं हो सकता क्योंकि उत्पाद एक संस्कृत लक्षण है। किन्तु महीशासको के विकल्प में उत्पाद या प्रतीत्यसमुत्पाद एक नित्य भावान्तर होने के कारण यह अयुक्त है कि वह अनित्य अर्थात् संस्कृत का लक्षण हो।[284] संस्कृत धर्मों के तीन लक्षण बतलाये गये हैं - उत्पाद, व्यय और स्थिति।[285]

प्रतीत्यसमुत्पाद का पर्यायद्वय निर्देश - भगवान् बुद्ध ने प्रतीत्यसमुत्पाद का निर्देश पर्यायद्वय से किया है। प्रथम के अनुसार इसके होने पर यह होता है तथा द्वितीय के अनुसार उसकी उत्पत्ति

---

[281] यथा च यमपेक्ष्य पिता न तमपेक्ष्य पुत्रः, यमपेक्ष्य पुत्रो न तमपेक्ष्य पिता, किं तर्हि? तत्पुत्रमपेक्ष्य पितेति, पितरं चापेक्ष्य पुत्र इति। *स्फु.*, पृ. 355

[282] असंस्कृतः प्रतीत्यसमुत्पादः इति निकायान्तरीयाः। 'उत्पादाद्वा तथागतानामनुत्पादाद्वा तथागतानां स्थितैवेयं धर्माणां धर्मता' इति वचनात्। *अभि.को.भा.*, पृ. 357

[283] उत्पादाद्वा तथागतानामनुत्पादाद्वा नित्यमविद्यादीन् प्रतीत्य संस्कारादीनामुत्पादः, न कदाचिदप्रतीत्यान्यद्वा प्रतीत्यातो नित्य इतिः। वही, पृ. 357-58

[284] अथायमभिप्रायः- प्रतीत्यसमुत्पादो नाम किञ्चित् भावान्तरं नित्यमस्तीति; नैतदेवमिति प्रतिषेद्धव्यम्। वही, पृ. 358

[285] त्रीणीमानि संस्कृतस्य संस्कृतलक्षणानि, संस्कृतस्योत्पादोऽपि प्रज्ञायते, व्ययोऽपि, स्थित्यन्यथात्वमपि इति। *स्फु.*, पृ. 358

से यह उत्पन्न होता है।[286] तथागत प्रतीत्यसमुत्पाद का निर्देश पर्यायद्वय से (दो वाक्यों) से क्यों करते है?[287] वसुबन्धु ने *अभिधर्मकोशभाष्य* में इसके कई कारण बताये हैं। वे निम्न हैं –

- **निश्चय उत्पन्न करने के लिये -** प्रथम पर्याय से यह सिद्ध होता है कि अविद्या के होने पर संस्कार होते हैं, किन्तु यह असिद्ध है कि केवल अविद्या के होने पर ही संस्कार होते हैं। द्वितीय पर्याय पूर्व पर्याय का निश्चय करता है। अविद्या के ही उत्पाद से संस्कारों का उत्पाद होता है।[288] अर्थात् अविद्या के होने से ही संस्कार उत्पन्न होता है, नहीं होने पर नहीं होता।
- **अङ्ग परम्परा दिखाने के लिये -** इस अङ्ग के होने पर यह अङ्ग होता है।[289] अर्थात् अविद्या के होने पर ही संस्कार होता है तथा संस्कार अङ्ग के उत्पाद से ही विज्ञान अङ्ग होता है, किसी अन्य से कोई अन्य अङ्ग उत्पन्न नहीं होता।
- **जन्म–परम्परा दिखाने के लिये -** पूर्वभव के होने पर प्रत्युत्पन्न भव होता है; प्रत्युत्पन्न भव के उत्पाद से अनागत भव उत्पन्न होता है।[290]
- **साक्षात् और परम्परा से प्रत्ययभाव दिखाने के लिये -** अविद्यादि अङ्गों का प्रत्ययभाव साक्षात् अथवा पारम्पर्येण होता है। साक्षात् ढंग से 'उसके होने पर यह होता है' तथा पारम्पर्येण ढंग से 'उसके उत्पाद से यह उत्पन्न होता है।'[291] यथा अविद्या संस्कारों का साक्षात् प्रत्यय है और विज्ञान का पारम्पर्येण प्रत्यय है।

2.5. सत्त्व की जन्म प्रक्रिया और भवचक्र

---

[286] 'अस्मिन् सतीदं भवति, अस्योत्पादादिदमुत्पद्यते इति।' *अभि.को.भा.*, पृ. 360

[287] किमर्थं पुनर्भगवान् पर्यायद्वयमाह । वही, पृ. 360

[288] अवधारणार्थम्? यथाऽन्यत्राह – 'अविद्यायां सत्यां संस्कारा भवन्ति नान्यत्राविद्यायाः संस्काराः' इति। वही, पृ. 361

[289] अङ्गपरम्परां वा दर्शयितुम् – अस्मिन्नङ्गे सतीदं भवति, अस्य पुरङ्गस्योत्पादादिदमुत्पद्यत इति। वही, पृ. 361

[290] जन्मपरम्परां वा – पूर्वान्ते सति मध्यान्तस्योत्पादादपरान्त उत्पद्यत इति। वही, पृ. 361

[291] साक्षात् पारम्पर्येण च प्रत्ययभावं दर्शयति – कदाचिद्धि समनन्तरमविद्यायाः संस्कारा भवन्ति, कदाचित् पारम्पर्येणेति। वही, पृ. 361

सत्त्व की चतुर्विध योनियाँ – वैभाषिक दर्शन में अण्डजादि सत्त्वों की चार योनियाँ स्वीकृत हैं।[292] अण्डज, जरायुज, संस्वेदज तथा उपपादुक भेद से योनि चार प्रकार की हैं। योनि का अर्थ उत्पत्ति होता है।[293] अण्डजयोनि से आशय उन सत्त्वों से है, जो अण्डे से उत्पन्न होते हैं। यथा- हंस, क्रौञ्च, चक्रवाक, मयूर, शुक, सारिकादि ये सब अण्डे से उत्पन्न होते हैं। जो सत्त्व जरायु से उत्पन्न होते हैं, जरायुज कहलाते हैं। यथा गज, अश्व, गाय, भैंस, गर्दभ, शूकर आदि जरायुज के उदाहरण हैं।[294] पृथ्वी आदि भूतों के संस्वेद से उत्पन्न संस्वेदज कहा जाता है, जैसे कृमि, कीट, मशक आदि।[295] उपपादुक योनि से आशय उन सत्त्वों से है, जिनकी इन्द्रियाँ अविकल हैं और जो सभी हस्त-पादादि अङ्गों एवं अङ्गुल्यादि प्रत्यङ्गों से युक्त हैं। उपपादन कर्म में प्रवीण होने से चतुर्थ योनि को उपपादुक कहते हैं। उपपादुक योनि सकृत् होती है अर्थात् कललादि तथा शुक्र-शोणित के बिना ही शरीर की उत्पत्ति होती है। देव, नारक व अन्तराभव उपपादुक सत्त्व हैं।[296] मनुष्य और पक्षी चारों प्रकार की अण्डज, जरायुज, संस्वेदज व उपपादुक योनियों में उत्पन्न होते हैं। नारक, अन्तराभव व देव केवल उपपादुक होते हैं। प्रेत उपपादुक के साथ-साथ जरायुज भी होते हैं।[297] *स्फुटार्था* के अनुसार शैल और उपशैल स्थविरों का जन्म क्रौञ्ची के अण्डों से हुआ। मृगार (विशाखा) के बत्तीस पुत्रों तथा पाञ्चालराज की पत्नी महादेवी के 500 अण्डों से 500 पुत्रों का जन्म हुआ। सामान्य मनुष्य सभी जरायुज हैं। संस्वेदज मनुष्यों में राजा उपोषध के सिर के फोड़े से उत्पन्न मान्धाता, जानु के दो फोड़ों से चारु-उपचारु का जन्म, ब्रह्मदत्त की छाती के फोड़े से उत्पन्न उसकी पुत्री कपोतमालिनी तथा कदलीस्तम्भ से आम्रपाली का जन्म हुआ। षडिन्द्रिय

---

[292] चतस्रो योनयस्तत्र सत्त्वानामण्डजादयः। *अभि.को.*, 3/8, पृ. 22

[293] अण्डजा योनिर्जरायुजा संस्वेदजा उपपादुका योनिः। योनिर्नाम जातिः। *अभि.को.भा.*, पृ. 317

[294] अण्डजा योनिः कतमा? ये सत्त्वा अण्डेभ्यो जायन्ते। तद्यथा – हंसक्रोञ्चचक्रवाकमयूरशुकशारिकादयः। जरायुजा योनिः कतमा? ये सत्त्वा जरायोर्जायन्ते। तद्यथा – हस्त्यश्वगोमहिषखरवराहादयः। वही, पृ. 317

[295] संस्वेदजा योनिः कतमा? ये सत्त्वा भूतसंस्वेदाज्जायन्ते। तद्यथा – कृमिकीटपतङ्गमशकादयः। वही, पृ. 317

[296] उपपादुका योनिः कतमा? ये सत्त्वा अविकला अहीनेन्द्रियाः सर्वाङ्गप्रत्यङ्गोपेताः सकृदुपजायन्ते। अत एव उपपदाने साधुकारित्वाद् 'उपपादुकाः इत्युच्यन्ते, तद्यथा – देवनारकान्तराभविकादयः। वही, पृ. 318

[297] चतुर्धा नर-तिर्यञ्चः नारका उपपादुकाः। अन्तराभवदेवाश्च प्रेता अपि जरायुजाः॥ *अभि.को.*, 3/9, पृ. 22

मनुष्य उपपादुक होते हैं। अण्डजादि तीन प्रकार के पक्षी सामान्यतः ज्ञात हैं। नाग और गरुड़ उपपादुक होते हैं। मौद्गल्यायन तथा प्रेती के सम्वाद से जरायुज प्रेतों की भी सिद्धि होती है।[298]

बोधिसत्त्व और जरायुज योनि - अण्डजादि चारों योनियों में उपपादुक योनि श्रेष्ठ कहलाती है। उपपादुक के श्रेष्ठ होने पर भी बोधिसत्त्व जरायुज योनि में ही जन्म क्यों ग्रहण करते हैं। इसके पीछे वसुबन्धु ने दो कारण बताये हैं।

→ मनुष्यों के कुल में उत्पन्न होने से तथा उनके द्वारा प्राप्त सिद्धि को देखकर अन्य मनुष्यों को उत्साह मिलता है कि मनुष्य होकर इन्होंने यह सिद्धि प्राप्त की है। कोई भी मनुष्य इस प्रकार का बन सकता है। जरायुजोत्पत्ति होने से सामान्य जन तथा अन्य तैर्थिक उन्हें मायावी, देव अथवा पिशाच समझकर अपभाषण नहीं करते हैं।[299]

→ बोधिसत्त्व इसलिये जरायुजयोनि में उत्पन्न होते हैं, जिससे महापरिनिर्वाण के पश्चात् उनके शरीरधातु का अवस्थापन हो सके, जिससे प्रेरणा लेकर अन्य मनुष्य स्वर्ग तथा मोक्ष प्राप्त कर सके। शुक्र-शोणित के अभाव में उपपादुक सत्त्व का शरीर मृत्यु के पश्चात् अवस्थान नहीं करता।[300]

अन्तराभव - वैभाषिकों के अनुसार अन्तराभव को स्वीकार किया गया है। अन्तराभव से आशय मरणभव और उपपत्तिभव के मध्य अन्तराल से है। दो गतियों के मध्य में होने से इसे अन्तराभव कहते हैं। गति पाँच हैं- नरक, तिर्यक्, प्रेत, देव और मनुष्य।[301] गम्य देश में, प्राप्त न होने से इसे उपपन्न अर्थात् उपपत्ति से युक्त नहीं माना जा सकता।[302] अन्तराभव सदैव मरण के पूर्व और उपपत्ति क्षण के पर होता है।[303] देवादि सजातीय अन्तराभव और दिव्यचक्षुओं से उसे देखा जा

---

[298] *स्फु.*, पृ. 318-19

[299] मनुष्यभूता अपि चैनां सिद्धिं गच्छन्ति' इति विनेयानामुत्साहार्थम्। इतरथा ह्यप्रज्ञायमानकुलगोत्रः कोऽप्ययं मायापुरुषः- इत्येवं परिकल्पयेयुः, देवः पिशाच इति वा। *अभि.को.भा.*, पृ. 319

[300] शरीरधातूनामवस्थापनार्थं येषु मनुष्या अन्ये च प्रजां विधाय सहस्रशः स्वर्गं च प्राप्ता अपवर्गं चेति उपपादुकानां हि सत्त्वानां बाह्यजीवाभावान्मृतानां कायो नावतिष्ठते। वही, पृ. 319

[301] नरकाः, तिर्यञ्च, प्रेताः, देवाः, मनुष्याः – इति स्वैरेव नामभिस्तेषु पञ्च गतयः प्रोक्ता। वही, पृ. 308

[302] मृत्युपपत्तिभवयोरन्तरा भवतीह यः। गम्यदेशाऽनुपेतत्वात् नोपपन्नोऽन्तराभवः॥ *अभि.को.*, 3/10, पृ. 22

[303] स पुनर्मरणात्पूर्व उपपत्तिक्षणात्परः। *अभि.को.*, 3/13, पृ. 23

सकता है।[304] देव स्वयं के अन्तराभवसहित मनुष्य, प्रेत, पक्षी एवं नारक के अन्तराभव को देख सकता है। मनुष्य देव को छोड़कर स्वयंसहित अन्य के अन्तराभव को देख सकता है। ऐसे ही पक्षी व नारकसहित स्वयं को प्रेत; नारक एवं स्वयं के अन्तराभव को पक्षी तथा स्वयं के अन्तराभव को नारक देख सकता है।[305] यह अन्तराभव कर्म-बल तथा पाँचों इन्द्रियों से युक्त है। उसका कोई प्रतिघात नहीं कर सकता। जिस गति के अनुसार आकृति है, उसी गति में वह जन्म लेता है तथा उसका निवर्तन नहीं होता। गन्ध का भक्षण करने से वह गन्धभुक् अथवा गन्धर्व कहलाता है।[306] अल्पेशाख्य गन्धर्व दुर्गन्ध खाता है जबकि महेशाख्य सुगन्ध खाता है।[307]

अन्तराभव का अवस्थान काल - अन्तराभव कितने काल तक अवस्थान करता है? इसके प्रत्युत्तर में *अभिधर्मकोशभाष्य* में कहा गया है कि जब तक उत्पत्ति के लिये आवश्यक हेतुओं का सन्निपात नहीं होता तब तक वह अवस्थान करता है।[308] विभाषा के अन्य आचार्यों में से वसुमित्र का मानना है कि अन्तराभव सात दिन तक अवस्थान करता है। यदि उपपत्ति के लिये आवश्यक प्रत्यय सामग्री नहीं है तो अन्तराभव की मत्यु हो जाती है तथा पुनः उत्पत्ति होती है।[309] कुछ सात सप्ताह का समय निर्धारित करते हैं।[310] वैभाषिकों के मत में यह अवस्थान अल्प काल के लिये होता है। प्रतिसन्धि-ग्रहण करने वेग से जाते हुये अन्तराभव के लिये यदि बाह्य प्रत्ययसामग्री उपलब्ध नहीं है तो पूर्वकृत कर्म प्रत्ययसामग्री का आवाहन करते हैं। इन कर्मों के

---

[304] समानजातीयैरेवान्तराभवैर्दृश्यते। येषां दिव्यं चक्षुः सुविशुद्धमभिज्ञामयं त एनं पश्यति। *अभि.को.भा.*, पृ. 335

[305] देवान्तराभविकः सर्वान् देवान्तराभविकादीन् पश्यति। मनुष्यप्रेततिर्यङ्नारकान्तराभविकान् पश्यति, प्रेतान्तराभविको देवमनुष्यान्तराभविकौ पूर्वावपस्य प्रेततिर्यङनारकान्तराभविकान् पश्यति, एवं यावन्नारकान्तराभविको देवान्तराभविकादीन् पूर्वानपास्य नारकान्तराभविकानेव पश्यति। *स्फु.*, पृ. 335

[306] स जातिशुद्धदिव्याक्षिदृश्यः कर्मर्द्धिवेगवान्। सकलाक्षोऽप्रतिघवान् अनिवर्त्यः स गन्धभुक्॥ *अभि.को.*, 3/14, पृ. 23

[307] अल्पेशाख्यस्तु दुर्गन्धाहारः, महेशाख्यः सुगन्धहारः। *अभि.को.भा.*, पृ. 336; अल्पेशाख्यः अनुदारो हीनजातीय इत्यर्थः। *स्फु.*, पृ. 336

[308] कियन्तं कालमवतिष्ठते? ... यावदुपपत्तिसामग्रीं न लभते नहि तस्यायुषः। *अभि.को.भा.*, पृ. 336

[309] सप्ताहं तिष्ठतीति भदन्तवसुमित्रः। यदि तावता सामग्रीं न लभन्ते तत्रैव पुनश्च्युत्वा जायन्ते। वही, पृ. 336

[310] सप्ताहानीत्यपरे। वही, पृ. 337

अनुसार उपपत्ति का स्थान और स्वभाव निर्धारित होते हैं। जब यह नियत नहीं है तो उपपत्ति एक अन्य स्थान में होती है तथा अन्य स्वभाव की होती है।[311]

अन्तराभव की प्रतिसन्धि – अन्तराभव की प्रतिसन्धि किस प्रकार होती है? गम्य गति-देश को गमन करने के लिये ही अन्तराभव का उत्पाद होता है। कर्मों के प्रभाव से यह दिव्य-चक्षु से समन्वागत होता है। यह अपने उत्पत्ति-देश को देखता है। वहाँ वह अपने माता-पिता की विप्रतिपत्ति को देखता है। उसकी गति अनुनय-सहगत और प्रतिघ-सहगत चित्त से विपर्यस्त होती है। यदि वह पुरुष है तो माता के प्रति उसमें पौंस्न राग उत्पन्न होता है; यदि वह स्त्री है तो उसमें पिता के प्रति स्त्रैणराग उत्पन्न होता है। इसके विपर्यय, पिता के लिये यह माता के लिये उसके प्रतिघ उत्पन्न होता है। जैसा कि प्रज्ञप्ति में कहा गया है कि 'तब गन्धर्व में रागचित्त या द्वेषचित्त उत्पन्न होता है।[312]'

इन दो विपर्यस्त चित्तों से विपर्यस्तमति होकर तथा रमण करने की कामना से युक्त वह उस देश में आश्लिष्ट होता है, जहाँ इन्द्रियद्वय आश्लिष्ट हैं और उस विप्रत्तिपत्ति अवस्था की अपने में अधिमुक्ति करता है। उस समय गर्भस्थान में अपवित्र शुक्र और शोणित होते हैं। अन्तराभव सुख का आस्वादन कर वहाँ अभिनिविष्ट होता है। उस काल से स्कन्धों का काठिन्य होता है। अन्तराभव विनष्ट होता है। उपपत्ति-भव, जिसे 'प्रतिसन्धि' कहते हैं, उत्पन्न होता है। यदि गर्भ पुरुष है तो यह योनि के दक्षिण पार्श्व में पृष्ठाभिमुख उत्कृटुक अवस्थित होता है और यदि वह स्त्री है तो गर्भ योनि के वाम पार्श्व में कुक्षि के अभिमुख अवस्थित होता है। जो अव्यञ्जन है वह उस इर्यापथ में पाया जाता है जिसमें अन्तराभव रतिक्रिया की कल्पना के समय होता है। वास्तव में अन्तराभव सकल इन्द्रियों से समन्वागत होता है। अतः वह पुरुष या स्त्री के रूप में प्रवेश करता है

---

[311] अल्पं कालमिति वैभाषिकाः। स हि सम्भवैषित्वात् सन्धावगत्वा सन्धिं बध्नातीति यथात्वसमग्राः प्रत्यया भवन्ति। नियतं चानेन- तस्मिन् देशे तस्यां जातौ जनितव्यं भवति, तदा कर्माण्येव प्रत्ययानां सामग्रीमावहन्ति। अथानियतं ततोऽन्यत्र देशे तस्यां जातौ जायते सदृश्यामिति। *अभि.को.भा.*, पृ. 337

[312] स हि कर्मप्रभावसम्भूतेन चक्षुषा सुदूरस्थोऽपि स्वमुपपत्तिदेशं प्रेक्षते। तत्रास्य पित्रोस्तां विप्रतिपत्तिं दृष्ट्वा पुंसः सतः पौंस्नो राग उत्पद्यते मातरि, स्त्रियाः सत्याः स्त्रैणो राग उत्पद्यते पितरि। विपर्ययात् प्रातिघः। एवं पठ्यते प्रज्ञप्तौ – 'गन्धर्वस्य तस्मिन् समये द्वयोश्चित्तयोरन्यतरान्यतरच्चित्तं सम्मुखीभूतं भवत्यनुनयसहगतं वा प्रतिघसहगतं वा' इति। वही, पृ. 337

और अपने व्यञ्जन के अनुरूप अवस्थान करता है। प्रतिसन्धि के अनन्तर गर्भ की वृद्धि होती है और तभी वह अपने व्यञ्जन का त्याग कर सकता है।[313]

सत्त्व का आश्रय - प्रश्न है कि अभिनव सत्त्व के चक्षुरादि इन्द्रियभूत इस उपादायरूप का आश्रय क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में मतवैविध्य है। एक मत शुक्र और शोणित के महाभूत को आश्रय मानता है जबकि दूसरा इनसे भिन्न महाभूत को स्वीकार करता है, जो कर्म से अभिनिर्वृत्त और जिनका सन्निश्रय शुक्र और शोणित है। प्रथम मत के अनुसार शुक्र और शोणित अनिन्द्रिय हैं। जब अन्तराभव निरुद्ध होता है तब उनके इन्द्रियाँ होती हैं। यह गर्भ की प्रथमावस्था है जिसे 'कलल' कहा जाता है। जैसे बीज के निरोध के क्षण में अङ्कुर का उत्पाद होता है, ठीक वैसे ही कलल की उत्पत्ति होती है।[314] द्वितीय मतानुसार भिन्न महाभूत इन्द्रियों के आश्रय हैं। शुक्रशोणितभूत कलल से शरीर सम्भूत होता है। किन्तु 'कलल' शब्द के वचन से यह अभिप्राय है कि अशुचि शुक्रशोणित के सन्निश्रय से भूतान्तर की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार जरायुज और अण्डज योनि के सत्त्व अपने गति-देश को जाते हैं।[315] संस्वेदज योनि के सत्त्व गन्ध की कल्पना से अपने गति-देश को जाते हैं। कर्म-प्रत्ययवश यह शुद्ध या अशुद्ध होता है। उपपादुक योनि के सत्त्व स्थान की अभिलाषा से जाते हैं।[316] किन्तु प्रश्न है कि नरक में आवास की अभिलाषा कैसे हो सकती है? नरकावस्था में भी अन्तराभव की मति विपर्यस्त होती है और वह अयथार्थ का ग्रहण करने से नरक की ओर जाता

---

[313] स ताभ्यां विपर्यस्तो रन्तुकामतया तं देशमाश्लिष्य तामवस्थामात्मन्यधिमुच्यते। तस्मिंश्चाशुचौ गर्भस्थानसम्प्राप्ते जातहर्षोऽभिनिविशते। ततोऽस्य स्कन्धा घनीभवन्ति, अन्तराभवस्कन्धाश्चान्तर्धीयन्ते इत्युपपन्नो भवति। स चेत् पुमान् भवति मातुर्दक्षिणकुक्षिमाश्रित्य पृष्ठाभिमुख उत्कुटुकः सम्भवति; अथ स्त्री ततो वामकुक्षिमाश्रित्योदराभमुखी, अथेदानीं नपुंसक् तद्येन रागेणाश्लिष्टं तथा तिष्ठत। न चास्त्यन्तराभवो व्यन्तरः; सकलेन्द्रियत्वात्। अतः स्त्रीभूतः पुरुषभूतो वाऽनुप्रविश्य यथास्थानं तिष्ठति पश्चात् गर्भ आप्यायमानो नपुंसकं भवतीति।*अभि.को.भा.*, पृ. 337-38

[314] अनिन्द्रियं हि शुक्रशोणितमन्तराभवेन सार्धं निरुध्यते, सेन्द्रियं प्रादुर्भवति। बीजाङ्कुरनिरोधोत्पादन्यायेन यत्तत कललमित्याख्यायते। वही, पृ. 338

[315] अशुचिसन्निश्रयोत्पत्त्यभिसन्धिवचनात् तु कललस्य सूत्रविरोध इति। एवं तावदण्डजां च योनिं प्रतिपद्यते। वही, पृ. 338

[316] संस्वेदजां योनिं प्रतिपद्यमान उपपत्तिस्थानं गन्धाभ्षात् गच्छत्यमेध्यम्, मेध्यं वा यथाक्रमम्। उपपादुकां तु योनिं प्रपद्यमानः स्थानाभिलाषात्। वही, पृ. 339

है।[317] देव अन्तराभव देवगति को प्राप्त होते हैं तथा आसन से उठते हुये वे ऊर्ध्व गमन करते हैं। मनुष्य, तिर्यक्, प्रेत अन्तराभव मनुष्यादिवत् गमन करते हैं। नारक पैर ऊपर कर के जाता है।[318]

चार गर्भावक्रान्ति - इस प्रकार अन्तराभव कुक्षि में जरायुज और अण्डज प्रतिसन्धि ग्रहण करते हैं। यह एक सामान्य नियम नहीं है। सूत्रानुसार गर्भावकान्ति चार प्रकार की होती है। एक सम्प्रजन्य के साथ प्रवेश करता है; अपर सम्प्रजन्य के साथ अवस्थान भी करता है; अपर सम्प्रजन्य के साथ निष्क्रमण भी करता है; अपर मूढचित्त से यह सब करता है। अण्डज नित्य मूढ होता है।[319] अण्ड से उत्पन्न सत्त्व पहले कुक्षि में प्रवेश करता है। बाद में अण्डे से उत्पन्न होता है। जिस सत्त्व का सम्प्रजन्य है वह जानता है कि वह कुक्षि में प्रवेश करता है, वहाँ अवस्थान करता है और वहाँ से निष्क्रान्त होता है।[320] इनके इतर अन्य तीन गर्भावक्रान्तियाँ चक्रवर्तिन् और दो स्वयम्भू (प्रत्येक बुद्ध और सम्बुद्ध) हैं। ये तीनों क्रमशः कर्म की विशदता से, ज्ञान की विशदता से और कर्म व ज्ञान की विशदता से ज्ञेय हैं।[321] चकवर्तिन् सम्प्रजन्य के साथ प्रवेश करता है किन्तु सम्प्रजन्य के साथ वहाँ अवस्थान नहीं करता और न सम्प्रजन्य के साथ वहाँ से निष्क्रमण करता है। प्रत्येक बुद्ध अवस्थान करता है किन्तु सम्प्रजन्य के साथ निष्क्रमण नहीं करता। बुद्ध नित्य सम्प्रजन्यसहित होते हैं। इन तीनों की भाविनी सञ्ज्ञा होती है।[322] चतुर्थ गर्भावकान्ति वह है जो

---

[317] कथं नरकेषु स्थानाभिलाषः? विपर्यस्तबुद्धित्वात्। *अभि.को.भा.*, पृ. 339

[318] तत्र पुनर्देवान्तराभव ऊर्ध्वं गच्छत्यासनादिवोत्तिष्ठन् मनुष्यतिर्यक्प्रेतानां मनुष्यादिवत्। वही, पृ. 339; ऊर्ध्वपादास्तु नारकः। *अभि.को.*, 3/15, पृ. 23

[319] सम्प्रजानन् विशत्येकः तिष्ठत्यप्यपरोऽपरः। निष्क्रामत्यपि सर्वाणि मूढो हि नित्यमण्डजः॥ *अभि.को.*, 3/16, पृ. 24

[320] सम्प्रजानँस्तु सम्यक् प्रजानाति-मातुः कुक्षिं प्रविशामि, अत्रैव तिष्ठामि, अत एव निर्यामी। *अभि.को.भा.*, पृ. 341

[321] गर्भावक्रान्तयस्तिस्रः चक्रवर्त्तिस्वयंभुवाम्। कर्मज्ञानोभयेषां वा विशदत्वाद् यथाक्रमम्॥ *अभि.को.*, 3/17, पृ. 24

[322] चक्रवर्त्तिनश्च स्वयम्भुवोश्च प्रत्येकबुद्धसम्बुद्धयोश्च। यथाक्रममित्यन्ते वक्ष्यति। तत्र प्रथमा चक्रवर्त्तिनः। स हि प्रविशत्येव सम्प्रजानन् न तिष्ठति नापि निष्क्रामति। प्रत्येकबुद्धस्तिष्ठत्यपि। बुद्धो निष्क्रामत्यपि। अत्रापि भाविन्या संज्ञया निर्देशः। *अभि.को.भा.*, पृ. 341

सम्प्रजन्य के बिना होती है। यह उन सत्त्वों के लिये है जिनके महान् कर्म नहीं हैं और न जिनकी प्रज्ञा महती है।[323]

आत्मवाद, संक्रान्ति और स्कन्ध –आत्मा में विश्वास करने वाले पूर्वपक्षी[324] कहते हैं कि यदि वैभाषिक यह स्वीकार करते हैं कि सत्त्व अन्य लोक को जाता है तो आत्मा की सिद्धी होती है।[325] साङ्ख्याचार्य आत्मा को पुरुष कहते हैं। उनके अनुसार आत्मा एक द्रव्य है, जो एक भव के स्कन्धों का परित्याग कर अन्य भव के स्कन्धों का ग्रहण करती है।[326]

वैभाषिक मानते हैं कि कर्म है, फल है, किन्तु कोई कारक नहीं है, जो धर्मों के सङ्केत अर्थात् हेतुफल सम्बन्धव्यवस्था से पृथक् इन स्कन्धों का परित्याग और उन स्कन्धों का ग्रहण करता है। यह सङ्केत आत्मा के अनस्तित्व को बतलाता है। इसके होने पर वह होता है।[327] पञ्चस्कन्ध क्षणिक है तथा यह संसरण में असमर्थ है।[328] इस प्रकार वैभाषिक आत्मा के अस्तित्व को नहीं मानते। वैभाषिक केवल स्कन्धमात्र को ही मानते हैं, जो कर्म और क्लेश से अभिसंस्कृत होकर अन्तराभव सन्तति के द्वारा माता की कुक्षि में प्रवेश करता है।[329] वही स्कन्ध सन्तान मरणभव से उपपत्तिभव पर्यन्त विस्तृत होता है और इसका स्थान अन्तराभवसन्तति लेती है।

---

[323] देव, नरेन्द्र, *अभिधर्म कोश*, प्रथम भाग, पृ. 301

[324] पूर्वपक्ष के रूप में यहाँ साङ्ख्य और वैशेषिकों को स्वीकार किया गया है। अभिधर्मकोशभाष्य के अष्टम कोशस्थान में पुद्गलविनिश्चय में इन दोनों (बाह्यक) तथा वात्सीपुत्र (आभ्यन्तर) का खण्डन किया गया है। इन्हें तैर्थिक/तीर्थिक भी कहा गया है।

[325] अत्रेदानीं बाह्यका आत्मवादं परिगृह्योत्तिष्ठन्ते - यदि सत्त्वो लोकान्तरं सञ्चरतीति प्रतिज्ञायते सिद्ध आत्मा भवतीति? *अभि.को.भा.*, पृ. 341

[326] य इमान् निक्षिपत्यन्यांश्च स्कन्धान् प्रतिसन्दधातीति परिकल्प्यते, स तादृशो नास्त्यन्तर्व्यापारपुरुषः। वही, पृ. 341

[327] अस्ति कर्मास्ति विपाकः, कारकास्तु नोपलभ्यते य इमांश्च स्कन्धान्निक्षिपति अन्यांश्च स्कन्धान् प्रतिसन्दधात्यन्यत्र धर्मसंकेतात्। वही, पृ. 341-42

[328] क्षणिकाः हि स्कन्धाः, तेषां सञ्चरितुं नास्ति शक्तिः। वही, पृ. 342

[329] नात्मास्ति स्कन्धमात्रं तु कर्मक्लेशाभिसंस्कृतम्। अन्तराभवसन्तत्या कुक्षिमेति प्रदीपवत्॥ *अभि.को.*, 3/18, पृ. 24

स्कन्ध राशि को कहते हैं।[330] स्कन्ध से आशय रूपस्कन्ध, वेदनास्कन्ध, सञ्ज्ञास्कन्ध, संस्कारस्कन्ध एवं विज्ञानस्कन्ध के समूह अर्थात् राशि से है। नरेन्द्र देव के अनुसार जैसे लोक में स्कन्ध शब्द का अर्थ कन्धा होता है, जो भार को वहन करता है। वैसे ही नामरूप स्कन्ध षडायतन को वहन करता है।[331] प्रत्येक प्राणी कुछ भौतिक तथा मानसिक स्कन्धों से बना है। इनमें से पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु- इन चार भौतिक तत्त्वों का परिणाम यह रूप है, जिसे शरीर कहते हैं। नामस्कन्ध का निर्माण अन्य चारों वेदना, सञ्ज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान से होता है। वेदना सुख, दुःख एवं अनुभय अनुभव को कहते हैं। वेदना के छः प्रकार हैं, जो छः इन्द्रियों तथा उनके विषय से उत्पन्न होने वाले संस्पर्श से उत्पन्न होता है।[332] सञ्ज्ञा निमित्त अर्थात् वस्तुओं की अवस्थाविशेष को बतलाती है। नीलत्व, पीतत्व, दीर्घत्वादि स्वभावों का उद्ग्रहण ही सञ्ज्ञा है। वेदना की भाँति षड्विध है।[333] रूप, वेदना, सञ्ज्ञा तथा विज्ञान से भिन्न चतुर्थ संस्कारस्कन्ध है।[334] संस्कृत का अभिसंस्कार करने से इसे उपादानस्कन्ध कहते हैं।[335] विज्ञानस्कन्ध प्रत्येक विषय की विज्ञप्ति है तथा चक्षुर्विज्ञानादि भेद से छः प्रकार का होता है।[336]

गर्भावस्था और भवचक्र - वैभाषिक के अनुसार जब कर्म तथा क्लेश से अभिसंस्कृत होकर अन्तराभव सन्तति के द्वारा माता की कुक्षि में प्रविष्ट होता है, तो आक्षेपक हेतु के अनुरूप सन्तान की क्रमशः वृद्धि होती है और कर्म-क्लेश के योग से यह पुनः परलोक को जाता है।

---

[330] राश्यर्थः स्कन्धार्थ इति। *अभि.को.भा.*, पृ. 46

[331] देव, नरेन्द्र, *अभिधर्म कोश*, प्रथम भाग, पृ. 33

[332] वेदनाऽनुभवः। *अभि.को.*, 1/14, पृ. 14; त्रिविधोऽनुभवो वेदनास्कन्धः - सुःख, दुःख, अदुःखासुखाश्च। स पुनर्भिद्यमानः षड् वेदनाकायाः चक्षुःसंस्पर्शजा वेदना यावन्मनः संस्पर्शजा वेदनेति। *अभि.को.भा.*, पृ. 39

[333] सञ्ज्ञा निमित्तोद्ग्रहणात्मिका। *अभि.को.*, 1/14, पृ. 14; यावन्नीलपीतदीर्घह्रस्वस्त्रीपुरुषमित्रामित्रसुखदुःखादि निमित्तोद्ग्रहणमसौ सञ्ज्ञास्कन्धः। स पुनर्भिद्यमानः षट् सञ्ज्ञाकाया वेदनावत्। *अभि.को.भा.*, पृ. 39

[334] रूपवेदनासञ्ज्ञाविज्ञानेभ्यश्चतुर्भ्योऽन्ये तु संस्काराः संस्कारस्कन्धः। *अभि.को.भा.*, पृ. 39

[335] संस्कृतमभिसंस्करोति तस्मात् संस्कारा उपादानस्कन्ध इत्युच्यते। वही, पृ. 40

[336] विषयं विषयं प्रति विज्ञप्तिरुपलब्धिर्विज्ञानस्कन्ध इत्युच्यते। स पुनः षड् विज्ञानकायाः चक्षुर्विज्ञानं यावन्मनोविज्ञानमिति। वही, पृ. 41

कर्मक्लेशप्रत्ययवश उत्पत्ति, उत्पत्तिवश पुनः कर्मक्लेशादि से भवचक्र अनादि है।[337] आयुष्य कर्म सत्त्वों के अनुसार भिन्न-भिन्न हैं। अतः सब स्कन्धसन्ततियाँ एक ही काल के लिये उस भव में आक्षिप्त नहीं होती हैं, जहाँ वे प्राप्त होती हैं। अतः सन्तति की वृद्धि उतने काल तक होती है जितने काल के लिये वे आक्षिप्त हैं। यह वृद्धि क्रमशः होती है।[338] माता की कुक्षि में पहले कलल, कलल से अर्बुद, अबुर्द से पेशिन्, पेशिन् से घन तथा घन से प्रशाखा, केश, लोम, नखादि और उनके साथ उनके अधिष्ठान, रूपीन्द्रिय उत्पन्न होते हैं। कललादि गर्भ की पाँच अवस्थायें हैं।[339] कुछ समय पश्चात् जब यह गर्भशल्य परिपक्व होता है तो माता की कुक्षि में कर्मविपाक से उत्पन्न वायु समुत्थित होती है, जो गर्भ को उत्पत्तिद्वार की ओर सञ्चालन करती है। इसका सञ्चालन कठिन है, क्योंकि वहाँ मलमूत्रादि अशुचि एकत्र रहती है। कभी माता के आहार के प्रतिकूल प्रत्ययों के कारण या कर्म के कारण गर्भ का व्यापाद अर्थात् निरोध होता है। तब एक कुशल स्त्री अपने हाथों को सब प्रकार की औषधियों से अभिषिक्त कर एक तीक्ष्ण शस्त्र ले कर उनको योनि में प्रवेश करती हैं। योनिस्थान की तुलना वर्चस्कूप से की गई है। क्योंकि वहाँ तीव्र दुर्गन्ध और अन्धकार होता है; वह मल का पल्वल है; शुक्र, शोणित, लसीका आदि मल से वह क्लिन्न-विक्लिन्न होता है। वह स्त्री उस गर्भ के अङ्ग–प्रत्यङ्ग का छेद कर उसे बाहर खींचती है और गर्भसन्तान अपरपर्यायवेदनीय कर्मों के योग से कहाँ जाता है, इसके बारे में ज्ञात नहीं है।[340] यदि गर्भोत्पत्ति सुखकर होती है, तो शिशु की अभिलाषा करने वाली माता और परिचारिका अचिरोत्पन्न बालक को हाथों में लेते हैं। इनके हाथ का संस्पर्श इस शिशु की काया के लिये

---

[337] यथाऽऽक्षेपं क्रमाद्वृद्धः सन्तानः क्लेशकर्मभिः। परलोकं पुनर्यातीत्यनादिभवचक्रकम्॥ *अभि.को.*, 3/19, पृ. 24

[338] न हि सर्वस्य स्कन्धसन्तानस्याक्षेपस्तुल्यो भवति; आयुष्यस्य कर्मणो भेदात्। अतो यस्य यावानाक्षेपस्तस्य तावती वृद्धिः क्रमेण भवति। *अभि.को.भा.*, पृ. 342

[339] कललं प्रथमं भवति कललाज्जायतेऽर्बुदः। अर्बुदाज्जायते पेशी पेशीतो जायते घनः॥ घनात् प्रशाखा जायन्ते केशरोमनखादयः। इन्द्रियाणि च रूपीणि व्यञ्जनान्यनुपूर्वशः॥ एताः पञ्च गर्भावस्थाः कललार्बुदपेशीघनप्रशाखावस्थाः। वही, पृ. 342

[340] वही, पृ. 343

नवीन व्रण के तुल्य, शस्त्र और क्षार का सा प्रतीत होता है। वे बालक को अपने हाथों से स्नान कराते हैं; स्तनपान और नवनीत से उसे भोजन कराते हैं; पश्चात् उसे कवळीकार[341] आहार देते हैं, जिससे उसकी वृद्धि होती है। इस वृद्धि के कारण इन्द्रियों का परिपाक होता है और क्लेशों का समुदाचार होता है। इससे कर्म का उत्पाद होता है। और जब काय का विनाश होता है तब पूर्ववत् कर्म–क्लेशवश सन्तान अन्तराभव द्वारा अन्य भव को गमन करता है।[342]

कर्मक्लेशप्रत्ययवश उत्पत्ति; उत्पत्तिवश कर्मक्लेश; कर्मक्लेशप्रत्ययवश पुनः उत्पत्ति; अतः भवचक्र अनवरत चलते रहने से अनादि है। यदि आदि हो तो आदि का अहेतुकत्व मानना होगा और यदि किसी एक धर्म की उत्पत्ति अहेतुक होती है तो सब धर्मों की उत्पत्ति अहेतुक होगी। किन्तु देश और काल के प्रतिनियम से यह देखा जाता है कि बीज अङ्कुर का उत्पाद करता है, अग्नि पाकज का उत्पाद करती है। अतः कोई प्रादुर्भाव निर्हेतुक नहीं है। किन्तु यदि हेतुप्रत्यय का विनाश हो तो हेतुप्रत्यय से उत्पत्ति नहीं होगी यथा बीज के दग्ध होने से अङ्कुर की उत्पत्ति नहीं होती।[343]

यदि रूपादि पञ्चस्कन्ध के प्रवाह में अविद्या और संस्कार ये दो अङ्ग अतीत जन्म से, जाति और जरामरण ये दो अनागत जन्म से और शेष आठ वर्तमान जन्म से सम्बन्ध रखते हैं। अविद्या और संस्कार गर्भस्थापन से पूर्व की अवस्थायें हैं। उनके बाद पाँचों स्कन्ध गर्भ में आते हैं। माता की कुक्षिगत या योनिगत अनुपजात दशा विज्ञान है। उसके बाद जन्म लेने तक दो अवस्थाएँ होती हैं, जिन्हें नामरूप और षडायतन कहा जाता है। जब षडायतन के रूप में यह संघातमय शरीर जन्म ले लेता है, तो उसके बाद स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान और भव ये पाँच अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं। कर्म की वह शक्ति भव है, जो कृत और उपचित कार्यों के फलस्वरूप पुनर्भव का कारण

---

[341] पिण्डीकृत्य गिलनात् कवलीकारः। *स्फु.*, पृ. 389

[342] *अभि.को.भा.*, पृ. 343

[343] वही, पृ. 343-44

बनती है। शरीर के रूप में संगठित पञ्चस्कन्ध जब बिखर जाते हैं तो अनागत जीवन में जाति और जरामरण ये दो अवस्थायें होती हैं। वर्तमान जीवन का विज्ञान अगले जीवन या पुनर्भव के लिये जाति के रूप में विद्यमान रहता है और वर्तमान जीवन के नामरूप, षडायतन, स्पर्श और वेदना ये अगले जीवन को उत्पन्न करने के लिये जरा–मरण के रूप में रहते हैं।

2.6. वैभाषिक दर्शन के अनुसार द्वादशाङ्ग का विश्लेषण

भवचक्र को ही प्रतीत्यसमुत्पाद कहा जाता है। प्रतीत्यसमुत्पाद के द्वादश अङ्ग और तीन काण्ड हैं। पूर्वकाण्ड के दो, अपरान्त के दो और मध्य के आठ अङ्ग हैं।[344] द्वादशाङ्ग हैं– अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति और जरामरण।[345] वैभाषिकों ने इन द्वादशाङ्गों में से अविद्या और संस्कार को पूर्वान्त में; जाति और जरामरण को अपरान्त में तथा शेष आठ अङ्गों को मध्य में वर्गीकृत किया है। पूर्वान्तकाण्ड का सम्बन्ध अतीत से, अपरान्तकाण्ड का सम्बन्ध अनागत से तथा मध्यकाण्ड का सम्बन्ध वर्तमान से है। वैभाषिकों ने प्रतीत्यसमुत्पाद को दो भागों में विभक्त किया है - पौर्वान्तिक और अपरान्तिक। अविद्या से लेकर वेदना तक के सात अङ्ग पौर्वान्तिक तथा शेष पाँच अपने फल (जाति और जरामरण) के साथ अपरान्तिक कहलाते हैं।

वैभाषिकों ने इन द्वादशाङ्गों को पुनः तीन भागों क्लेश, कर्म तथा वस्तु में वर्गीकृत किया है। अविद्या, तृष्णा और उपादान ये तीन अङ्ग क्लेश हैं। संस्कार तथा भव दोनों कर्म हैं। शेष सात विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, जाति और जरामरण वस्तु हैं।[346] फल को वस्तु इसलिये कहते हैं क्योंकि यह क्लेश और कर्म के आश्रय हैं।[347] सात अङ्ग फलभूत हैं और शेष

---

[344] स प्रतीत्यसमुत्पादो द्वादशाङ्गस्त्रिकाण्डकः। पूर्वाऽपरान्तयोर्द्वे द्वे मध्येऽष्टौ परिपूरिणः॥ *अभि.को.*, 3/20, पृ. 24

[345] तत्र द्वादशाङ्गानि- अविद्या, संस्काराः, विज्ञानं, नामरूपं, षडायतनं, स्पर्शः, वेदना, तृष्णा, उपादानं, भवः, जातिः, जरामरणं च। *अभि.को.भा.*, पृ. 344

[346] क्लेशास्त्रीणि द्वयं कर्म सप्त वस्तु फलं तथा। फलहेत्वभिसंक्षेपो द्वयोर्मध्यानुमानतः॥ *अभि.को.*, 3/26, पृ. 25

[347] क्लेशकर्माश्रयत्वात्। *अभि.को.भा.*, पृ. 349

पाँच जो वस्तु नहीं हैं, कर्मक्लेशात्मक होने से हेतुभूत हैं।[348] यदि प्रतीत्यसमुत्पाद के केवल द्वादशाङ्ग हैं तो अविद्या का हेतु एवं जरामरण का फल निर्दिष्ट न होने से संसरण की आदि व अन्त कोटि होगी। अतः नये अङ्ग जोड़ना चाहिये और यह अनन्त कथा है।

वैभाषिकों के अनुसार यह स्वीकार्य नहीं है।[349] उनके मत में क्लेश से क्लेश और कर्म की उत्पत्ति होती है, इनसे वस्तु की, वस्तु से पुनः वस्तु और क्लेश की उत्पत्ति होती है। भवाङ्गों का यह नय है।[350] क्लेश से क्लेश की उत्पत्ति होती है, यथा तृष्णा से उपादान की उत्पत्ति। उपादान से भव एवं अविद्या से संस्कार की उत्पत्ति, क्लेश से कर्म की उत्पत्ति के उदाहरण हैं। कर्म से वस्तु की उत्पत्ति होती है, जैसे संस्कारों से विज्ञान और भव से जाति। वस्तु से वस्तु की उत्पत्ति होती है, यथा- विज्ञान से नामरूप, नामरूप से षडायतन, षडायतन से स्पर्श, स्पर्श से वेदना तथा जाति से जरामरण। वस्तु से क्लेश की उत्पत्ति होती है, जैसे वेदना से तृष्णा की उत्पत्ति। यह स्पष्ट है कि अविद्या का हेतु और जरामरण का फल क्लेश है।[351] प्रतीत्यसमुत्पाद के बारह अङ्गों का विश्लेषण निम्न है –

अविद्या– अविद्या पूर्वजन्म की क्लेशावस्था है।[352] जितने क्लेश हैं, सब अविद्या के सहचारी हैं तथा अविद्यावश ही उनका समुदाचार होता है। जैसे राजा के आगमन के साथ उसके

---

[348] सप्तैवाङ्गानि फलभूतानि। शेषाणि पञ्च हेतुभूतानि; कर्मक्लेशस्वभावत्वात्। वही, पृ. 350

[349] यदि खलु द्वादशाङ्ग एव प्रतीत्यसमुत्पादः, एवं सत्यविद्याया अनुपदिष्टहेतुकत्वादादिमान् संसारः प्राप्नोति, जरामरणस्य चानुपदिष्टफलत्वादन्तवान्। अङ्गान्तरं वा पुनरुपसङ्ख्यातव्यं तस्याप्यन्यस्मादित्यनवस्थाप्रसङ्गः? नोपसङ्ख्यातव्यम्। वही, पृ. 350

[350] क्लेशात् क्लेशः क्रिया चैव ततो वस्तु ततः पुनः। वस्तु क्लेशाश्च जायन्ते भवांगानामयं नयः॥ *अभि.को.*, 3/27, पृ. 25

[351] *अभि.को.भा.*, पृ. 350

[352] पूर्वक्लेश दशाऽविद्या। *अभि.को.*, 3/21, पृ. 24

अनुयायियों का आगमन स्वतः सिद्ध होता है, वैसे ही पञ्चस्कन्धों की पूर्वजन्म की सन्तति का आगमन स्वतः सिद्ध है।[353]

सौत्रान्तिक मत में जो विद्या नहीं है, वह अविद्या है। वैभाषिक इस अर्थ से असहमत हैं। क्योंकि अविद्या यदि अभाव मात्र होगी तो इससे चक्षु, श्रोत्रादि नहीं होंगे। अतः अविद्या प्रत्यय और द्रव्य है।[354] वैभाषिक मत में अविद्या विद्या का प्रतिपक्षभूत धर्म है। जैसे अमित्र और अनृत क्रमशः मित्र का प्रतिपक्ष और ऋत का प्रतिपक्ष है, इसी प्रकार अविद्या भी विद्या का प्रतिपक्षभूत धर्म है, न कि प्रतिषेधमात्र।[355] नञ् उपसर्ग कुत्सित के अर्थ में होता है। जैसे अभार्या का अर्थ कुत्सिता पत्नी, अपुत्र का अर्थ कुत्सित पुत्र होता है, वैसे ही क्या अविद्या का अर्थ कुत्सिता विद्या अथवा कुप्रज्ञा किया जा सकता है? वैभाषिकों के अनुसार अविद्या कुप्रज्ञा नहीं है क्योंकि कुप्रज्ञा दर्शन है। कुप्रज्ञा या क्लिष्ट प्रज्ञा दृष्टि है। किन्तु अविद्या निश्चय ही दृष्टि नहीं है क्योंकि अविद्या और दृष्टि दो पृथक् संयोजन हैं। अविद्या क्लिष्ट प्रज्ञा भी नहीं होगी क्योंकि दृष्टि अविद्या से सम्प्रयुक्त है। अविद्या का दृष्टि से सम्प्रयोग है जो प्रज्ञास्वभाव है। अतः अविद्या प्रज्ञा नहीं है क्योंकि दो प्रज्ञाद्रव्य का सम्प्रयोग नहीं हो सकता।[356] जो अविद्या को सर्वक्लेशस्वभाव मानते हैं उसका भी इसी से प्रतिषेध होता है। यदि अविद्या सर्वक्लेशस्वभाव है तो संयोजनादि में इसका पृथक् वचन नहीं हो सकता। यह दृष्टि और अन्य क्लेशों से सम्प्रयुक्त नहीं है।[357]

---

[353] या पूर्वके जन्मनि क्लेशावस्था, सेहाविद्येत्युच्यते; साहचर्यात्, तद्वशेन तेषां समुदाचाराच्च। राजागमनवचने तदनुयातृकागमनसिद्धवत्। *अभि.को.भा.*, पृ. 345

[354] अथाविद्येति कोऽर्थः। या न विद्या। चक्षुरादिष्वपि प्रसङ्ग। विद्याया अभावस्तर्हि। एवं सति न किञ्चित् स्यात्? न चैत्तद् युक्तम्। वही, पृ. 366

[355] विद्याविपक्षो धर्मोऽन्योऽविद्याऽमित्राऽनृतादिवत्॥ *अभि.को.*, 3/28, पृ. 25

[356] यथा तर्हि कुभार्या अभार्येत्युच्यते, कुपुत्रश्चापुत्रः, एवमाविद्याऽप्यस्तु। कुत्सिता हि प्रज्ञा क्लिष्टा। सा च दृष्टिस्वभावा इति नाविद्या युज्यते।..... अविद्या चेत् प्रज्ञाऽभविष्यन्न दृष्टस्तया युज्यते सम्प्रायोक्ष्यत, द्वयोः प्रज्ञाद्रव्ययोरसम्प्रयोगात्। *अभि.को.भा.*, पृ. 366

[357] वही, पृ. 367

संस्कार– प्रतीत्यसमुत्पाद संस्कारमात्र है अर्थात् संस्कृत धर्म हैं। बाल अर्थात् पृथग्जन प्रतीत्यसमुत्पाद को संस्कृत नहीं जानकर आत्मदृष्टि और अस्मिमान में अभिनिविष्ट होता है। वह सुख और अदुःखासुख के लिये कायिक, वाचिक और मानसिक ढंग से त्रिविध कर्म आरब्ध करता है। ऐहिक सुख के लिये अपुण्य, आयति–सुख के लिये कामावचर पुण्य, सुख और अदुः खासुख के लिये 'आनिञ्ज्य' कर्म करता है, तो यह कर्म अविद्याप्रत्ययवश संस्कार हैं।[358]

संस्कार पूर्वजन्म की कर्मावस्था है।[359] जीवन के पुण्यापुण्य कर्मों की पूर्वदशा या पूर्व जन्म में अस्तित्व संस्कार कहलाता है। संस्कार पूर्वजन्म की कर्मावस्था है।[360] अविद्या और संस्कार की पूँजी से या उनके धरातल पर पञ्चस्कन्ध शरीर रूप में जन्म के लिये गर्भ में आते हैं। विश्व में जितने प्राणी हैं सब गर्भजनित सृष्टि है। अविद्या और संस्कार वर्तमान जीवन के लिये आलम्बन या प्रतिष्ठा का कार्य करते हैं। दोनों में से एक के अभाव में भी वर्तमान भव नहीं हो सकता।

विज्ञान– विज्ञान प्रतिसन्धि–स्कन्ध है।[361] इस जन्म के लिये माता की कुक्षि में रूपस्कन्ध, वेदनास्कन्ध, सञ्ज्ञास्कन्ध, संस्कारस्कन्ध और विज्ञानस्कन्ध इन पञ्चस्कन्धों का बीजारोपण ही विज्ञान है।[362] यह अवस्था सूक्ष्म होते हुए स्थूल को अपने में अन्तर्लीन रखती है। विज्ञानसन्तति का अन्तराभव के साथ सम्बन्ध होने से कर्माक्षेपवश यह सन्तति अतिविप्रकृष्ट गति को भी ज्वाला के समान जाती है अर्थात् निरन्तर उत्पन्न होती है। संस्कारप्रत्ययवश यह विज्ञान है।[363]

---

[358] *अभि.को.भा.*, पृ. 363

[359] संस्काराः पूर्वकर्मणः। *अभि.को.*, 3/21, पृ. 24

[360] पूर्वजन्मन्येव या पुण्यादिकर्मावस्था सेह संस्कारा इत्युच्यन्ते, यस्य कर्मण इह विपाकः। *अभि.को.भा.*, पृ. 345

[361] सन्धिस्कन्धास्तु विज्ञानं। *अभि.को.*, 3/21, पृ. 24

[362] मातुः कुक्षौ प्रतिसन्धिक्षणे पञ्च स्कन्धा विज्ञानम्। *अभि.को.भा.*, पृ. 345

[363] कर्माक्षेपवशाच्च विज्ञानसन्ततिस्तां तां गच्छति; ज्वालागमनयोगेनान्तराभवसम्बन्धात्। तदन्यसंस्काराप्रत्ययं विज्ञानम्। वही, पृ. 363

नामरूप – प्रतिसन्धि क्षण से लेकर षडायतन की उत्पत्ति तक नामरूप है।[364] माता की कुक्षि में पञ्चस्कन्धों की सन्तति की अभिवृद्धि से लेकर चक्षुरादि षडिन्द्रियों की उत्पत्ति तक की अवस्था नामरूप है।[365]

- **नाम -** पञ्च स्कन्धों में रूपस्कन्ध रूप और शेष वेदनादि चार अरूपी स्कन्ध नाम की कोटि में आते हैं।[366] वेदना, सञ्ज्ञा, संस्कार और विज्ञान ये चार अरूपी स्कन्ध 'नाम' कहलाते हैं। नाम का अर्थ है जो झुकता है। नाम शब्द का ग्रहण लोकप्रथित सञ्ज्ञा अर्थ में ही स्वीकार्य है। जैसे गो, अश्व, रूप, रस आदि।[367]
- **रूप -** रूप का अर्थ है- जो बाधा उपस्थित करता है। यदि विषयों की कामना करने वाले पुरुष की कामनायें पूरी नहीं होतीं तो वह शल्य से विद्ध सत्त्व की भाँति बाधित होता है। यही रूप है।[368]

नामरूप इस पद में नाम के पश्चात् रूप लिया गया है। किन्तु पञ्चस्कन्धों की गणना में रूप को पहले क्यों लिया जाता है? ऐसा इसलिये है क्योंकि रूप अन्य स्कन्ध की अपेक्षा अधिक स्थूल तथा सहजदृष्टि है।[369] औदारिकभाव, संक्लेशभाव तथा भाजनत्वादि से तथा अर्थधातुओं की दृष्टि से स्कन्धों के क्रम में रूप को ही सर्वप्रथम रखा गया है।[370] रूप ही आलम्बन में गमन करता है, झुकता है। अतः एव नाम की सूक्ष्मता के कारण ही रूप के पूर्व रखा जाता है।

---

[364] नामरूपमतः परम्..प्राक् षडायतनोत्पादात्। *अभि.को.,* 3/21-22, पृ. 24

[365] सन्धिचित्तात् परेण यावत् षडायतनं नोत्पद्यते साऽवस्था नामरूपं तावत् षडायतनमित्युच्यते। *अभि.को.भा.,* पृ. 345

[366] नाम त्वरूपिणः स्कन्धाः । *अभि.को.,* 3/30, पृ. 26

[367] नमतीति नाम। कतमस्य नाम्नो वशेन? यदिदं लोके प्रतीतं तेषां तेषामर्थानां प्रत्यायकम् – गौः, अश्वः, रूपम्, रस इत्येवमादि। *अभि.को.भा.,* पृ. 369

[368] रूप्यते बाध्यत इत्यर्थः।....तस्य चेत् कामयमानस्यच्छन्दजातस्य देहिनः। ते कामा न समृध्यन्ते शल्यविद्ध इव रूप्यते॥ वही, पृ. 36

[369] जैन, धर्मचन्द्र, *अभिधर्मदेशना : बौद्धसिद्धान्तों का विवेचन,* कुरूक्षेत्र: कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, 1982, पृ. 155

[370] ..... क्रमः पुनः। यथौदारिकसंक्लेशभाजनाद्यर्थधातुतः॥ *अभि.को.,* 1/22, पृ. 4

षडायतन– षडायतन त्रिकसन्निपात अथवा स्पर्श से पूर्व की अवस्था है।[371] मन और पाँच इन्द्रियों - चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना और काय का समूह षडायतन कहलाता है। षडायतन के उत्पन्न होने से चक्षुरादि इन्द्रियाँ, रूपादि उनके विषय और चक्षुर्विज्ञानादि विज्ञान इन तीनों का सन्निपात होने तक की अवस्था षडायतन कहलाती है।[372]

स्पर्श– सुख–दुःखादि वेदना के कारण ज्ञानशक्ति के उत्पन्न होने से पूर्व की अवस्था स्पर्श है।[373] जब तक बालक सुख–दुःखादि को समझने में समर्थ नहीं होता, तब तक की अवस्था स्पर्श है।[374] वस्तुतः वेदना के स्थूल अनुभव से पूर्व की जो अव्यक्तावस्था या वेदनानुभव की सक्षमता है वह स्पर्श है। मन सहित चक्षुरादि ज्ञानेन्द्रियाँ, धर्मसहित रूपादि विषय और विषयों से इन्द्रिय द्वारा उत्पन्न चक्षुर्विज्ञानादि का ज्ञान – इन तीनों के एकत्र होने पर स्पर्श उत्पन्न होता है।

वेदना– वसुबन्धु ने वेदना को *अभिधर्मकोश* में 'वित्ति' कहा है। जब तक मैथुन–राग का समुदाचार नहीं होता, तब तक की अवस्था वेदना है।[375] वेदना तीन प्रकार की है – सुखद वेदना, दुःखद वेदना और अनुभय वेदना।[376] चक्षुःस्पर्श आदि से उत्पन्न वेदना छः प्रकार की हैं। पाँच वेदनायें चक्षु और अन्य रूपी इन्द्रियों के संस्पर्श से उत्पन्न होती हैं और उनका आश्रय रूपी इन्द्रिय हैं, वे कायिकी कहलाती हैं। छठी वेदना मनःसंस्पर्श से उत्पन्न होती है, जिसका आश्रय

---

[371] तत्पूर्वं त्रिकसंगमात्। *अभि.को.*, 3/22, पृ. 24

[372] उत्पन्ने षडायतने सावस्था तावत् षडायतनमित्युच्यते यावदिन्द्रियविषयविज्ञानत्रिकसन्निपातः। *अभि.को.भा.*, पृ. 346

[373] स्पर्शः प्राक्सुखदुःखादिकारणज्ञानशक्तितः॥ *अभि.को.*, 3/22, पृ. 24

[374] स बालो यावत् सुखाया वेदनाया एतत् कारणम्, अदुःखासुखायाश्चैतत् कारणमिति परिच्छेदो न शक्तो भवति सावस्था स्पर्श इत्युच्यते। *स्फु.*, पृ. 346

[375] वित्तिः प्राङ् मैथुनात्। *अभि.को.*, 3/23, पृ. 25; वेदनावस्था यावन्मैथुनरागो न समुदाचरति। *अभि.को.भा.*, पृ. 346

[376] ततस्त्रिविधा वेदना। *अभि.को.भा.*, पृ. 364

चित्त है, अतः यह चैत्तसी है।[377] रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पृष्टव्य और धर्म के सौमनस्योपविचार, दौर्मनस्योपविचार और उपेक्षोपविचार भेद से चैत्तसी वेदना 18 प्रकार की होती है।[378]

तृष्णा– भोग और मैथुन की कामना करने की अवस्था तृष्णा है।[379] रूपादि कामगुण और मैथुन के प्रति राग का समुदाचार ही तृष्णा की अवस्था है। इसका अन्त तब होता है जब इस राग के प्रभाव से भोगों की पर्येष्टि आरम्भ होती है।[380] वेदनात्रय से त्रिविध तृष्णा की उत्पत्ति होती है - दुःखद वेदना से रूपतृष्णा, सुखद-वेदना से कामतृष्णा और अनुभय वेदना से आरूप्यतृष्णा।

उपादान– भोगों की सम्प्राप्ति के लिये सक्रिय प्रयत्न उपादान है।[381] उपादान वह अवस्था है, जहाँ भोगों की पर्येष्टि में सर्वत्र प्रधावन किया जाता है।[382] वेदना की तृष्णा से कामादि चतुर्विध उपादानों का समुदाचार होता है।[383] काम, दृष्टि, शीलवृत व आत्मवाद ये चारों उपादान हैं।[384] वसुबन्धु के अनुसार कामोपादान से आशय पाँच कामगुणों से हैं।[385] यशोमित्र ने *स्फुटार्था* में रूप, शब्द, गन्ध, रस एवं स्पृष्टव्य - इन पाँच कामगुणों का उल्लेख किया है।[386] दृष्टि उपादान से आशय 62 मिथ्या दृष्टियों से है, जिनका उल्लेख *दीघनिकाय* के ब्रह्मजालसुत्त में किया गया

---

[377] तज्जाः षड्वेदनाः पञ्च कायिकी चैत्तसी परा। *अभि.को.*, 3/32, पृ. 26

[378] पुनश्चाष्टादशविधा सा मनोपविचारतः॥ वही, 3/32, पृ. 26

[379] तृष्णा भोगमैथुनरागिणः। वही, 3/23, पृ. 25

[380] कामगुणमैथुनरागसमुदाचारावस्था तृष्णेत्युच्यते, यावन्न तद्विषयपर्येष्टिमापद्यते। *अभि.को.भा.*, पृ. 346

[381] उपादानं तु भोगानां प्राप्तये परिधावतः॥ *अभि.को.*, 3/23, पृ. 25

[382] यस्यामवस्थायां विषयप्राप्तये पर्येष्टिमापन्नः सर्वतो धावति, असाववस्था उपादानमित्युच्यते। *अभि.को.भा.*, पृ. 346

[383] तत इष्टवेदनातृष्णायाः कामादीनामुत्पादनम्। वही, पृ. 364

[384] कामादीनामुपादानमिति। कामदृष्टिशीलव्रतात्मवादानामुपादानमित्यर्थः। *स्फु.*, पृ. 364

[385] तत्र कामाः पञ्च कामगुणाः। *अभि.को.भा.*, पृ. 364

[386] कामा एव गुणाः कामगुणाः। के पुनस्ते। रूपशब्दगन्धरसस्प्रष्टव्यानि। *स्फु.*, पृ. 364

है।[387] इन बासठ मिथ्या दृष्टियों में आदि के सम्बन्ध की 18 धारणायें तथा अन्त के सम्बन्ध की 44 धारणायें हैं। शील शब्द का आशय कठोर आचरण के प्रतिषेध से है तथा व्रत शब्द से आशय कुक्कुर–गोव्रतादि से है। जैसे निर्ग्रन्थ और उनका नग्नभाव, ब्राह्मणों का दण्ड–अजिन धारण, पाशुपतों का जटा–भस्म, परिव्राजकों का त्रिदण्ड और मुण्डन इत्यादि। इन नियमों का समादान शीलव्रतोपादान हैं।[388] आत्मवाद आत्मभाव है।[389] आत्मवादोपादान से आशय आत्मा की सत्ता को स्वीकार करना है। बाल, अश्रुतवान्, प्रथग्जन तथा प्रज्ञप्ति में पतित लोग आत्मा और आत्मीय के अस्तित्व को मानते हैं, जबकि भिक्षु इनके अस्तित्व असत् स्वीकार करते हैं।[390]

भव– भविष्य के भवफल अर्थात् पुनर्जन्म को कराने वाला कर्म विशेष, भव कहलाता है।[391] भोगों की पर्येष्टि में कृत और उपचित कर्म पौनर्भविक है। जिस अवस्था में पुद्गल कर्म करता है वह 'भव' है।[392]

जाति– जाति पुनः प्रतिसन्धि है।[393] मरण के अनन्तर प्रतिसन्धिकाल में पाँचों स्कन्धों की जो अवस्था होती है उसे जाति कहा जाता है। गर्भ के आरम्भ में जो विज्ञान है, वही अनागत

---

[387] दृष्टयो द्वाषष्टिर्यथा ब्रह्मजालसूत्रे। *अभि.को.भा.*, पृ. 364

[388] शीलं दौःशील्यविरति। व्रतं कुक्कुरग्वरतादीनि। यथा च निर्ग्रन्थादीनां नग्नो भवत्यचेलक इति विस्तरः। ब्राह्मण-पाशुपत-परिव्राजकादीनां च दण्डाजिन-भस्म-जटा-त्रिदण्डमौड्यादिसमादानम्। वही, पृ. 364

[389] आत्मवादः पुनरात्मभावः। वही, पृ. 365

[390] आत्मा आत्मेति भिक्षवो बालोऽश्रुतवान् पृथग्जनः प्रज्ञप्तिमनुपतितः न त्वत्रात्मा वा आत्मीयं वा इति। वही, पृ. 365

[391] स भविष्यत् भवफलं कुरुते कर्म तद् भवः। *अभि.को.*, 3/24, पृ. 25

[392] स विषयाणां प्राप्तिहेतोः परिधावन् पौनर्भविकं कर्मोपचिनोति सोऽस्य भवः। *अभि.को.भा.*, पृ. 346

[393] प्रतिसन्धिः पुनर्जातिः। *अभि.को.*, 3/24, पृ. 25

अवस्था में जाति है।[394] भवप्रत्ययवश, विज्ञानावक्रान्ति के योग से अनागत जन्म होता है। यह जाति है। यह पञ्चस्कन्धिका है क्योंकि यह नामरूपस्वभाव है।[395]

जरामरण– जाति से वेदना तक जरामरण है। प्रत्युत्पन्न भव के चार अङ्ग– नामरूप, षडायतन, स्पर्श और वेदना ये चारों अनागतभव के सम्बन्ध में ही जरामरण कहलाते हैं। जरामरण द्वादशात्मक सन्तति का बारहवाँ अङ्ग है।[396]

2.7. प्रतीत्यसमुत्पाद के भेद और आवस्थिक मत

आचार्य वसुबन्धु ने *अभिधर्मकोशभाष्य* में व्याख्याओं के आधार पर प्रतीत्यसमुत्पाद को चार भागों में विभाजित किया है - क्षणिक, प्राकर्षिक, साम्बन्धिक तथा आवस्थिक।[397]

क्षणिक प्रतीत्यसमुत्पाद - *स्फुटार्था* में यशोमित्र ने कहा है कि क्षण में होने वाले अथवा जिसमें क्षण है, उसे क्षणिक कहते हैं।[398] प्रतीत्यसमुत्पाद क्षणिक कैसे है? इसका उत्तर देते हुये *अभिधर्मकोशभाष्य* में वसुबन्धु कहते हैं कि एक ही क्षण में द्वादशाङ्गों के होने से प्रतीत्यसमुत्पाद क्षणिक कहलाता है।[399] लोभवश कोई व्यक्ति किसी की हत्या करता है, तो उस समय उसका मोह अविद्या है, उस मोह के साथ सम्प्रयुक्त चेतना संस्कार है, वस्तु का बोध विज्ञान है, विज्ञानसहित विद्यमान अन्य चार स्कन्ध नामरूप हैं, नामरूप में व्यवस्थित इन्द्रियाँ षडायतन है, षडायतन का अभिनिपात अर्थात् स्व-स्व विषयों से सन्निकर्ष स्पर्श है, स्पर्श का अनुभव वेदना है, उस वेदना से होने वाला लोभ तृष्णा है, तृष्णा से सम्प्रयुक्त पर्यवस्थान अर्थात् वेग उपादान है, उपादान के प्रभाव से समुत्थित काय और वाक् कर्म भव है, उन कर्मों से

---

[394] यदेवेह विज्ञानाङ्गं तदेवास्यान्यत्र जन्मनि जातिः। *अभि.को.भा.*, पृ. 346

[395] भवप्रत्ययं पुनर्विज्ञानाक्रान्तियोगेन। अनागतं जन्म जातिः पञ्चस्कन्धिका। वही, पृ. 365

[396] जरामरणमा विदः॥ *अभि.को.*, 3/24, पृ. 25; जातेः परेण यावद्वेदनावस्था जरामरणम्। यान्येवेह चत्वार्यङ्गानि-नामरूपषडायतनस्पर्शवेदनाः, तान्येवान्यत्र जरामरणमित्येतानि द्वादशाङ्गानि। *अभि.को.भा.*, पृ. 347

[397] स चैव प्रतीत्यसमुत्पादश्चतुर्विध उच्यते- क्षणिकः, प्राकर्षिकः, साम्बन्धिकः, आवस्थिकश्च। *अभि.को.भा.*, पृ. 347

[398] क्षणे भवः, क्षणोऽस्यास्तीति वा क्षणिकः। *स्फु.* पृ. 347

[399] कथं क्षणिकं? एकस्मिन, खल्वपि क्षणे द्वादशाङ्गानि भवन्ति। वही, पृ. 347

फलधर्मों का उत्पाद जाति है तथा उन कर्मों का परिपाक जरा है एवं उनका भङ्ग मरण है।[400] इस प्रकार एक क्रिया की निष्पत्ति में द्वादशाङ्गों का एक क्षण में ही पूर्ण होना क्षणिक प्रतीत्यसमुत्पाद कहलाता है। सौत्रान्तिक क्षणिक प्रतीत्यसमुत्पाद को मानते हैं।

प्राकर्षिक प्रतीत्यसमुत्पाद – प्रकर्षयुक्त होने से प्रतीत्यसमुत्पाद को प्राकर्षिक कहते हैं। क्योंकि इसका अनेक क्षणों एवं जन्मों से सम्बन्ध रहता है।[401]

साम्बन्धिक प्रतीत्यसमुत्पाद – हेतुफल उभयक्षण सम्बन्धित होने के कारण इसे साम्बन्धिक प्रतीत्यसमुत्पाद कहा जाता है।[402]

आवस्थिक प्रतीत्यसमुत्पाद – वैभाषिकों को आवस्थिक मत स्वीकृत है।[403] उनके अनुसार द्वादश पञ्चस्कन्धिक अवस्था आवस्थिक कहलाती है, जिसका अतीत, अनागत तथा प्रत्युत्पन्न जन्मत्रय से सम्बन्ध होता है।[404] यदि प्रत्येक धर्म पञ्चस्कन्ध का समूह है तो अविद्यादि प्रज्ञप्तियों का व्यवहार क्यों किया जाता है?[405] जिस अवस्था में अविद्या का प्राधान्य है वह अविद्या कहलाती है। वैसे ही संस्कारादि अङ्गों की प्रधानता होने से तत्तत् का प्राधान्य होता है।[406]

---

[400] *अभि.को.भा.*, पृ. 347

[401] प्रकर्षेण दीव्यति चरति वा प्राकर्षिकः प्रबन्धयुक्त इत्यर्थः। *स्फु.*, पृ. 347; प्रकर्षयोगात् प्राकर्षिकः अनेकक्षणिकत्वादनेकजन्मित्वाद्वा। *स्फु.*, पृ. 348

[402] हेतुफलभूतोभयक्षणसम्बन्धात् साम्बन्धिकः। वही, पृ. 347

[403] आवस्थिकः क्लिष्टोऽयम्। *अभि.को.*, 3/25, पृ. 25

[404] आवस्थिको द्वादश पञ्चस्कान्धिका अवस्था निरन्तरजन्मत्रयसम्बद्धाः। *अभि.को.भा.*, पृ. 348

[405] यद्यङ्गमङ्गं पञ्चस्कन्धाः किं कारणमविद्यादीनेव धर्मान् कीर्त्तयति स्म?, वही, पृ. 348

[406] अविद्याप्रधानामवस्थामविद्यां जगाद संस्कारप्रधानां संस्कारान् यावज्जरामरणमित्यदोषः। वही, पृ. 348

आवस्थिक प्रतीत्यसमुत्पाद में पूर्वान्त, अपरान्त और मध्य के प्रति सम्मोह की निवृत्ति के लिये ही त्रिकाण्ड में बुद्ध ने देशना दी है।[407] पूर्वान्त के सम्मोह से आशय अतीत से सम्बन्धित उन प्रश्नों से है, जब कोई यह पूछता है कि क्या अतीत अध्व में उसका अस्तित्व था या नहीं? वह कैसे व कब था? अपरान्त के सम्मोह से आशय अनागत अर्थात् भविष्य से सम्बन्धित उन प्रश्नों से है, जब कोई पूछता है कि क्या वह अनागत अध्व में होगा या नहीं? मध्य के सम्मोह से आशय वर्तमान के उन प्रश्नों से है, जिसमें वह पूछता है कि यह क्या है? यह कैसे है? वह कौन है और वह क्या होगा? इसलिये शास्ता ने त्रिविध सम्मोह के विनाशार्थ त्रिकाण्ड एवं द्वादशाङ्गों से समन्वित प्रतीत्यसमुत्पाद का उपदेश दिया है।

प्रतीत्यसमुत्पाद के चतुर्विध विभाजन का क्या प्रयोजन है? इनके प्रयोजन को जानने के लिये चारों को दो भागों आवस्थिक-प्राकर्षिक एवं क्षणिक-साम्बन्धिक में वर्गीकृत किया जा सकता है। कृष्णनाथ के अनुसार 'अस्मिन् सति, इदं भवति' के मूल पद से ही ये चारों निकलते हैं। 'अस्मिन् सति' पर बल देने वाले 'आवस्थिक' हो जाते हैं जबकि 'इदं भवति' पर बल देने वाले प्राकर्षिक कहे जा सकते हैं। 'जो है' को मानने वाले आवस्थिक जबकि 'जो हो रहा है' पर प्रकर्ष (बल) देने वाले प्राकर्षिक हैं। क्षण मात्र में द्वादशाङ्ग प्रतीत्यसमुत्पाद और उत्पत्ति, स्थिति, विनाश पर बल देने से क्षणिक होंगे। और उनमें पूर्वापर सम्बन्ध, हेतु-फल सम्बन्ध पर बल देने वाले साम्बन्धिक।[408]

विश्लेषणोपरान्त यह कहा जा सकता है कि वैभाषिक दर्शन प्रतीत्यसमुत्पाद को हेतुप्रत्ययवाद के रूप में कार्य-कारण के नियम की तरह व्याख्या करता है। हेतु व प्रत्यय दोनों को वैभाषिक भिन्न न मानकर एक ही मानता है। प्रतीत्यसमुत्पाद को संस्कृत धर्म मानते हुये वैभाषिक इसकी

---

[407] पूर्वाऽपरान्तमध्येषु सम्मोहविनिवृत्तये॥ *अभि.को.*, 3/25, पृ. 25

[408] कृष्णनाथ, *बौद्ध निबन्धावली (बौ.नि.)*, सम्पादक – समदोङ् रिनपोछे, सारनाथ: केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, प्रथम संस्करण, 1998, पृ. 6

पर्यायद्वय से देशना करते हैं। अविद्यादि द्वादश निदानों का विवेचन लगभग पालि साहित्य की भाँति ही किया गया है। वैभाषिकों ने भवचक्र के विश्लेषण के द्वारा अण्डजादि चतुर्विध योनियों, अन्तराभव, प्रतिसन्धि, सत्त्व के आश्रय, संक्रान्ति एवं गर्भावस्था को व्याख्यायित किया है। चतुर्विध प्रतीत्यसमुत्पाद का उल्लेख करते हुये वैभाषिकों द्वारा स्वीकृत आवस्थिक का विश्लेषण किया गया है।

तृतीय अध्याय

माध्यमिक दर्शन में प्रतिपादित प्रतीत्यसमुत्पाद का विवेचन

माध्यमिक शब्द की उत्पत्ति 'मध्यम' शब्द से ठक् प्रत्यय लगकर होती है। 'ठक्' को इकादेश होकर उसकी भसञ्ज्ञा होती है। भसञ्ज्ञक 'मध्यम' के अन्त्य अकार का लोप होकर अङ्ग के आदि अच् की वृद्धि होकर माध्यमिक शब्द निष्पन्न होता है, जिसका शाब्दिक अर्थ मध्यम मार्ग का अवलम्बक होता है। भाव - अभाव से रहित तथा समस्त स्वभावों की उत्पत्ति से रहित लक्षणवाली शून्यता का आश्रित मार्ग मध्यम कहलाता है[409] तथा इसके अनुयायी माध्यमिक कहलाते हैं। सत्ता और असत्ता के मध्य में स्थित होना 'माध्यमिक' शब्द का अर्थ है।[410] अतः माध्यमिक वे हैं जो सभी धर्मों को परमार्थतः सत् नहीं मानते तथा संवृतितः असत् भी नहीं स्वीकारते। गौतम बुद्ध प्रतिपादित मध्यम मार्ग का अवलम्बन करने वाले माध्यमिकों ने तात्त्विक विवेचन में शाश्वतवाद और उच्छेदवाद के दोनों एकाङ्गी मतों का परिहार कर मध्यममार्ग की स्थापना की। बुद्ध प्रतिपादित प्रतीत्यसमुत्पाद की शून्य के रूप में प्रतिष्ठा की। शून्य को तत्त्व के रूप में स्थापना करने के कारण माध्यमिकों को शून्यवादी भी कहा जाता है। नागार्जुन माध्यमिक मत के प्रतिष्ठापक तथा आरम्भक आचार्य हैं। आचार्य चोंखापा प्रभृति भोटदेशीय विद्वानों ने माध्यमिक दर्शन के स्वातन्त्रिक तथा प्रासङ्गिक प्रभृति दो भेद स्वीकार किये हैं।

स्वातन्त्रिक माध्यमिक – माध्यमिक दर्शन पारमार्थिक रूप से बाह्यार्थ की सत्ता को अमान्य करता है, किन्तु व्यावहारिक सत्ता को मानता है। स्वातन्त्रिक माध्यमिक व्यवहार की सत्ता के स्थापना में दो भागों में बट जाता है- सूत्राचार स्वातन्त्रिक और योगाचार स्वातन्त्रिक। सूत्राचार

---

[409] भावाभावद्वयरहितत्वात् सर्वस्वभावानुत्पत्तिलक्षणा शून्यता तदाश्रितो मार्गः मध्यमः। *मध्यमकशास्त्रम् (नागार्जुनकृताकुतोभया-बुद्धपालितकृतमाध्यमिकवृत्ति-भाववि‌वेककृतप्रज्ञाप्रदीप-चन्द्रकीर्तिकृतप्रसन्नपदासहितम्)*, नागार्जुन, सम्पादक – रघुनाथ पाण्डेय, दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास, प्रथम संस्करण, 1989, प्रथम भाग, पृ. xxii

[410] *बौ.द.प्र.*, पृ. 191

स्वातन्त्रिक माध्यमिक व्यवहार की स्थापना सौत्रान्तिकों की भाँति करते हैं। भावविवेक और ज्ञानगर्भ इस मत के प्रमुख आचार्य हैं। जो निःस्वभाववादी माध्यमिक होते हुये भी व्यवहार की स्थापना योगाचार दर्शन की भाँति करते हैं, वे योगाचार स्वातन्त्रिक माध्यमिक कहलाते हैं। आचार्य शान्तरक्षित और कमलशील इस मत के समर्थक आचार्य हैं।

प्रासङ्गिक माध्यमिक – प्रासङ्गिक माध्यमिक केवल प्रसङ्ग (दूषण) का ही प्रयोग करते हैं। मोक्षाकर गुप्त ने *तर्कभाषा* में प्रसङ्ग पद को परिभाषित किया है। उनके अनुसार प्रसङ्ग वह है जो प्रमाण से सिद्ध व्याप्ति वाले वाक्य के द्वारा दूसरे की अनिष्टता के आपादान के लिये प्रसञ्जन अर्थात् आपत्ति प्रदर्शन करे।[411] प्रसङ्ग दो के सम्बन्ध होने से एक के अभाव में अन्य की हानि के लिये होता है। व्याप्य और व्यापक में सम्बन्ध होने पर यदि व्यापक को नहीं मानते हैं तो व्याप्य को भी नहीं मानना पड़ेगा और यदि व्याप्य को मानते हैं तो व्यापक को भी मानना चाहिये।[412] उदाहरण के लिये सामान्य जो एक है उसे अनेक में विद्यमान मानने पर अनेक मानने की जो आपत्ति होती है, वही प्रसङ्ग है। जो अनेकवृत्ति होता है वह अनेक होता है, यथा ताल का फल। सामान्य भी अनेक में विद्यमान है, अतः इसे भी अनेक होना चाहिये, यही प्रसङ्ग है।[413] जो प्रसङ्ग को स्वीकार करते हैं, वे प्रासङ्गिक कहलाते हैं।

अतःएव प्रासङ्गिक माध्यमिक वह दार्शनिक सम्प्रदाय है, जो दार्शनिक हेतुओं के द्वारा वस्तुसत्ता की सिद्धि में विश्वास करता है, प्रतिवादी के अनुमानप्रयोगों में दोष दिखाकर यह सिद्ध किया जाये कि उनके साधन उनके साध्य को सिद्ध करने में असमर्थ हैं। स्वभावसत्ता के निषेध से ही निःस्वभावता की सिद्धि होती है। अतः एव परपक्ष के निराकरण मात्र पर ही बल देने वाले माध्यमिक 'प्रासङ्गिक माध्यमिक' कहलाते हैं। आचार्य चन्द्रकीर्ति, शान्तिदेव, दीपंकर श्रीज्ञान

---

[411] प्रमाणप्रसिद्धव्याप्तिकेन वाक्येन परस्यानिष्टत्वापादनाय प्रसञ्जनम् प्रसङ्गः। गुप्त, मोक्षाकर, *बौद्ध-तर्कभाषा,* सम्पादक – रघुनाथगिरि, वाराणसी: प्राच्य प्रकाशन,1969, पृ.78

[412] 'प्रसङ्गो द्वयसम्बन्धादेकाभावेऽन्यहानये ' इति। अस्यायमर्थः - व्याप्यव्यापकयोः सम्बन्धे सति यदि व्यापकं नेष्यते तदा व्याप्यमपि नेष्यताम्। अथ व्याप्यमिष्यते तदा व्यापकमपीष्यतामिति। वही, पृ.78-79

[413] यथा - सामान्यस्य , अनेकवृत्तित्वाभ्युपगमे अनेकत्वप्रसञ्जनम्। तथा हि - यदनेकवृत्ति तदनेकं यथा अनेकभाजनगतं तालफलम्। अनेकवृत्ति च सामान्यम्। तस्मादनेनाप्यनेकेन भवितव्यमिति प्रसङ्गः। वही, पृ. 78

इत्यादि प्रासङ्गिक मत के आचार्य हैं। तिब्बती बौद्ध परम्परा के चारों सम्प्रदाय जिङ्मा, करग्युद्, साक्या व गेलुक् भी प्रासङ्गिक माध्यमिक परम्परा का ही अनुसरण करते हैं।

स्वातन्त्रिक माध्यमिक स्वतन्त्ररूप से हेतुओं के प्रयोग से परमार्थतः निःस्वभाव धर्मों की व्यवहार में सत्ता सिद्ध करते हैं, जबकि प्रासङ्गिक माध्यमिक इसे माध्यमिकों के विपरीत मानते हैं। ये परपक्ष निराकरण से ही निःस्वभावता को सिद्ध करते हैं।

3.1 माध्यमिक दर्शन के साहित्य का संक्षिप्त परिचय

माध्यमिक अर्थात् शून्यवाद को बौद्ध दर्शन का चरमोत्कर्ष माना जाता है। गौतम बुद्ध के मध्यममार्ग सम्बन्धी देशनाओं के रूप में 'धम्मचक्कपव्वत्तनसुत्त' एवं 'कच्चानगोत्तसुत्त' समस्त बौद्ध सम्प्रदायों में समादृत हैं।

'धम्मचक्कप्पवत्तनसुत्त' में तथागत द्वारा वाराणसी स्थित इसिपत्तन (ऋषिपत्तन) के मृगदाय वन में पञ्चवर्गीय भिक्षुओं को देशना करते हुये कहा गया कि संसार में परिव्राजक के द्वारा दो अन्तों का सेवन नहीं करना चाहिए। उन दोनों अन्तों में से प्रथम काम सुख की इच्छाओं में लगे रहना है, जो अत्यन्त हीन, ग्राम्य, सामान्य जन सेवित, अनार्य और अनर्थकर है। द्वितीय शरीर को क्लेश देना है, जो दुःखमय, अनार्य और अनर्थकर है। इन दोनों अन्तों को छोडकर तथागत ने मध्यमा प्रतिपदा का ज्ञान प्राप्त किया है। यह मध्यम मार्ग चक्षु देने वाला, ज्ञान देने वाला, चित्त को शान्ति प्रदान करने वाला, सम्यक् बोध अर्थात् सम्बोधि तथा निर्वाण को देने वाला है।[414]

इसी तरह 'कच्चानगोत्तसुत्त' में गौतम बुद्ध ने कात्यायन को सम्बोधित करते हुये कहा है कि संसार अस्ति और नास्ति नामक दो अतिवादों में विभाजित है। जब कोई लोक के समुदय अर्थात् उत्पत्ति को सम्यक् प्रज्ञा से देखता है, तो उसके लिये 'लोक नहीं है' का ज्ञान नहीं होता। यदि जब कोई

[414] द्वेमे, भिक्खवे, अन्ता पब्बजितेन न सेवितब्बा। कतमे द्वे? यो चायं कामेसु कामसुखल्लिकानुयोगो हीनो गम्मो पोथुज्जनिको अनरियो अनत्थसंहितो, यो चायं अत्तकिलमथानुयोगो दुक्खो अनरियो अनत्थसंहितो। एते खो, भिक्खवे, उभो अन्ते अनुपगम्म मज्झिमा पटिपदा तथागतेन अभिसम्बुद्धा चक्खुकरणी ञाणकरणी उपसमाय अभिञ्ञाय सम्बोधाय निब्बानाय संवत्तति''। *सं.नि.*, 5/12/2/1, पृ. 485; *वि.पि.*, महावग्ग, 1/6, पृ. 13

लोक के निरोध को सम्यक् प्रज्ञा से देखता है तो उसके लिये 'लोक है' का ज्ञान नहीं होता। लोक में यह उभय दृष्टि पूर्वनिर्धारित उपाय, उपादान और अभिनिवेश से संयुक्त होने के कारण सम्यग्दृष्टि उत्पन्न नहीं होती। लोकदृष्टि एक भ्रामकदृष्टि है, जो आत्मन् जैसी भ्रामकताओं को उत्पन्न करती है। लोकदृष्टि से युक्त मनुष्य दुःखों का कारण अन्यत्र खोजने लगता है। इसके इतर जो यह मानता है कि दुःख का कारण है तथा उसका निवारण भी है, वह सम्यग्दृष्टि प्राप्तकर दुःख का प्रहाण करता है।[415]

सब कुछ है (सब्बं अत्थि) और सब कुछ नहीं है (सब्बं नत्थि) इन दोनों शाश्वतवादी और उच्छेदवादी दृष्टियों को छोड़कर कात्यायन को गौतम बुद्ध मध्यममार्ग का उपदेश करते हैं।[416]

डेविड जे. के. कालुपहन ने नागार्जुन की *माध्यमिककारिका* को *कच्चानगोत्तसुत्त* की टीका के रूप में अभिहित किया है।[417] नागार्जुन से पूर्व *प्रज्ञापारमितासूत्रों* में मध्यममार्ग का विवेचन प्राप्त होता है। लामा तारानाथ उल्लेख करते हैं कि नागार्जुन ने *प्रज्ञापारमितासूत्रों* के आधार पर ही माध्यमिक दर्शन का प्रवर्तन किया।[418]

गौतम बुद्ध द्वारा उपदेशित मध्यम मार्ग की तार्किक एवं सुनियोजित विवेचना आचार्य नागार्जुन ने स्वग्रन्थों में की है। नागार्जुन ने तत्त्वविवेचन में शाश्वत्वाद तथा उच्छेदवाद के दोनों एकाङ्गी मतों का परिहार कर मध्यम मत का ग्रहण करते हुये, बौद्ध दर्शन परम्परा में माध्यमिक सम्प्रदाय

---

[415] ''द्वयनिस्सितो ख्वायं, कच्चान, लोको येभुय्येन – अत्थितञ्चेव नत्थितञ्च। लोकसमुदयं खो, कच्चान, यथाभूतं सम्मप्पञ्ञाय पस्सतो या लोके नत्थिता सा न होति। लोकनिरोधं खो, कच्चान, यथाभूतं सम्मप्पञ्ञाय पस्सतो या लोके अत्थिता सा न होति। उपयुपादानाभिनिवेसविनिबन्धो ख्वायं, कच्चान, लोको येभुय्येन। तञ्चायं उपयुपादानं चेतसो अधिट्ठानं अभिनिवेसानुसयं न उपेति न उपादियति नाधिट्ठाति – 'अत्ता मे'ति। 'दुक्खमेव उप्पज्जमानं उप्पज्जति, दुक्खं निरुज्झमानं निरुज्झती'ति न कङ्खति न विचिकिच्छति अपरपच्चया ञाणमेवस्स एत्थ होति। एत्तावता खो, कच्चान, सम्मादिट्ठि होति। *सं.नि.*, 2/1/2/5, पृ. 17

[416] सब्बं अत्थी'ति खो, कच्चान, अयमेको अन्तो। 'सब्बं नत्थी'ति अयं दुतियो अन्तो। एते ते, कच्चान, उभो अन्ते अनुपगम्म मज्झेन तथागतो धम्मं देसेति। वही, 2/1/2/5, पृ. 17

[417] Kalupahana, David. J. *Mūlamadhyamakakārikā of Nāgārjuna: The Philosophy of the Middle Way.* Delhi : Motilal Banarsidass, 2012, p. 5

[418] तारानाथ, *भारत में बौद्धधर्म का इतिहास,* अनुवादक – लामा रिगजिन लुण्डुप, पटना : काशी प्रसाद जायसवाल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, 1971, पृ. 42

की आधारशिला रखी। आचार्य नागार्जुन के बारे में जानने का एकमात्र स्रोत उनकी जीवनी का कुमारजीव कृत चीनी अनुवाद है, जिसका समय 405 ईस्वी माना जाता है।[419] लामा तारानाथ नागार्जुन को नालन्दा का विद्वान् स्वीकार करते हैं।[420] ह्वेनसांग के अनुसार नागार्जुन दक्षिण भारत के निवासी थे।[421] नागार्जुन द्वारा पत्र के रूप में लिखे गये एक उपदेशात्मक ग्रन्थ '*सुहृल्लेख* की रचना राजा उदायिभद्र के लिये की गई। पाश्चात्य विद्वान् उदायिभद्र को आन्ध्र के सातवाहन वंशीय (230 ईसा पूर्व से 199 ईस्वी) राजा गौतमीपुत्र शातकर्णी (106-130 ईस्वी) के रूप में उनकी पुष्टि करते हैं। कुछ वाशिष्ठीपुत्र पुलुमायि (130-158 ईस्वी) के साथ जोड़ते हैं। उदायिभद्र की पहचान कठिन है। अतः *सुहृल्लेख* के राजा की पहचान कठिन है।[422]

बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न नागार्जुन का काल निर्धारण कर पाना कठिन है, क्योंकि भारत में नागार्जुन नाम के अनेक विद्वान् हुये हैं, जिनमें कोई ज्योतिषी, कोई आयुर्वेदाचार्य, कोई दार्शनिक अथवा कोई तन्त्रज्ञ रहा है। ये भी सम्भव है कि ये चारों एक ही हों।

तिब्बत और चीन के अनेक विद्वानों ने नागार्जुन के जीवन काल को बुद्धपरिनिर्वाण के 300, 600 या 800 वर्ष बाद बताया है।[423] राधाकृष्णन[424] ने जहाँ नागार्जुन का समय प्रथम शताब्दी ईस्वी माना है, वहीं कीथ[425] ने द्वितीय शताब्दी ईस्वी स्वीकार किया है। रामशङ्कर त्रिपाठी ने

---

[419] *बौ.द.अ.भा.द.*, I, पृ. 653

[420] तारानाथ, *भारत में बौद्धधर्म का इतिहास*, पृ. 41

[421] *बौ.द.अ.भा.द.*, I, पृ. 653

[422] This was the same king to whom Nagarjuna wrote A Letter to a Friend (Skt. Suhrllekha), namely King Udayibhadra. Some Western scholars identify King Udayibhadra with King Gautamiputra Shatakarni (ruled 106 – 130 C.E.) of the Shatavahana Dynasty (230 B.C.E. – 199 C.E.) in present-day Andhra Pradesh. Some identify him with the next king, Vashishtiputra Pulumayi (130 – 158 C.E.). It is difficult to identify him exactly. http://www.lodrodawa.dk/ancient_masters/nagarjuna.html (Accessed Date - 5/3/2015)

[423] *बौ.द.अ.भा.द.*, I, पृ. 654

[424] राधाकृष्णन, *भारतीय दर्शन*, अनुवादक- नन्दकिशोर गोभिल, दिल्ली: राजपाल एण्ड सन्ज़, 2012, प्रथम भाग, पृ. 527

[425] Keith, A.B. *Buddhist Philosophy in India and Ceylon*. Oxford: Clerendon Press, 1923, p. 229

नागार्जुन का समय ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी से ईस्वी प्रथम-द्वितीय शताब्दी के मध्य स्वीकार किया है।[426]

आचार्य नागार्जुन द्वारा लिखे गये अनेक ग्रन्थ प्राप्त होते हैं। रामशङ्कर त्रिपाठी ने नागार्जुन के 129 ग्रन्थों की सूची स्वग्रन्थ *'बौद्ध दर्शन प्रस्थान'* में प्रस्तुत की है, जिन्हें उन्होंने विषय के अनुसार स्तुतिवर्ग, तन्त्रवर्ग, सूत्रवर्ग, वार्तावर्ग और नानावर्ग में विभाजित किया है।[427] माध्यमिक दर्शन के प्रतिष्ठापक के रूप में उनका ख्यातिप्राप्त ग्रन्थ *माध्यमिककारिका* है, जिसे *मूलमाध्यमिककारिका* अथवा *मध्यमकशास्त्र* के नामों से भी जाना जाता है।

सत्ताईस अध्यायों में विभक्त और 448 कारिकाओं में निबद्ध *माध्यमिककारिका* सम्पूर्ण माध्यमिक प्रस्थान का आधार स्तम्भ है। *माध्यमिककारिका* के अध्यायों के नाम हैं – प्रत्ययपरीक्षा, गतागतपरीक्षा, आयतनपरीक्षा (चक्षुरादीन्द्रियपरीक्षा), स्कन्धपरीक्षा, धातुपरीक्षा, रागरक्तपरीक्षा, संस्कृतपरीक्षा, कर्मकारकपरीक्षा, पूर्वपरीक्षा, अग्नीन्धनपरीक्षा, पूर्वापरकोटिपरीक्षा, दुःखपरीक्षा, संस्कारपरीक्षा, संसर्गपरीक्षा, स्वभावपरीक्षा, बन्धमोक्षपरीक्षा, कर्मफलपरीक्षा, आत्मपरीक्षा, कालपरीक्षा, सामग्रीपरीक्षा (हेतुफलपरीक्षा), सम्भवविभवपरीक्षा, तथागतपरीक्षा, विपर्यासपरीक्षा, आर्यसत्यपरीक्षा, निर्वाणपरीक्षा, द्वादशाङ्गपरीक्षा, दृष्टिपरीक्षा।

माध्यमिककारिका के अलावा नागार्जुन ने इसकी टीका *अकुतोभया, विग्रहव्यावर्तनी, प्रतीत्यसमुत्पादहृदय, शून्यतासप्तति, उपायहृदय, भवसन्क्रान्तिशास्त्र, महाप्रज्ञापारमिताशास्त्र, वैदल्यसूत्र, सुहृल्लेख, शालिस्तम्बसूत्रव्याख्या* तथा *रत्नावली* आदि अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया, जिनमें माध्यमिक दर्शन के साथ-साथ बौद्ध आचार-व्यवहार का चित्रण किया गया है। इनमें *माध्यमिककारिका* शरीर स्थानीय है तथा अन्य ग्रन्थ उसी के अवयव या पूरक के रूप में परिगणित किये जाते हैं।

---

[426] *बौ.द.प्र.*, पृ. 310

[427] वही, पृ. 340-42

माध्यमिककारिका पर अनेक टीकाओं की सृजना हुई। *अकुतोभया* के अन्त में नागार्जुन सहित स्थविर बुद्धपालित, चन्द्रकीर्ति, देवशर्मा, गुणश्री, गुणमति, स्थिरमति, भाववविवेक इन आठ वृत्तिकारों के नाम मिलते हैं। इनमें से नागार्जुन की स्वोपज्ञ टीका *अकुतोभया,* चन्द्रकीर्ति की *प्रसन्नपदा,* बुद्धपालित की *माध्यमिकवृत्ति,* और भाववविवेक की *प्रज्ञाप्रदीप* वृत्तियों को *माध्यमिककारिका* के साथ संस्कृतमूल में दो भागों में रघुनाथ पाण्डेय के द्वारा 1988 में मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली से प्रकाशित करवाया गया। इनसे पूर्व 1912 ईस्वी में बिब्लियोथिका बुद्धिका में पुसें ने तथा 1983 ईस्वी में बौद्धभारती, वाराणसी से द्वारिकादास शास्त्री ने *माध्यमिककारिका* सहित *प्रसन्नपदा* का मूल संस्कृत प्रकाशित करवाया।

आचार्य नरेन्द्रदेव ने अपने ग्रन्थ *बौद्धधर्म-दर्शन* में *माध्यमिककारिका* का भावानुवाद किया। डेविड जे. के. कालूपहन ने *प्रसन्नपदा* के आधार पर *माध्यमिककारिका* का आङ्ग्लभाषा में अनुवाद किया, जिसे 1981 में स्टेट यूनिवर्सिटी ऑफ न्यू यार्क से तथा 1991 में मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली से प्रकाशित किया गया।

नागार्जुन के ग्रन्थों विशेषकर *माध्यमिककारिका* और उसकी टीकाओं के अलावा अन्य दार्शनिकों का नाम भी माध्यमिक परम्परा में प्रचलित है। उनमें एक आर्यदेव हैं, जो नागार्जुन के शिष्य रहे। आर्यदेव ने तन्त्र पर कई ग्रन्थ लिखे, किन्तु माध्यमिक सम्प्रदायाभिमत उनके प्रमुख ग्रन्थों में *चतुःशतक, माध्यमिकहस्तबालप्रकरण, स्खलितप्रमथनयोक्तिहेतुसिद्धि* तथा *ज्ञानसारसमुच्चय* को परिगणित किया जाता है।

आचार्य भाववविवेक ने *प्रज्ञाप्रदीप* के इतर *मध्यमहृदयकारिका* एवं उसकी वृत्ति *तर्कज्वाला, मध्यमकार्थसङ्ग्रह* एवं *हस्तरत्न* या *करमणि* नामक ग्रन्थों की रचना की। चन्द्रकीर्ति ने भी *प्रसन्नपदा* के अतिरिक्त आर्यदेव के *चतुःशतक* की टीका, *मध्यमकावतार* और उसकी वृत्ति लिखी। इनके अलावा *शिक्षासमुच्चय, सूत्रसमुच्चय* और *बोधिचर्यावतार* के लेखक शान्तिदेव तथा *तत्त्वसङ्ग्रह* के लेखक शान्तरक्षित भी माध्यमिक दर्शन परम्परा के उद्भट विद्वान् हैं।

3.2 माध्यमिक दर्शन में सत्यद्वय व्यवस्था

माध्यमिक दर्शन तथागत की अभिप्रायिकी देशनाओं की व्याख्या करता है। सूत्रों में जो बुद्ध वचन हैं, उनमें अस्ति, नास्ति, सदसद् इत्यादि की देशनायें हैं। साधारण जन के लिये ये देशनायें सुगम नहीं है।[428] अतः माध्यमिक दर्शन व्याख्या करके उन्हें सरल बनाता हैं। जैसे वैभाषिक धर्मप्रविचय पर विस्तार से व्याख्या करते हैं, वैसा माध्यमिकों का अपना कोई पक्ष नहीं है और न ही कोई प्रतिज्ञा है, जिसकी सिद्धि के लिये उन्हें स्वतन्त्र अनुमान का प्रयोग करना पड़े। *विग्रहव्यावर्तनी* ग्रन्थ में नागार्जुन ने भावस्वभाववादियों के मत का खण्डन कर शून्यता की स्थापना की है। भावस्वभाववादी समस्त भावों की सत्ता स्वीकार करते हैं, जबकि माध्यमिक दर्शन का कोई पक्ष ही नहीं है। माध्यमिक समस्त भावों की निःस्वभावता अर्थात् शून्यता को सिद्ध करते हैं। नागार्जुन के अनुसार जो भाव प्रतीत्यसमुत्पन्न हैं, वे सस्वभाव हो ही नहीं सकते क्योंकि वे हेतुप्रत्यय सापेक्ष हैं। यदि भाव सस्वभाव होते तो हेतुप्रत्यय की अपेक्षा के विना भी उनकी सत्ता होती। अतः निःस्वभाव होने से उन्हें शून्य कहा जाता है।[429]

जब प्रत्येक वस्तु शून्य अथवा निःस्वभाव है, तो व्यवहार कैसे चलता है? इसका समाधान मध्यमिक दार्शनिकों ने द्विविध सत्य स्वीकार करके किया है। आचार्य नागार्जुन सत्यद्वय के आधार पर ही व्यवहार और परमार्थ का सम्बन्ध स्थापित करते हैं। नागार्जुन के अनुसार बुद्ध का धर्मोपदेश लोकसंवृतिसत्य और परमार्थसत्य इन दो सत्यों पर आधारित है।[430] जो लोग इन द्विविध सत्यों के भेद को नहीं जानते, वे बुद्धोपदेशों के गम्भीर तत्त्व को नहीं जानते।[431] लोक में

---

[428] सच्चाप्यस्ति ह्यसच्चापि सदसच्चापि विद्यते। सुगमा न हि बुद्धानामाभिप्रायिकदेशना॥ *शून्यतासप्तति (शू.स.) (स्वोपज्ञवृत्तिसहित),* नागार्जुन, अनुवादक व सम्पादक – सेम्पा दोर्जे, सारनाथ: केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, द्वितीय संस्करण, 1996, 44, पृ. 41

[429] ये हि प्रतीत्यसमुत्पन्ना भावास्ते न सस्वभावा भवन्ति; स्वभावाभावात्। कस्मात्? हेतुप्रत्ययसापेक्षत्वात्। यदि हि स्वभावतो भावा भवेयुः, प्रत्याख्यायापि हेतुप्रत्ययं च भवेयुः। न चैवं भवन्ति; तस्मान्निःस्वभावाः, निःस्वभावत्वाच्छून्या इत्यभिधीयन्ते। *विग्रहव्यावर्तनी (स्वोपज्ञवृत्तिसहिता) (वि.व्या.वृ.),* नागार्जुन, सम्पादक व अनुवादक – द्वारिकादास शास्त्री, वाराणसी: बौद्धभारती, प्रथम संस्करण, 1994, पृ. 49

[430] द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना। लोकसंवृतिसत्यं च सत्यं च परमार्थतः॥ *मध्यमकशास्त्रम् (प्रसन्नपदावृत्तिसहित) (म.शा.),* नागार्जुन, सम्पादक – द्वारिकादास शास्त्री, वाराणसी: बौद्धभारती, प्रथम संस्करण, 1983, 24/9, पृ. 25

[431] येऽनयोर्न विजानन्ति विभागं सत्ययोर्द्वयोः। ते तत्त्वं न विजानन्ति गम्भीरं बुद्धशासने॥ *म.शा.*, 24/9, पृ. 25

जो मानकर व्यवहार की व्याख्या अथवा व्यवस्था है, वह लोकसंवृति सत्य है। यदि लोकसंवृति सत्य न हो, तो व्यवहार चलना असम्भव है। यह लोकसंवृति सत्य परीक्षा करने पर टिकता नहीं है, इसलिये वह परमार्थ सत्य नहीं है। पारमार्थिक सत्य की दृष्टि से प्रत्येक वस्तु निःस्वभाव अथवा प्रतीत्यसमुत्पन्न है।

लोकसंवृति सत्य – लोकसंवृति से आशय लोक में संवृति से है।[432] अर्थात् लोकदृष्टि से सत्य होने से इसे लोकसंवृति कहा जाता है। लोक का आशय प्रसन्नपदा में रूपादि पाँच स्कन्धों के उत्पाद से प्रज्ञप्त पुद्गल किया गया है। वस्तु के यथार्थ स्वरूप का आवरण करने से मोह संवृति है। संवृति अज्ञान है जो तत्त्व के वास्तविक रूप का आच्छादन कर देता है। संवृति सापेक्ष कार्य-कारणभाव है। संवृति प्रज्ञप्ति है, संकेत है, लोकव्यवहार है।[433] संवृति बुद्धि-विकल्पों द्वारा कार्य करती है, अतः बुद्धि को ही संवृति कहा जाता है।[434] यथाभूत ज्ञान को स्वभाव के आवरण से आवृत्त करने वाली संवृति है। अविद्या, मोह तथा विपर्यास इसके पर्याय हैं।[435] चूंकि संवृति का मूल अविद्या है, अतः एव इसका निरोध निर्विकल्प प्रज्ञा द्वारा ही सम्भव है। बौद्धिक ज्ञान द्वारा इसका निरोध नहीं किया जा सकता है क्योंकि यह स्वयं बुद्धिविकल्प रूप है। चन्द्रकीर्ति के अनुसार समस्त अभिधान-अभिधेय तथा ज्ञान-ज्ञेय आदि व्यवहार लोकसंवृति सत्य कहलाते हैं।[436]

लोकसंवृति में ही अखण्ड जीव-जगत् का व्यवहार है। प्रज्ञाकरमति के अनुसार यह संवृति भी दो प्रकार की है। तथ्यसंवृति और मिथ्यासंवृति। तथ्यसंवृति से आशय है किञ्चित् कारण से उत्पन्न तथा निर्दुष्ट इन्द्रियों के द्वारा उपलब्ध वस्तुरूप, जबकि मिथ्यासंवृति वह है जो किञ्चित् प्रत्यय

---

[432] लोके संवृतिर्लोकसंवृतिः। *प्र.प.*, II, पृ. 194

[433] पञ्च स्कन्धानुपादाय प्रज्ञप्यमानः पुद्गलो लोक इत्युच्यते। समन्ताद्वरणं संवृतिः। अज्ञानं हि समन्तात्सर्वपदार्थतत्त्वावच्छादनात्संवृतिरित्युच्यते। परस्परसम्भवनं वा संवृतिरन्योन्यसमाश्रयेणेत्यर्थः। अथवा संवृतिः संकेतो लोकव्यवहार इत्यर्थः। वही, पृ. 194

[434] बुद्धिः संवृतिरुच्यते। *बोधिचर्यावतार (प्रज्ञाकरमतिकृतपञ्जिकासहित) (बोधि.)*, शान्तिदेव, सम्पादक व अनुवादक - द्वारिकादास शास्त्री, वाराणसी: बौद्धभारती, 2001, 9/2, पृ. 206

[435] संव्रियते आव्रियते यथाभूत परिज्ञानं स्वभावावरणादावृतप्रकाशनाच्च अनयेति संवृतिः। अविद्या, मोहः विपर्यास इति पर्यायाः। *बोधि.प.*, पृ. 206

[436] सर्व एवायमभिधानाभिधेयज्ञानज्ञेयादिव्यवहारोऽशेषो लोकसंवृतिसत्यमित्युच्यते। *प्र.प.*, II, पृ. 194

जन्य हो तथा सदोष इन्द्रियों से उपलब्ध हो। नीलादि रूप का दर्शन तथ्यसंवृति है तथा माया, मरीचिकादि का दर्शन मिथ्यासंवृति का उदाहरण है।[437]

परमार्थ सत्य – परमार्थ सत्य बुद्धि के द्वारा अगोचर है अर्थात् बुद्धि के द्वारा ग्राह्य नहीं है।[438] बुद्धि के द्वारा जिस तथ्य का ग्रहण होता है, वह संवृति सत्य कहलाता है। बुद्धि किसी विशेष को लक्ष्य करके ही वस्तु का ग्रहण करती है। विशेष के अभाव में बुद्धि परमार्थ को ग्रहण नहीं कर पाती। परमार्थ सत्य आर्यों का तूष्णीभाव अर्थात् मौन है।[439] बुद्धों के द्वारा उसकी देशना नहीं हो सकती, क्योंकि देशना उस तत्त्व की हो सकती है, जो शब्दों के द्वारा अभिहित हो। परमार्थ सत्य वाणी द्वारा अकथ्य है। प्रज्ञाकरमति के अनुसार समस्त धर्मों की निःस्वभावता ही परमार्थ है। परमार्थ सत्य के ही अन्य पर्याय शून्यता, तथता, भूतकोटि और धर्मधातु हैं।[440]

सत्यद्वय का प्रयोजन – माध्यमिक जब परमार्थ को निष्प्रपञ्च स्वभाव मानते हैं, तो भगवान् बुद्ध ने अपरमार्थभूत स्कन्ध, धातु, आयतन, चार आर्य सत्य, प्रतीत्यसमुत्पादादि की देशना क्यों की? अतत्त्व तो परित्याज्य है, उसकी देशना तो व्यर्थ है।[441] नागार्जुन का मानना है कि व्यवहार का आश्रय लिये बिना परमार्थ की देशना अत्यन्त अशक्य है। परमार्थ - ज्ञान के बिना निर्वाण प्राप्त नहीं हो सकता।[442] व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश नहीं दिया जा सकता, अतः एव तथागत ने स्कन्ध, धातु, आयतनादि का उपदेश देकर परमार्थ निर्वाण का उपदेश दिया है। जो

---

[437] सा च संवृतिद्विविधा – लोकत एव तथ्यसंवृतिर्मिथ्यासंवृतिश्चेति। तथा हि किञ्चित् प्रतीत्यजातं नीलादिकं वस्तुरूपमदोषवादीन्द्रियैरुपलब्धं लोकत एव सत्यम् मायामरीचिप्रतिबिम्बादिषु प्रतीत्य समुपजातमपि दोषवदिन्द्रियोपलब्धं यथास्वं तीर्थिकसिद्धान्त परिकल्पितं च लोकत एव मिथ्या। *बोधि.प.*, पृ. 207

[438] बुद्धेरगोचरस्तत्त्वम्। *बोधि.*, 9/2, पृ. 206

[439] परमार्थो ह्यार्याणां तूष्णींभावः। *प्र.प.*, I, पृ. 20

[440] सर्वधर्माणां निःस्वभावता, शून्यता तथता भूतकोटिः धर्मधातुरिति पर्यायाः। सर्वस्य हि प्रतीत्यसमुत्पन्नस्य पदार्थस्य निःस्वभावता पारमार्थिकं रूपम्॥ *बोधि.प.*, पृ. 207

[441] यदि तर्हि परमार्थो निष्प्रपञ्चस्वभावः स एवास्तु, तत्किमनया अपरया स्कन्धधात्वायतनार्यसत्यप्रतीत्यसमुत्पादादिदेशनया प्रयोजनमपरमार्थया? अतत्त्वं हि परित्याज्यम्। यच्च परित्याज्यं किं तेनोपदिष्टेन? *प्र.प.*, II, पृ. 196

[442] व्यवहारमनाश्रित्य परमार्थो न देश्यते। परमार्थमनागम्य निर्वाणं नाधिगम्यते॥ *म.शा.*, 24/10, पृ. 25

लोग सत्यद्वय की व्यवस्था को जाने बिना शून्यता का वर्णन करते हैं, उन मन्दबुद्धि लोगों का दुर्दृष्ट शून्यता वैसे ही नाश कर देती है, जैसे अच्छे ढंग से न पकड़ा गया सर्प तथा अच्छी तरह से न साधी गई विद्या नष्ट कर देती है।[443]

माध्यमिकों द्वारा प्रतिपादित सत्यद्वय की व्यवस्था भी संवृति सत्य ही है। संवृति और परमार्थ दो सत्य नहीं हैं। संवृति को लोक-व्यवहार के लिये सत्य मान लिया जाता है, वस्तुतः सत्य तो मात्र परमार्थ है। संवृति का बाध परमार्थ के साक्षात्कार से ही सम्भव है। इस प्रकार सत्यद्वय के आधार पर नागार्जुन परमार्थ सत्य अर्थात् निर्वाण और संवृति सत्य संसार में सम्बन्ध स्थापित करते हैं। उनके अनुसार संसार का निर्वाण से तथा निर्वाण का संसार से कुछ भी वैशिष्ट्य नहीं है। निर्वाण की कोटि और संसार की कोटि, इन दोनों में सूक्ष्म अन्तर भी नहीं है।[444] अतः व्यवहार को व्यवहार के रूप में समझना और जीवन की व्यवस्था करना निर्वाण की पूर्वपीठिका है। जीवन दुःखरूप है, अपूर्ण है, यह जानकर व्यवहार करना निर्वाण की ओर अग्रसर होना है।[445]

3.3 माध्यमिक दर्शन में कार्य-कारणवाद का सिद्धान्त

आचार्य नागार्जुन ने *चतुःस्तव* में कहा है कि हेतु प्रत्ययों से जो उत्पन्न है, उसे बुद्ध ने अनुत्पन्न कहा है। क्योंकि वह स्वभाव से उत्पन्न नहीं है, अतः उसे शून्य से प्रकाशित किया गया है।[446] नागार्जुन ने *माध्यमिककारिका* का आरम्भ ही अनुत्पादादि विशेषणों से युक्त प्रतीत्यसमुत्पाद की विवेचना से किया है। दार्शनिक पदार्थों की उत्पत्ति स्वतः, परतः या उभयतः स्वीकार करते हैं। परन्तु आचार्य नागार्जुन पदार्थों की उत्पत्ति किसी तरह नहीं मानते। उनके मत में कोई भी

---

[443] विनाशयति दुर्दृष्टाशून्यता मन्दमेधसम्। सर्पो यथा दुर्गृहीतो विद्या वा दुष्प्रसाधिता॥ वही, 24/11, पृ. 25

[444] न संसारस्य निर्वाणात्किंचिदस्ति विशेषणम्। न निर्वाणस्य संसारात्किंचिदस्ति विशेषणम्॥
निर्वाणस्य च या कोटिः कोटिः संसरणस्य च। न तयोरन्तरं किञ्चित् सुसूक्ष्ममपि विद्यते॥ वही, 25/19-20, पृ. 29

[445] कुमार, शशिप्रभा और सन्तोष कुमार शुक्ल व राम नाथ झा (सं.), *दार्शनिक सम्प्रत्यय-कोश,* नई दिल्ली: विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्विद्यालय व डी. के. प्रिन्टवर्ल्ड (प्रा.) लि., प्रथम संस्करण, 2014, पृ. 275

[446] प्रत्ययेभ्यः समुत्पन्नमनुत्पन्नं त्वयोदितम्। स्वभावेन न तज्जातमिति शून्यं प्रकाशितम्॥ *चतुःस्तव (चतु.),* नागार्जुन, अनुवादक – ज्ञलछेन नमडोल, सारनाथ: केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, प्रथम संस्करण, 2001, 3/3, पृ. 38

वस्तु न तो स्वतः अर्थात् अपने कारण से उत्पन्न होती है, न ही परतः या दूसरे कारण से उत्पन्न होती है। न ही उभय कारणों से उत्पन्न होती है तथा न ही बिना कारणों के उत्पन्न होती है।[447]

स्वतः उत्पत्ति का अभाव – कोई पदार्थ स्वतः उत्पन्न नहीं हो सकता। स्वतः उत्पन्न होने का अर्थ है कि कार्य उत्पत्ति से पूर्व ही कारण में विद्यमान है। भारतीय दर्शन में साङ्ख्यदर्शन का मत है कि उत्पत्ति से पूर्व कार्य अपने कारण में अव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है। यह अव्यक्त अवस्था कारण तथा इसकी व्यक्तावस्था कार्य कहलाती है। साङ्ख्य में दो प्रकार के कारण होते हैं – परिणामी और अपरिणामी। अपरिणामी कारण मृत्पिण्ड, दण्ड, सूत्र, जल कोविदर आदि हैं। परिणामी कारण दूध है, जो दधि में परिणमित होता है।[448] अपरिणामी मृत्तिका में घट तथा परिणामी दुग्ध में दधि अव्यक्त रूप में कारण हैं तथा व्यक्त रूप में कार्य कहलाते हैं। साङ्ख्य अपने कार्य-कारणवाद को सत्कार्यवाद[449] कहता है।

चन्द्रकीर्ति साङ्ख्य के कार्य-कारणवाद का खण्डन करते हैं तथा कहते है कि भावों का स्वतः उत्पाद नहीं हो सकता। उनका मानना है कि यदि कार्य अपने कारण में पहले से ही स्थित है तो वह कार्य पहले ही एक उत्पन्न और विद्यमान पदार्थ है। अतः उसकी पुनरुत्पत्ति मानना व्यर्थ का कार्य है।[450]

परतः उत्पत्ति का अभाव – कोई पदार्थ परतः भी उत्पन्न नहीं हो सकता। परतः उत्पाद का अर्थ है कि कार्य अपने कारण में उत्पत्ति के पूर्व विद्यमान नहीं रहता; कार्य एक नवीन सृष्टि है और उत्पत्ति से ही उसकी सत्ता आरम्भ होती है। यदि कार्य उत्पत्ति के पूर्व असत् है तो वह वन्ध्यापुत्र

---

[447] न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः। उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन॥ *म.शा.*, 1/3, पृ. 1

[448] इह लोके द्विविधं कारणं परिणामकत्वादपरिणामकत्वाच्च। तत्रापरिणामकत्वात् मृत्पिण्डदण्डसूत्रोदकविदलान् पश्यामः, परिणामतश्च क्षीरं दधीति। ईश्वरकृष्ण, *साङ्ख्यकारिका (माठरकृतमाठरवृत्तिसहित)*, हिन्दी व्याख्याकार – थानेशचन्द्र उप्रेती, वाराणसी: चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, 2001, पृ. 16

[449] असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्। शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्। *Sāṁkhyakārikā,* Īśvarakṛṣṇa Swami Virupakshananda, Chennai: Sri Ramkrishna Math, 1995, 9, p. 30

[450] न स्वत उत्पद्यन्ते भावाः, तदुत्पादवैयर्थ्यात्, अतिप्रसङ्गदोषाच्च। न हि स्वात्मना विद्यमानानां पदार्थानां पुनरुत्पादे प्रयोजनमस्ति। अथ सन्नपि जायेत, न कदाचिन्न जायेत इति॥ *प्र.प.*, I, पृ. 13

अथवा खरगोश के सींगों के समान असत् हो जायेगा और तब वह कदापि उत्पन्न नहीं हो सकता। यह मत नैयायिकों को अभिप्रेत है।

आचार्य चन्द्रकीर्ति के अनुसार भावों की परतः उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि पर का अभाव है। पदार्थों का स्वभाव प्रत्ययादि में नहीं है। *मध्यमकावतार* में परतः उत्पत्तिवाद के खण्डन में चन्द्रकीर्ति ने कहा है कि अन्य की अपेक्षा से यदि अन्य उत्पन्न हो तो ज्वाला से भी अन्धकार होना चाहिये, और सब से सब वस्तुओं का जन्म होना चाहिये; क्योंकि कार्य के प्रति उससे अतिरिक्त अखिल वस्तुओं में परत्व अक्षुण्ण है।[451]

स्वतः एवं परतः उत्पाद की विरुद्धता – स्वतः और परतः उत्पाद मानना युक्तिविरुद्ध है क्योंकि प्रकाश और अन्धकार के समान दो परस्पर विरुद्ध धर्म एक साथ एक स्थान में नहीं रह सकते। आचार्य चन्द्रकीर्ति तर्क देते हैं कि जब परतः और स्वतः दोनों में पृथक् – पृथक् उत्पाद का सामर्थ्य नहीं है, तो संयुक्त में सामर्थ्य कहाँ से आयेगा?[452]

अहेतुक उत्पाद की असम्भवता – भावों का अहेतुक उत्पाद भी नहीं होगा। क्योंकि अहेतुक उत्पाद मानें तो कार्यकारणभाव के सिद्धान्त का विरोध होगा और अहेतुक गगनकमल के वर्ण और गन्ध के समान हेतुशून्य जगत् भी गृहीत न होगा।[453]

चारों प्रत्ययों का खण्डन – सर्वास्तिवादी हेतुवादी हैं तथा वे भावों के परतः उत्पाद को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार हेतु, आलम्बन, अनन्तर और अधिपति इन चार प्रत्ययों के अतिरिक्त पाँचवां कोई प्रत्यय नहीं होता।[454] जो निर्वर्तक है, वह हेतु है। जो बीजभाव से अवस्थित होता

---

[451] परतोऽपि नोत्पद्यन्ते भावाः। पराभावादेव एतच्च – 'न हि स्वभावो भावानां प्रत्ययादिषु विद्यते।' इत्यत्र प्रतिपादयिष्यति। ततश्च पराभावादेव नापि परत उत्पद्यन्ते। अपि च - अन्यत्प्रतीत्य यदि नाम परोऽभविष्यज्जायेत तर्हि बहुलः शिखिनोऽन्धकारः। सर्वस्य जन्म च भवेत्खलु सर्वतश्च तुल्यं परत्वमखिलेऽजनकेऽपि यस्मात्॥ *प्र.प.*, I, पृ. 16

[452] द्वाभ्यामपि नोपजायन्ते भावाः, उभयपक्षाभिहितदोषप्रसङ्गात् प्रत्येकमुत्पादासामर्थ्याच्च। वक्ष्यति हि – 'स्यादुभाभ्यां कृतं दुःखं स्यादेकैककृतं यदि।' वही, पृ. 16

[453] अहेतुतोऽपि नोत्पद्यन्ते - हेतावसति कार्यं च कारणं च न विद्यते। इति वक्ष्यमाणदोषप्रसङ्गात्, गृह्येत नैव च जगद्यदि हेतुशून्यं। स्याद्यद्वदेव गगनोत्पलवर्णगन्धौ॥ इत्यादिदोषप्रसङ्गाच्च॥ वही, पृ. 16

[454] चत्वारः प्रत्यया हेतुश्चालम्बनमनन्तरम्। तथैवाधिपतेयं च प्रत्ययो नास्ति पञ्चमः॥ *म.शा.*, 1/4, पृ. 1

है, उसे हेतु-प्रत्यय कहते हैं। जिस आलम्बन में धर्म उत्पन्न होता है, वह आलम्बन-प्रत्यय है। कारण का अनन्तर-निरोध कार्य का समनन्तर-प्रत्यय है। जिसकी सत्ता से जिसकी उत्पत्ति होती है, उसे अधिपति-प्रत्यय कहते हैं। इन चार प्रत्ययों से भावों की उत्पत्ति होती है। स्थविरवादियों द्वारा स्वीकृत पुरेजातादि अन्य प्रत्ययों का इन्हीं में समावेश हो जाता है। ईश्वरादि जगत् के हेतु न होने से कोई पाँचवाँ हेतु नहीं है। इसलिये इन पृथक्-भूत चार हेतुओं से भावों की उत्पत्ति होती है।[455]

हेतुप्रत्यय का खण्डन – सर्वास्तिवादियों ने छः हेतु कारणहेतु, सहभूहेतु, सभागहेतु, सम्प्रयुक्तकहेतु, सर्वत्रगहेतु एवं विपाकहेतु बतलाये हैं। इनमें से कारणहेतु को छोड़कर शेष हेतु हेतुप्रत्यय कहलाते हैं। जो परस्पर एक-दूसरे के फल हैं वे सहभूहेतु हैं। सदृश धर्म सभागहेतु होता है। चित्त और चैत्तसिक सम्प्रयुक्तक हेतु होते हैं। सर्वत्रग हेतु क्लिष्ट धर्मों के सामान्य कारण हैं। अकुशल और कुशल सास्रव धर्म विपाकहेतु हैं। जो बीजभाव से अवस्थित होता है, उसे हेतु-प्रत्यय कहते हैं।

नागार्जुन ने *माध्यमिककारिका* में कहा है कि प्रत्ययादि में वस्तुओं का स्वभाव नहीं रहता और स्वभाव के न होने से उनका भाव भी नहीं होता।[456] चन्द्रकीर्ति नागार्जुन के मत को स्पष्ट करते हुये कहते हैं कि भावों की परतः उत्पत्ति भी नहीं मानते। वे चारों हेतुओं का खण्डन करते हैं। कहते हैं कि भावों की उत्पत्ति के पहले व्यस्त या समस्त रूप में यदि हेतुओं की सत्ता हो, तो उनसे भावों का उत्पाद सम्भव हो, किन्तु ऐसा नहीं है। यदि उत्पाद से पूर्व हेतु होंगे, तो उनकी उपलब्धि होनी चाहिये। यदि उपलब्ध हैं, तो फिर उत्पाद व्यर्थ है। इसलिये यह सिद्ध है कि हेतुओं में कार्यों का स्वभाव नहीं है। जिनमें स्वभाव नहीं है उनसे दूसरों का उत्पाद कैसे होगा।[457]

---

[455] तत्र निर्वर्तको हेतुरिति लक्षणात्, यो हि यस्य निर्वर्तको बीजभावेनावस्थितः, स तस्य हेतु प्रत्ययः। उत्पद्यमानो धर्मो येनालम्बनेनोत्पद्यते, स तस्यालम्बनप्रत्ययः। कारणस्यानन्तरो निरोधः कार्यस्योत्पत्तिप्रत्ययः, तद्यथा बीजस्यानन्तरो निरोधोऽङ्कुरस्योत्पादप्रत्ययः। यस्मिन् सति यद्भवति तत्तस्याधिपतेयमिति। त एते चत्वारः प्रत्ययाः। ये चान्ये पुरोजातसहजातपश्चाज्जातादयः, ते एतेष्वेव अन्तर्भूताः। ईश्वरादयस्तु प्रत्यया एव न सम्भवन्तीति, अत एवावधारयति-प्रत्ययो नास्ति पञ्चम इति। तस्मादेभ्यः परभूतेभ्यो भावानामुत्पत्तिरस्ति परत उत्पत्तिरिति। *प्र.प.*, I, पृ. 26

[456] न हि स्वभावो भावानां प्रत्ययादिषु विद्यते। अविद्यमाने स्वभावे परभावो न विद्यते॥ *म.शा.*, 1/5, पृ. 1

[457] यदि हि हेत्वादिषु परभूतेषु प्रत्ययेषु समस्तेषु व्यस्तेषु व्यस्तसमस्तेषु हेतुप्रत्ययसामग्र्या अन्यत्र वा क्वचिद् भावानां कार्याणामुत्पादात्पूर्वं सत्त्वं स्यात्। स्यात्तेभ्य उत्पादः। न चैवं यदुत्पादात्पूर्वं सम्भवः स्यात्। यदि स्यात्, गृह्येत च, उत्पादवैयर्थ्यं च स्यात्। तस्मान्न चास्ति भावानां प्रत्ययादिषु स्वभावः। अविद्यमाने च स्वभावे नास्ति परभावः। भवनं

चन्द्रकीर्ति नागार्जुन के मत को अधिक स्पष्ट करते हुये कहते हैं कि अविकृत बीजादि कारणों में कार्य का स्वभाव नहीं होता। ऐसी अवस्था में कार्य से कारण की परवर्तिता सिद्ध नहीं होगी। क्योंकि दो विद्यमान वस्तुओं में ही परस्परापेक्ष परत्व होता है, किन्तु बीज और अङ्कुर एककालिक नहीं हो सकते। इसलिये बीजादि 'पर' नहीं होंगे। फिर परतः उत्पाद नहीं होगा।[458] इस प्रकार आचार्य हेतुओं से उत्पाद के सिद्धान्त का खण्डन करते हैं। सहेतुक क्रिया से उत्पाद मानने वाले सिद्धान्त का भी खण्डन करते हैं।

नागार्जुन कहते हैं कि क्रिया प्रत्ययों से युक्त नहीं है, क्रिया अप्रत्ययों से भी युक्त नहीं है। इसी तरह प्रत्यय अक्रिया और क्रिया से युक्त नहीं हैं।[459] चन्द्रकीर्ति कहते हैं कि क्रिया की सिद्धि होने पर ही उसके प्रत्ययवती अथवा अप्रत्ययवती होने का भान हो सकता है। क्रिया की सिद्धि किसी भी प्रकार नहीं होती। पूर्वपक्षी को बताना चाहिये कि क्रिया उत्पन्न हुये विज्ञान में मानी जाये अथवा उत्पन्न होने वाले विज्ञान में या उत्पन्न हो रहे विज्ञान में।[460] इसी प्रकार जो जन्म ले चुका है, उसका जन्म व्यर्थ है। अजात बिना कर्त्ता के जनन क्रिया नहीं कर सकत्ता। जात और अजात से अतिरिक्त अन्य जायमान की सत्ता नहीं होगी।[461] इस तरह तीनों कालों में जननक्रिया असम्भव है। अतः क्रिया मात्र असिद्ध है। यदि क्रिया प्रत्यय से युक्त न हो तो निर्हेतुक होगी। अतः क्रिया पदार्थ-जनक नहीं होगी। यदि क्रिया नहीं है तो उससे रहित प्रत्यय भी जनक नहीं होंगे।[462]

भाव उत्पादः, परेभ्य उत्पादः परभावः, स न विद्यते। तस्मादयुक्तमेतत् परभूतेभ्यो भावाना मुत्पत्तिरिति॥ *प्र.प.,* I, पृ. 26

[458] अथवा भावानां कार्याणामङ्कुरादीनां वीजादिषु प्रत्ययेषु सत्स्वविकृतरूपेषु नास्ति स्वभावो निर्हेतुकत्वप्रसङ्गात्॥ तत्किमपेक्षं परत्वं प्रत्ययादीनाम्? विद्यमानयोरेव हि मैत्रोपग्राहकयोः परस्परापेक्षं परत्वम्? न चैवं बीजाङ्कुरयोर्यौगपद्यम्। तस्मादविद्यमाने स्वभावे कार्याणां परभावः परत्वं बीजादीनां नास्तीति परव्यपदेशाभावादेव न परत उत्पाद इति। वही, पृ. 26

[459] क्रिया न प्रत्ययवती नाप्रत्ययवती क्रिया। प्रत्यया नाक्रियावन्तः क्रियावन्तश्च सन्त्युत॥ *म.शा.,* 1/6, पृ. 1

[460] इह क्रियेयमिष्यमाणा जाते वा विज्ञाने इष्यते, अजाते वा जायमाने वा? तत्र जाते न युक्ता। *प्र.प.,* I, पृ. 27

[461] जातस्य जन्म पुनरेव च नैव युक्तम्। कर्त्रा विना जनिरियं न च युक्तरूपा।।
जायमानार्थजातत्वाज्जायमानो न जायते। अथ वा जायमानत्वं सर्वस्यैव प्रसज्यते॥ *प्र.प.,* I, पृ. 27

[462] यतश्चैवं त्रिषु कालेषु जनिक्रियाया असम्भवः। यदा प्रत्ययवती नास्ति, तदा कथमप्रत्ययवती निर्हेतुका स्यात्? यद्येवं क्रियाया असम्भवः, प्रत्ययास्तर्हि जनका भविष्यन्ति भावानामिति। वही, पृ. 27

नागार्जुन कहते हैं कि हेत्वादि प्रत्यय इसलिये हैं क्योंकि इनके सम्बन्ध से वस्तु उत्पन्न होती है। माध्यमिक मत में तो वस्तु उत्पन्न ही नहीं होती, तो प्रत्यय भी नहीं होते। वे अप्रत्यय कहलाते हैं।[463] सत् और असत् वस्तु का प्रत्यय युक्तिसङ्गत नहीं है, क्योंकि असत् का क्या प्रत्यय होगा एवं जो सत् है उसे प्रत्यय से क्या प्रयोजन अर्थात् प्रत्यय आवश्यक नहीं होगा। जब सत्, असत् और सदसत् धर्म ही उत्पन्न नहीं होते तब यह कहना अनुपयुक्त होगा कि हेतु उत्पन्न करता है।[464]

आलम्बनप्रत्यय का खण्डन – चित्त-चैत्त जिस रूपादि आलम्बन में उत्पन्न होते हैं, वह आलम्बन प्रत्यय होता है।[465] चन्द्रकीर्ति प्रश्न उत्पन्न करते हैं कि यह आलम्बनप्रत्यय विद्यमान चित्त-चैत्त का ही होता है या अविद्यमान का। उत्तर देते हुये कहते हैं कि विद्यमान का आलम्बनप्रत्यय से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, क्योंकि आलम्बन के पूर्व वह भी विद्यमान है। अविद्यमान का आलम्बन युक्त नहीं होगा, क्योंकि जो है ही नहीं, उसका योग व्यर्थ ही है।[466] अतः एव आचार्य नागार्जुन ने धर्म को बिना आलम्बन के ही प्रतिपादित किया है। धर्म के आलम्बनरहित होने पर आलम्बन अनावश्यक है।[467]

समनन्तरप्रत्यय का खण्डन – कारण के अव्यवहित निरोध से जो कार्योत्पाद प्रत्यय है, वह समनन्तर प्रत्यय है।[468] आचार्य नागार्जुन कहते हैं कि जब धर्म उत्पन्न ही नहीं होते तो निरोध को

---

[463] उत्पद्यते प्रतीत्येमानितीमे प्रत्ययाः किल। यावन्नोत्पद्यत इमे तावन्नाप्रत्ययाः कथम्॥ *म.शा.*, 1/7, पृ. 1

[464] नैवासतो नैव सतः प्रत्ययोऽर्थस्य युज्यते। असतः प्रत्ययः कस्य सतश्च प्रत्ययेन किम्॥
न सन्नासन्न सदसन् धर्मो निर्वर्तते यदा। कथं निर्वर्तको हेतुरेवं सति हि युज्यते॥ वही, 1/8-9, पृ. 1

[465] चित्तचैत्ता येनालम्बनेनोत्पद्यन्ते यथायोगं रूपादिना, स तेषामालम्बनप्रत्ययः। *प्र.प.*, I, पृ. 35

[466] अयं च विद्यमानानां वा परिकल्प्येत अविद्यमानानां वा। तत्र विद्यमानानां नार्थस्तदालम्बनप्रत्ययेन। धर्मस्य हि उत्पत्त्यर्थमालम्बनं परिकल्प्यते, स चालम्बनात्पूर्वं विद्यमान एवेति। अथैवमनालम्बने धर्मे स्वात्मना प्रसिद्धे किमस्य आलम्बनयोगेन परिकल्पितेन, इत्यनालम्बन एवायं सन् विद्यमानो धर्मः चित्तादिकः केवलं सालम्बन इत्युच्यते भवद्भिः स्वमनीषिकया, न त्वस्य आलम्बनेन कश्चित्संबन्धोऽस्ति। अथाविद्यमानस्यालम्बनं परिकल्प्यते, तदपि न युक्तम्, अनालम्बन एवायमित्यादि। अविद्यमानस्य हि नास्ति आलम्बनेन योगः॥ वही, I, पृ. 35

[467] अनालम्बन एवायं सन् धर्म उपदिश्यते। अथानालम्बने धर्मे कुत आलम्बनं पुनः॥ *म.शा.*, 1/10, पृ. 1

[468] तत्र कारणस्यानन्तरो निरोधः कार्यस्योत्पादप्रत्ययः समनन्तरप्रत्ययलक्षणम्। *प्र.प.*, I, पृ. 37

युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता। अतः एव अनन्तर अथवा समनन्तरप्रत्यय ठीक नहीं, क्योंकि निरोध होने पर प्रत्यय नहीं होता।[469]

अधिपतिप्रत्यय का खण्डन – जिस कारण के होने पर जो कार्य होता है, वह उसका अधिपति प्रत्यय कहलाता है।[470] समस्त भावों के प्रतीत्यसमुत्पन्न अथवा निःस्वभाव होने पर यह कहना अनुचित है कि इसके होने पर यह होता है।[471]

फलव्यवस्था की दृष्टि से हेतुवाद का खण्डन — फल की दृष्टि से हेतु की सिद्धि नहीं होती। सर्वास्तिवादियों के द्वारा प्रत्येक हेतु का फल स्वीकार किया जाता है। नागार्जुन ने शून्यतासप्तति की स्वोपज्ञवृत्ति में कहा है कि हेतु के अनुपपन्न होने पर उत्पाद अर्थात् फल की सत्ता नहीं होती।[472] क्योंकि यदि फल है तो फलवान् पदार्थ हेतु होता है। फल न होने पर वह अहेतु के समान ही होता है। यदि फल सत् और असत् दोनों हो तो एक ही धर्म में दो विरोधी धर्मों की भाँति हो जाने से असम्भव हो जाता है। हेतु तीनों कालों में भी उपपन्न नहीं होता है।[473] यदि हेतु की कल्पना फल से पूर्व की जाये, तो वह किसका हेतु है? यदि बाद में की जाये, तो फल के सिद्ध हो जाने पर हेतु निष्प्रयोज्य है। यदि हेतु और फल दोनों को युगपद् उत्पन्न मानें, तो यह पता करना असम्भव है कि कौन किसका हेतु है तथा कौन किसका फल?[474] अतः एव फलव्यवस्था की दृष्टि से भी हेतुवाद खण्डित होता है।

3.4 शून्यता और प्रतीत्यसमुत्पाद

---

[469] अनुत्पन्नेषु धर्मेषु निरोधो नोपपद्यते। नानन्तरमतो युक्तं निरुद्धे प्रत्ययश्च कः॥ *म.शा.*, 1/11, पृ. 1

[470] इह यस्मिन् सति यद्भवति, तत्तस्य आधिपतेयमित्यधिपतिप्रत्ययलक्षणम्। *प्र.प.*, I, पृ. 38

[471] भावानां निःस्वभावानां न सत्ता विद्यते यतः। सतीदमस्मिन् भवतीत्येतन्नैवोपपद्यते॥ *म.शा.*, 1/12, पृ. 1

[472] हेतोरनुपपत्तेरप्यनुत्पादः। *शून्यतासप्तति (स्वोपज्ञवृत्तिसहित) (शू.स.वृ.,)*, नागार्जुन, अनुवादक व सम्पादक – सेम्पा दोर्जे, सारनाथ: केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, द्वितीय संस्करण, 1996, पृ. 8

[473] फले स्यात् फलवान् हेतुः नास्तित्वेऽहेतुना समः। सदसत्त्वे विरोधित्वं त्रैकाल्ये नोपपद्यते॥ *शू.स.*, 6, पृ. 8

[474] यदि हेतुः (फलात्) पूर्वं कल्प्येत, कस्य खलु स हेतुः। यदि पश्चात् कल्प्येत, निष्पन्ने किं प्रयोजनम्। यदि हेतुफलयोयौगपद्यं कल्प्येत, युगपदुत्पन्नयोः हेतुफलयोः कः कस्य हेतुः, किं कस्य फलम्? *शू.स.वृ.*, पृ. 8-9

शून्य पद लोक व्यवहार में जहाँ रिक्तता अर्थ में प्रसिद्ध है, वहीं गणितीय व्यवहार में इसे अङ्क विशेष के रूप में जाना जाता है। *शब्दकल्पद्रुम* में शून्य का अर्थ त्रिविध लिङ्गों में किया गया है। नपुंसकलिङ्ग में शून्य का अर्थ आकाश, पुल्लिङ्ग में अभावविशिष्ट व असम्पूर्ण तथा स्त्रीलिङ्ग में वन्ध्या किया गया है।[475] व्याकरण की दृष्टि से विशेषण शून्य का सञ्ज्ञापद शून्यता है। फ्रेन्कलिन् एड्गर्टन[476] और वामन शिवराम आप्टे[477] ने शून्यता शब्द का अर्थ निःस्वभाव और अनस्तित्त्व किया है। यद्यपि विद्वानों द्वारा शून्यता का शाब्दिक अर्थ लोकव्यवहार तथा साहित्यिक सन्दर्भों को ध्यान में रखकर किया गया है, तथापि माध्यमिक दर्शन में यह एक नवीन अर्थ को ग्रहण करता है। आचार्य नागार्जुन ने तथागत प्रोक्त मध्यम मार्ग की तार्किक व्याख्या कर, उसे शून्यता के रूप में स्थापित किया, जिसे परवर्ती आर्यदेव, चन्द्रकीर्ति तथा शान्तरक्षित प्रभृति विद्वानों ने माध्यमिक दर्शन के क्षेत्र का अद्भुत एवं अप्रतिम सिद्धान्त बना दिया।

यदि माध्यमिक दर्शन के अनुसार शून्यता को परिभाषित करना हो तो शाश्वतवाद और उच्छेदवाद की एकाङ्गी दृष्टियों का निषेध कर मध्यममार्ग का आश्रय लेने वाले माध्यमिकों के द्वारा जिस प्रत्यय को आधार बनाकर सत्ता के स्वरूप, संसार और निर्वाण, व्यवहार और परमार्थ की व्याख्या की जाती है, उसे 'शून्यता' कहा जाता है।

शून्यता की अवधारणा – शून्यता क्या है? इस पर आचार्य नागार्जुन का मत है कि शून्यता सभी भावों का उपशमन है। जो शून्य का आशय सत् अथवा असत् समझते हैं, वे मन्दबुद्धि हैं। इन दोनों कोटियों से परे होने के कारण शून्य अद्वय अर्थात् दोनों में से कोई नहीं है।[478] नागार्जुन प्रतिपादित शून्य के स्वरूप को आचार्य आर्यदेव ने स्वग्रन्थ ज्ञानसारसमुच्चय में तत्त्व कहा है। उनके अनुसार बुद्धि की चार कोटियाँ सम्भव हैं– सत्, असत्, सदसत् (उभय) एवं सदसद्विन्न (अनुभय)।

---

[475] देव, राधाकान्त, *शब्दकल्पद्रुमः(पञ्चम भाग)*, वाराणसी: चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, 1967, तृतीय संस्करण, पृ. 129

[476] Edgerton, Franklin. *Buddhist Hybrid Sanskrit Grammar and Dictionary*. New Delhi: Munshiram Manoharlal Publishers Pvt. Ltd., 2011, Vol. II, p. 532

[477] Apte, Vaman Shivram, *The Student's Sanskrit-English Dictionary*, Delhi: Ministry of Education, India Government, 1965, p. 560

[478] अस्तित्वं ये तु पश्यन्ति नास्तित्वं चाल्पबुद्धयः। भावानां ते न पश्यन्ति द्रष्टव्योपशमं शिवम्॥ *म.शा.*, 5/8, पृ. 5

शून्यतत्त्व न सत् है, न असत् है, न उभय है और न ही अनुभय है। सदसदादि चारों कोटियों से रहित ही शून्यतत्त्व कहलाता है।[479] इसे एक उदाहरण से समझा जा सकता है। घटादि विषय यदि सत् होते तो उनके निर्माण का कार्य व्यर्थ हो जाता। यदि वे असत् होते तो भी निर्माण व्यर्थ हो जाता। घटादि विषय एक साथ सदसत् और सदसद्विन्न नहीं हो सकते। अतः एव घटादि की सत्ता उपर्युक्त चतुष्कोटियों से मुक्त है अर्थात् घटादि शून्य हैं।

नागार्जुन ने *माध्यमिककारिका* में शून्य के लक्षण में पाँच विशेषतायें बताई हैं। शून्यतत्त्व अपरप्रत्यय, शान्त, प्रपञ्चरहित, निर्विकल्पक तथा नाना अर्थों से रहित है।[480] यद्यपि माध्यमिक दर्शन में तत्त्व का पारमार्थिक लक्षण नहीं किया जा सकता, केवल व्यवहारिक दृष्टि से इसका विश्लेषण किया जा सकता है। नागार्जुन द्वारा प्रतिपादित इन विशेषताओं का विवेचन निम्न है –

अपरप्रत्यय – शून्य का कोई परवर्ती प्रत्यय नहीं है अर्थात् शून्य का उपदेश एक व्यक्ति द्वारा दूसरे को नहीं दिया जा सकता। यह स्वयं अधिगन्तव्य है। अतःएव शून्य अपर प्रत्यय है।[481] चन्द्रकीर्ति अपरप्रत्यय को एक उदाहरण से समझाते हुये कहते हैं कि जैसे— तिमिर रोग से ग्रसित व्यक्ति केश-मशक-मक्षिकादि के असत्य रूपों को देखता है। यदि तिमिर रोग से अनाक्रान्त व्यक्ति उस रोगी को केश, मशकादि का यथावस्थित रूप दिखाना चाहे तो व्यर्थ होगा। क्योंकि उसके उपदेश से रोगी को केवल अपने ज्ञान का मिथ्यात्व ज्ञात होगा। तिमिर रोग नाश के पश्चात् ही उसे वस्तु का स्वयं साक्षात्कार होगा। इसी प्रकार जब परमार्थभूत शून्यता-दर्शन के अञ्जन से बुद्धिरूपी नेत्र अञ्जित होंगे, तो तत्त्वज्ञान उत्पन्न होगा और तत्त्व स्वयं ही अधिगत होगा।[482]

---

[479] न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्। चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः॥ *ज्ञा.स.*, 28, पृ. 100

[480] अपरप्रत्ययं शान्तं प्रपञ्चैरप्रपञ्चितम्। निर्विकल्पमनानार्थमेतत्तत्त्वस्य लक्षणम्॥ *म.शा.*, 18/9, पृ. 17

[481] अपरप्रत्ययमित्यत्र परप्रत्ययो न विद्यते। अगम्यं स्वयमेव साक्षात्करणं स्वतोऽधिगन्तव्यमित्यर्थः। *मध्यमकशास्त्रे अकुतोभया (अकु.)*, नागार्जुन, सम्पादक – रघुनाथ पाण्डेय, दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास, प्रथम संस्करण, 1989, II, पृ. 72; तत्र नास्मिन् परप्रत्ययोऽस्तीत्यपरप्रत्ययं परोपदेशागम्यं स्वयमैवाधिगन्तव्यमित्यर्थः। *प्र.प.*, II, पृ. 73

[482] यथा हि तैमिरिका वितथं केशमशकमक्षिकादिरूपं पश्यन्तो वितिमिरोपदेशेनापि न शक्नुवन्ति केशानां यथावदवस्थितं स्वरूपमदर्शनन्यायेन अधिगन्तव्यमतैमिरिका इवाधिगन्तुम्, किं तर्हि अतैमिरिकोपदेशान्मिथ्यैतदित्येतावन्मात्रकमेव प्रतिपद्यन्ते। यदा तु तिमिरोपधात्य विपरीतशून्यतादर्शनाञ्जनाञ्जितबुद्धिनयनाः सन्तः समुत्पन्नतत्त्वज्ञाना भवन्ति, तदा तत् तत्त्वमनधिगमनयोगेन स्वयमधिगच्छन्तीति। एवमपरप्रत्ययं भावानां यत् स्वरूपं तत् तत्त्वम्। *प्र.प.*, II, पृ. 73

शान्त — स्वभावरहित होने से शून्य शान्त है। नागार्जुन के अनुसार भाव-स्वभाव के विषय में विकल्पों के विषयों का अभाव होने के कारण ही शून्य शान्त होता है।[483] तिमिर रोग से मुक्त व्यक्ति जैसे केशादि का अदर्शन करता है, वैसे ही स्वभावरहित यह शून्य शान्त है।[484]

निष्प्रपञ्च — चन्द्रकीर्ति प्रपञ्च का अर्थ वाणी करते हैं, क्योंकि वाणी द्वारा ही अर्थ प्रपञ्चित होता है। शून्यतत्त्व समस्त प्रपञ्चों द्वारा प्रपञ्चित नहीं होता अर्थात् वाणी का विषय नहीं है।[485] क्योंकि आर्यों का तूष्णीभाव ही परमार्थ है,[486] अतः एव शब्दों अर्थात् प्रपञ्चों के द्वारा शून्य के अर्थ का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। यह निष्प्रपञ्च है।

निर्विकल्प — विकल्प से आशय चित्त के प्रचार अथवा सक्रियता से है। उससे रहित तत्त्व निर्विकल्पक है।[487] अतः चित्त व्यापार से रहित तत्त्व निर्विकल्पक।

अनानार्थ — अनानार्थ का अर्थ है नाना अर्थों से रहित। तत्त्व में भिन्नार्थता नहीं है। शून्यतत्त्व अभिन्नार्थ है।[488] इसलिये अनानार्थता उसका लक्षण है।

शून्यता और प्रतीत्यसमुत्पाद – *चतुःस्तव* में नागार्जुन ने प्रतीत्यसमुत्पाद और शून्यता को एक कहा गया है। तथागत ने जिसे प्रतीत्यसमुत्पाद कहा है, वही शून्यता है।[489] *माध्यमिककारिका* और *विग्रहव्यावर्तनी* में भी नागार्जुन ने शून्यता और प्रतीत्यसमुत्पाद को अभिन्न बतलाया है।[490] इन दोनों शब्दों का आशय एक ही है। नागार्जुन के अनुसार शून्यता अथवा प्रतीत्यसमुत्पाद उसी

---

[483] शान्तमिति स्वभावरहितम्। भावस्वभावविषये विकल्पस्य विषयाभावात्। *अकु.*, II, पृ. 72

[484] एतच्च शान्तस्वभावमतैमिरिककेशादर्शनवत् स्वभावविरहितमित्यर्थः। *प्र.प.*, II, पृ. 73

[485] प्रपञ्चो हि वाक्, प्रपञ्चयति अर्थानिति कृत्वा। प्रपञ्चैरप्रपञ्चितं वाग्भिरव्याहृतमित्यर्थः॥ वही, पृ. 73

[486] परमार्थो ह्यार्याणां तूष्णींभावः। *प्र.प.*, I, पृ. 20

[487] निर्विकल्पं च तत्। विकल्पश्चित्तप्रचारः। तद्रहितत्वात् तत् तत्त्वं निर्विकल्पम्। *प्र.प.*, II, पृ. 73

[488] नानार्थोऽस्येति नानार्थं भिन्नार्थम्, न नानार्थः अनानार्थम्, अभिन्नार्थमित्यर्थः। *प्र.प.*, II, पृ. 73

[489] यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यता सैव ते मता। *चतु.*, 1/22, पृ. 14; 3/40, पृ.60

[490] यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्ष्महे। *म.शा.*, 24/18, पृ. 26; यः शून्यतां प्रतीत्यसमुत्पादं मध्यमां प्रतिपदमनेकार्थाम्। *वि.व्या.*, 71, पृ. 64

के लिये प्रभावी है, जिसके लिये सभी अर्थों की वास्तविकता प्रभावी है। जिसके लिये शून्यता प्रभावी नहीं, उसके लिये कुछ भी प्रभावी नहीं।[491] शून्यता को जान लेने वाला व्यक्ति प्रतीत्यसमुत्पाद की यथार्थता को सम्यक्तया जान लेता है। *माध्यमिककारिका* में कहा गया है कि जिसके लिये शून्यता युक्तियुक्त है उसके लिये सब युक्तियुक्त है तथा जिसके लिये शून्य युक्तियुक्त नहीं उसके लिये कुछ भी युक्तियुक्त नहीं है।[492]

शून्यता के सिद्धान्त पर जो आरोप पूर्वपक्षियों के द्वारा लगाये गये हैं, वे सब व्यर्थ और असिद्ध हैं, क्योंकि शून्यता में दोष का कोई प्रसङ्ग ही नहीं आ सकता।[493] पूर्वपक्षियों द्वारा लगाये गये दोष शून्यता को अभावात्मक स्वीकार करने से प्रसूत हुये हैं, किन्तु आचार्य नागार्जुन शून्यता का अर्थ प्रतीत्यसमुत्पाद करते हैं। अतः दोषों का परिहार स्वतः ही हो जायेगा।[494] आचार्य नागार्जुन शून्यता के विरोधियों की तुलना उन लोगों से करते हैं, जो अपने अश्वों पर आरूढ होते हुये भी अपने अश्वों को विस्मृत कर देते हैं। ऐसे ही पूर्वपक्षी अपने दोषों को माध्यमिकों के ऊपर निक्षेपित करते हैं।[495]

शून्यता के अर्थ से अनभिज्ञ लोगों को बुद्ध ने असाध्य कहा है। बुद्ध ने समस्त दृष्टियों की अप्रवृत्ति को ही शून्यता कहा है। किन्तु जिनके लिये सत्, असत्, उभय अथवा अनुभय कोटि वाली शून्यता ही यदि दृष्टि बन जाये तथा बुद्धि की इन कोटियों के जाल में फँसे रहें।[496] इसे उदाहरण से समझाते हुये चन्द्रकीर्ति कहते हैं कि यदि कोई दुकानदार किसी ग्राहक से कहे कि मैं तुम्हे कुछ नहीं दूँगा, इस पर ग्राहक कहे, अच्छा, तुम मुझे यह 'कुछ नहीं' ही दे दो, तो उस मूर्ख ग्राहक को

---

[491] प्रभवति च शून्यतेयं यस्य प्रभवन्ति तस्य सर्वार्थाः। प्रभवति न तस्य किं न भवति शून्यता यस्येति॥ *वि.व्या.*, 70, पृ. 64

[492] सर्वं च युज्यते तस्य शून्यता यस्य युज्यते। सर्वं न युज्यते तस्य शून्यं यस्य न युज्यते॥ *म.शा.*, 24/14, पृ. 25

[493] शून्यतायामधिलयं यं पुनः कुरुते भवान्। दोषप्रसङ्गो नास्माकं स शून्ये नोपपद्यते॥ वही, 24/13, पृ. 25

[494] अतो यं भवान् दोषप्रसङ्गं शून्यतायामुद्भावयन् शून्यतायामधिलयमधिक्षेपं निराकरणं प्रतिक्षेपं करोति, सोऽधिलयोऽस्माकं नोपपद्यते। अभावार्थं हि शून्यतार्थमध्यारोप्य प्रसङ्ग उद्भावितो भवता। न च वयमभावार्थं शून्यतार्थं व्याचक्ष्महे, किं तर्हि प्रतीत्यसमुत्पादार्थम्। इत्यतो न युक्तमेतत् शून्यतादर्शनदूषणम्॥ *प्र.प.*, II, पृ. 199

[495] स त्वं दोषानात्मनीनानस्मासु परिपातयन्। अश्वमेवाभिरुढः सन्नश्वमेवासि विस्मृतः॥ *म.शा.*, 24/15, पृ. 25

[496] शून्यता सर्वदृष्टीनां प्रोक्ता निःसरणं जिनैः। येषां तु शून्यता दृष्टिस्तानसाध्यान् बभाषिरे॥ वही, 13/8, पृ. 12

कैसे समझाया जाय?[497] आर्यरत्नकूटसूत्र से गौतम बुद्ध के वचन को चन्द्रकीर्ति उद्धृत करते हैं। शून्यता में भावाभिनिवेश रखने वालों को तथागत द्वारा नष्ट-प्रणष्ट कहा जाता है। शून्यता सब दृष्टियों का निःसरण है। किन्तु जो शून्यता को ही दृष्टि के रूप में ग्रहण करता है उसे बुद्ध अचिकित्स्य कहते हैं। जिस प्रकार किसी कोष्ठ-बद्धता के रोगी को कोई वैद्य अत्युग्र रेचक दे और वह औषध उस रोगी के उदर-गत दोषों को बाहर निकाल दें, किन्तु स्वयं बाहर न निकले। यदि कोष्ठ में रह कर ही वह उत्पात मचाती रहे, तो क्या वह रोगी ग्लानि-मुक्त माना जायेगा?[498]

शून्यता के बीस प्रकार – आचार्य नागार्जुन ने धर्मसङ्ग्रह में शून्यता के बीस प्रकार बताये हैं, जो हैं– अध्यात्मशून्यता, बहिर्धाशून्यता, अध्यात्मबहिर्धाशून्यता, शून्यताशून्यता, महाशून्यता, परमार्थशून्यता, संस्कृतशून्यता, असंस्कृतशून्यता, अत्यन्तशून्यता, अनवराग्रशून्यता, अनवकारशून्यता, प्रकृतिशून्यता, सर्वधर्मशून्यता, लक्षणशून्यता, उपलम्भशून्यता, अभावस्वभावशून्यता, भावशून्यता, अभावशून्यता, स्वभावशून्यता तथा परभावशून्यता।[499]

अध्यात्मशून्यता – अध्यात्मशून्यता से आशय आन्तरिक वस्तुओं की शून्यता से है। चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्रविज्ञान, घ्राणविज्ञान, जिह्वाविज्ञान, कायविज्ञान तथा मनोविज्ञान इनको संयुक्त रूप से अध्यात्म कहा जाता है। ये चक्षुर्विज्ञानादि शून्य हैं क्योंकि अकूटस्थ, अविनाशी और प्रकृति का उपादानकारण स्वरूप कोई आत्मा नामक पदार्थ नहीं है।[500]

---

[497] यः नकिंचिदपि ते पण्यं दास्यामीत्युक्तः, स चेत् ' देहि भोस्तदेव मह्यं नकिंचिन्नाम पण्यम्,' इति ब्रूयात्, स केनोपायेन शक्यः पण्याभावं ग्राहयितुम्? *प्र.प.*, I, पृ. 241

[498] यथोक्तं भगवता आर्यरत्नकूटसूत्रे - यन्न शून्यतया धर्मान् शून्यान् करोति, अपि तु धर्मा एव शून्याः। यन्नानिमित्तेन धर्माननिमित्तान् करोति, अपि तु धर्मा एवानिमित्ताः। यन्नाप्रणिहितेन धर्मानप्रणिहितान् करोति, अपि तु धर्मा एवाप्रणिहिताः। यैवं प्रत्यवेक्षा, इयमुच्यते काश्यप मध्यमा प्रतिपद्धर्माणां भूतप्रत्यवेक्षा। ये हि काश्यप शून्यतोपलम्भेन शून्यतां प्रतिसरन्ति, तानहं नष्टप्रणष्टानिति वदामि। वही, पृ. 242

[499] विंशतिः शून्यताः। तद्यथा - अध्यात्मशून्यता, बहिर्धाशून्यता, अध्यात्मबहिर्धाशून्यता, शून्यताशून्यता, महाशून्यता, परमार्थशून्यता, संस्कृतशून्यता, असंस्कृतशून्यता, अत्यन्तशून्यता, अनवराग्रशून्यता, अनवकारशून्यता, प्रकृतिशून्यता, सर्वधर्मशून्यता, लक्षणशून्यता, अलक्षणशून्यता, भावशून्यता, अभावशून्यता, स्वभावशून्यता, अभावस्वभावशून्यता, परभावशून्यता चेति। *धर्मसंग्रहः (ध.सं.)*, नागार्जुन, अनुवादक - तशी जांग्मो एवं देचेन चीमे, सारनाथ: केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, 2013, पृ. 23-24

[500] यदुताध्यात्मिकानां चक्षुरादीनामकूटस्थाविनाशितां प्रकृतिमुपादायाध्यात्मशून्यता। हरिभद्र, *अभिसमयालङ्कारालोक (अभि.आ.)*, सम्पादक – ई. ओबेरमिलर, लण्डन: लुज़ाक एण्ड कं., 1936, पृ. 126

बहिर्धाशून्यता – बहिर्धाशून्यता से आशय बाह्य वस्तुओं की शून्यता से है। इन्द्रियों के विषय यथा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श इत्यादि स्वभावशून्य हैं। रूपादि को स्वभावशून्य कहने का आशय यह है कि बाह्य जगत् के मूल में भी किसी प्रकार की आत्मा नहीं है।[501]

अध्यात्मशून्यता जहाँ थेरवादियों को अभीष्ट, वहीं बहिर्धाशून्यता महायानियों की मौलिक देन है। नैरात्म्य दो हैं– धर्मनैरात्म्य और पुद्गलनैरात्म्य।[502] जहाँ एक ओर थेरवाद पुद्गलनैरात्म्य की पुष्टि के लिये अध्यात्मशून्यता को अङ्गीकार करता है, वहीं महायान अध्यात्मशून्यता के साथ-साथ धर्मों के नैरात्म्य को स्पष्ट करने के लिये बहिर्धाशून्यता को भी मानता है।

अध्यात्मबहिर्धाशून्यता – आध्यात्मिक तथा बाह्य स्वरूप द्वादश आयतनों का भेद कल्पनाप्रसूत होने से अयथार्थ है, इसे ही अध्यात्मबहिर्धाशून्यता कहा जाता है।[503] नागार्जुन ने आयतन द्वादश बताये हैं। ये हैं – चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय और मन ये छः अध्यात्मायतन एवं रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श और धर्म ये छः बाह्यायतन हैं।[504] इस प्रकार चक्षुरादि इन्द्रियरूप आध्यात्मिक आयतन और रूपादि विषयरूप बाह्य आयतन दोनों की शून्यता का ज्ञान ही अध्यात्मबहिर्धाशून्यता कहलाता है।

शून्यताशून्यता – सर्वधर्मों की शून्यता से और अध्यात्मादि विषयों की शून्यता के आलम्बन से उत्पन्न ज्ञान के स्वभाव की शून्यता से शून्यताशून्यता होती है।[505]

महाशून्यता – महाशून्यता से आशय दश दिशाओं की शून्यता क्योंकि दिशाओं का व्यवहार कल्पना प्रसूत है। दिशा के महासन्निवेश के कारण इसे महाशून्यता कहा जाता है।[506]

---

[501] बाह्यानां रूपादीनां तथाप्रकृतिमुपादाय बहिर्धाशून्यता। *अभि.आ.*, पृ. 127

[502] नैरात्म्यं द्विविधम्। तद्यथा धर्मनैरात्म्यं पुद्गलनैरात्म्यं चेति। *ध.सं.*, पृ. 79

[503] आध्यात्मिकबाह्यानामायतनानां तथाप्रकृतिमुपादायाध्यात्मबहिर्धाशून्यता। *अभि.आ.*, पृ. 128

[504] द्वादशायतनानि। चक्षुः श्रोत्रम् घ्राणम्, जिह्वा, कायः मन आयतनम् रूपम्, शब्दः, गन्धः, रसः, स्पर्शः धर्मायतनं चेति॥ *ध.सं.*, पृ. 13

[505] सर्वधर्मशून्यताया अध्यात्मादिशून्यतालम्बनज्ञानस्वभावाया अपि शून्यत्वेन शून्यताशून्यता। *अभि.आ.*, पृ. 129

[506] दशानां दिशां दिग्भिः शून्यत्वेन महाशून्यता। तासां महासन्निवेशत्वात्। वही, पृ.130

परमार्थशून्यता – परम पद का आशय निर्वाण है। अतः एव परमार्थशून्यता से आशय निर्वाण की शून्यता से है क्योंकि निर्वाण सांसारिक प्रपञ्चमात्र से विसंयोगमात्र है।[507]

संस्कृतशून्यता – संस्कृत का अर्थ है निमित्त प्रत्यय से उत्पन्न पदार्थ। त्रैधातुक के अन्तर्गत कामधातु, रूपधातु और अरूपधातु का सन्निवेश माना जाता है। संस्कृतशून्यता से आशय कामादि त्रैधातुकों की शून्यता से है।[508]

असंस्कृतशून्यता – असंस्कृत धर्म तीन हैं – आकाश, प्रतिसङ्ख्यानिरोध और अप्रतिसङ्ख्यानिरोध।[509] उत्पाद, विनाश और स्थिति से रहित होने से ये असंस्कृत धर्म नाममात्र हैं। संस्कृत का प्रतियोगि होने के कारण इन्हें असंस्कृत कहा जाता है।[510] संस्कृत और असंस्कृत दोनों ही निराधार व निरालम्ब होने से शून्य हैं।

अत्यन्तशून्यता – प्रत्येक अन्त स्वभावशून्य है। अतः अत्यन्तशून्यता से आशय प्रत्येक अन्त की शून्यता से है। शाश्वत और उच्छेद इन दोनों अन्तों के मध्य ऐसी कोई वस्तु विद्यमान नहीं है, जो इनमें भेद बतलाये।[511] इन दोनों अन्तों का कोई स्वरूप नहीं होने से ये अत्यन्तशून्यता हैं।

अनवराग्रशून्यता – आदि, मध्य तथा अन्त इन तीनों की कल्पना सापेक्षिक है। ये तीनों परस्पर विरुद्ध अवधारणायें हैं। इन धारणाओं की शून्यता ही अनवराग्र-शून्यता है।[512]

अनवकारशून्यता – अनवकार से आशय अनुपधिशेष निर्वाण से है जिसका अपाकरण किसी भी तरह नहीं किया जा सकता। यह कल्पना भी शून्य रूप है। अनवकार अर्थात् अनुपधिशेष निर्वाण की शून्यता होने से इसे अनवकारशून्यता कहा जाता है।[513]

---

[507] परमार्थस्य निर्वाणस्य निर्वाणार्थरूपशून्यत्वेन परमार्थशून्यता तस्य विसंयोगमात्रत्वात्। वही, पृ. 130

[508] संस्कृतस्य त्रैधातुकस्य कामादिधातुशून्यत्वेन संस्कृतशून्यता। *अभि.आ.*, पृ. 131

[509] त्रीण्यसंस्कृतानि। तद्यथा-आकाशः प्रतिसङ्ख्यानिरोधः अप्रतिसङ्ख्यानिरोधश्चेति। *ध.सं.*, पृ. 19

[510] असंस्कृतस्यानुत्पादास्यानिरोधस्य स्थितेरनन्यथात्वस्य च तैनेव शून्यत्वादसंस्कृतशून्यता। अनुत्पादादीनां प्रज्ञप्तिनिमित्तस्य विरुद्धप्रतियोगिन उत्पादादेरभावात्। *अभि.आ.*, पृ. 132

[511] अन्तस्यान्तेन शून्यत्वादतीतान्तत्वेनात्यन्तशून्यता। अन्तोभागस्तत्रोच्छेदशाश्वतान्तयोर्मध्ये न तदस्ति किञ्चिद्येन तयोर्भागव्यवच्छेदनिमित्तत्वेन स्वभावो व्यवस्थाप्येत। वही, पृ.133

[512] आदिमध्यपर्यवसानानां शून्यत्वेनानवराग्रशून्यता। वही, पृ.133

प्रकृतिशून्यता – किसी वस्तु की प्रकृति अर्थात् स्वभाव सभी विद्वानों द्वारा मिलकर भी उत्पन्न नहीं की जा सकती। प्रकृति चाहें संस्कृत रूप में हो अथवा असंस्कृत रूप में, किसी भी प्रकार से परिवर्तन और अपरिवर्तन नहीं किया जा सकता। इसे ही प्रकृतिशून्यता कहते हैं।[514]

सर्वधर्मशून्यता – संसार के समस्त धर्मों का स्वभावहीन होना सर्वधर्मशून्यता है। संस्कृत और असंस्कृत दोनों प्रकार से सम्बन्ध रखने वाले धर्म परस्पर अवलम्बित व स्वभावविहीन हैं।[515]

लक्षणशून्यता – लक्षण से आशय किसी वस्तु के उस भाव से है जिससे मनुष्य उसके यथार्थ रूप का परिचय प्राप्त करता है, जैसे उष्णता से अग्नि का ज्ञान होना। इन लक्षणों की शून्यता ही लक्षणशून्यता है। हेतु-प्रत्यय से पृथक् इनकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नही है। अतः वस्तुओं का सामान्य और विशेष लक्षण नाममात्र अर्थात् प्रज्ञप्तिमात्र है।[516]

उपलम्भशून्यता – उपलम्भशून्यता से आशय त्रिविध काल की शून्यता से है क्योंकि व्यवहार के लिये मानव ने इन्हें कल्पित किया है।[517] त्रिविध काल अतीत, अनागत और प्रत्युत्पन्न हैं।[518]

अभावस्वभावशून्यता – अभावस्वभावशून्यता से आशय ऐसी वस्तुओं की शून्यता से है जिनकी उत्पत्ति अनेक धर्मों के संयोग से हो तथा जिनका अपना स्वतन्त्र अस्तित्त्व न हो। प्रतीत्यसमुत्पन्न होने से सांयोगिक वस्तुओं की स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती।[519]

---

[513] अवकिरणोत्सर्गलक्षणस्यावकारस्य विपर्ययेणानवकारशून्यता। वही, पृ. 134

[514] सर्वार्यैरकृता प्रकृतिस्तस्यास्तया शून्यत्वात्प्रकृतिशून्यता। तस्याः संस्कृतासंस्कृतविकाराविकारानापत्तेः। वही, पृ.135

[515] धर्मस्य धर्मेण शून्यत्वात् सर्वधर्मशून्यता। वही, पृ.136

[516] रूपणादिलक्षणस्य रूपादेस्तल्लक्षणशून्यत्वाल्लक्षणशून्यता। लक्षणव्यवस्थानस्य सामान्यविशेषप्रज्ञप्तिमात्रत्वात्। *अभि.आ.*, पृ. 137

[517] अतीतादीनां धर्माणामतीतादिष्वध्वस्वितरेतरविपर्ययानुपलभ्यत्वेनानुपलम्भशून्यता। वही, पृ.138

[518] तत्र त्रयोऽध्वानः। तद्यथा- अतीतोऽध्वा, अनागतोऽध्वा, प्रत्युत्पन्नोऽध्वा चेति। *ध.सं.*, पृ. 61

[519] नास्ति सांयोगिकस्य धर्मस्य भावः प्रतीत्यसमुत्पन्नत्वादिति संयोगस्य तेन शून्यत्वादभावस्वभावशून्यता। *अभि.आ.*, पृ.138

भावशून्यता – भावशून्यता से आशय उपादान अर्थात् पञ्चस्कन्धों की शून्यता से है।[520] आचार्य नागार्जुन ने *माध्यमिककारिका* के चतुर्थ परिच्छेद में रूपादि पाँचों स्कन्धों का शून्यत्व सिद्ध किया है।

अभावशून्यता – आकाश तथा द्विविध निरोध (प्रतिसङ्ख्या निरोध और अप्रतिसङ्ख्या निरोध) ये असंस्कृत धर्म हैं। असंस्कृत धर्म स्वभावरहित हैं। ये केवल सञ्ज्ञामात्र हैं। अतः अभाव-शून्यता से आशय किसी भी वस्तु के सांसारिक सत्यता के अभावरूप होने पर सत्ताहीनता से है।[521]

स्वभावशून्यता – प्रत्येक वस्तु का स्वभाव अर्थात् स्वतन्त्र रूप है। ज्ञान अथवा दर्शन यथार्थ के द्योतक होते हैं, न कि उत्पादक अर्थात् स्वभाव आर्यों के ज्ञान अथवा दर्शन से उत्पन्न नहीं किया जा सकता है। अतः एव स्वभावशून्यता से आशय सत्तारहित पदार्थ की अभिव्यक्ति की शून्यता से है।[522]

परभावशून्यता – वस्तुओं का परमार्थ रूप नित्य वर्तमान रहता है। वह तथागतों की उत्पत्ति तथा विनाश की अपेक्षा न रखकर स्वतन्त्र रूप से सदैव विद्यमान रहता है। वस्तुओं के इस स्वभाव को किसी बाह्य कारण (परभाव) के द्वारा उत्पन्न मानना तर्कहीन है। अतः परभाव की शून्यता का ज्ञान ही परभावशून्यता कहलाता है।[523]

3.5 माध्यमिक दर्शन में प्रतीत्यसमुत्पाद का आशय

प्रतीत्यसमुत्पाद शब्द का अर्थ - आचार्य चन्द्रकीर्ति ने प्रसन्नपदा के प्रत्ययपरीक्षा नामक प्रथम प्रकरण में प्रतीत्यसमुत्पाद शब्द की व्याख्या की है। प्रतीत्य और समुत्पाद इन दो शब्दों का समास होकर प्रतीत्यसमुत्पाद शब्द बना है। प्रतीत्य पद में इण् गत्यर्थ वाली धातु, प्रति उपसर्ग के कारण, अपने गत्यर्थ को त्यागकर प्राप्त्यर्थ को ग्रहण करती है।[524] उपसर्ग के कारण धातु का मूल

---

[520] भावस्योपादानस्कन्धलक्षणस्य तेन शून्यत्वाद्भावशून्यता। वही, पृ.139

[521] अभावस्यासंस्कृतस्याकाशादेस्तेन शून्यत्वादभावशून्यता। वही, पृ.140

[522] स्वभावस्य शून्यताख्यस्यार्याणां ज्ञानेन दर्शनेन वाकृतकत्वात् स्वभावशून्यता। *अभि.आ.*, पृ. 141

[523] उत्पादाद्वा तथागतानामनुत्पादाद्वा स्थितैवैषा धर्माणां धर्मतेति परेण कर्त्रा शून्यत्वात् परभावशून्यता। वही, पृ.141

[524] एतिर्गत्यर्थः, प्रतिः प्राप्त्यर्थः। *प्र.प.*, I, पृ. 7

अर्थ परिवर्तित हो जाता है। आचार्य चन्द्रकीर्ति गङ्गाजल के उदाहरण से उपसर्ग के लगने से धातु के अर्थ परिवर्तन को समझाते हुये कहते हैं कि जैसे गङ्गाजल की मधुरता सागर के द्वारा अम्भस् अर्थात् लवणीय जल में परिवर्तित हो जाता है, वैसे ही उपसर्ग के द्वारा बलात् धातु का अर्थ परिवर्तित कर दिया जाता है।[525] प्रति और इण् धातु से ल्यप् प्रत्यय होकर ल्यबन्त प्रतीत्य शब्द बनता है, जिसका प्राप्ति और अपेक्षा अर्थ होता है।[526] समुत्पाद शब्द सम् और उत् उपसर्गों के पूर्व रहते पद् धातु से निष्पन्न है, जिसका अर्थ प्रादुर्भाव होता है। इस प्रकार प्रतीत्यसमुत्पाद शब्द का अर्थ 'हेतुप्रत्यय की अपेक्षा करके भावों का उत्पाद या प्रादुर्भाव' होता है।[527]

वीप्सार्थक व्युत्पत्ति का खण्डन — कुछ आचार्य गत्यर्थक इण् धातु को विनाशार्थक मानते हैं। इण् धातु से तद्धित यत् प्रत्यय लगाकर 'इत्य' को व्युत्पन्न करते हैं। प्रति को वीप्सार्थक मानते हैं। प्रति पूर्वक तद्धितान्त इत्य का समुत्पाद के साथ समास करते हैं। इस पक्ष में प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ 'पुनः पुनः विनाशशील भावों का उत्पाद' होता है।[528]

चन्द्रकीर्ति इस वीप्सार्थक व्युत्पत्ति का खण्डन करते हैं। उनका कहना है कि प्रतीत्यसमुत्पाद की वीप्सार्थक व्युत्पत्ति भगवान् बुद्ध के कुछ वचनों में अवश्य सङ्गत होगी। यथा — 'हे भिक्षुओं। तुम्हें प्रतीत्यसमुत्पाद की देशना दूँगा', 'जो प्रतीत्यसमुत्पाद को जानता है वह धर्म को जानता है' इत्यादि। किन्तु जहाँ देशना में साक्षात् रूप से कोई एक अर्थ स्वीकृत है तथा उस अर्थ का विज्ञान एक इन्द्रिय से होना बताना है, वहाँ प्रतीत्यसमुत्पाद की वीप्सार्थता असङ्गत होगी। उदाहरणतः भगवान् की यह देशना द्रष्टव्य है। 'चक्षु और रूप को प्राप्त कर चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न होता है।' यहाँ

---

[525] उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते। गङ्गासलिलमाधुर्यं सागरेण यथाम्भसा॥ वही, पृ. 8

[526] प्रतीत्यशब्दोऽत्र ल्यबन्तः प्राप्तावपेक्षायां वर्तते। वही, पृ. 8

[527] समुत्पूर्वः पदिः प्रादुर्भावार्थ इति समुत्पादशब्दः प्रादुर्भावे वर्तते। ततश्च हेतुप्रत्ययापेक्षो भावानामुत्पादः प्रतीत्यसमुत्पादार्थः। *प्र.प.*, I, पृ. 8

[528] अपरे तु ब्रुवते-इतिर्गमनं विनाशः। इतौ साधव इत्याः। प्रतिर्वीप्सार्थः। इत्येवं तद्धितान्तमित्यशब्दं व्युत्पाद्य प्रति प्रति इत्यानां विनाशिनां समुत्पाद इति वर्णयन्ति। वही, पृ. 8

चक्षुरिन्द्रियहेतुक ज्ञान है और वह एकार्थक है। ऐसे ज्ञान की उत्पत्ति में वीप्सार्थ की पौन-पुन्यता कैसे सम्भव होगी?[529]

इसके विपरीत प्रतीत्यसमुत्पाद को यदि प्राप्त्यर्थक मानते हैं, तो यह दोष नहीं होगा। क्योंकि अर्थविशेष अङ्गीकृत हो या न हो दोनों अवस्थाओं में प्रतीत्य की प्राप्त्यर्थता सम्भव है। जहाँ कोई अर्थ-विशेष अङ्गीकृत न हो, उस सामान्य स्थल में प्रतीत्य का अर्थ प्राप्त कर होगा। जहाँ अर्थविशेष अङ्गीकृत है, वहाँ चक्षु की अपेक्षा, चक्षु प्राप्त कर या देख कर अर्थ होगा। 'चक्षुःप्रतीत्य रूपाणि चोत्पद्यते चक्षुर्विज्ञानम्' अर्थात् चक्षु रूप को प्राप्त कर चक्षुर्विज्ञान को उत्पन्न करता है। यहाँ प्रतीत्य शब्द अव्यय और समास के असद्भाव में विभक्तिश्रुत होने से 'चक्षुरूप और विज्ञान को प्राप्त कर' ऐसा अर्थ न होने से अव्यय की ल्यबन्त व्युत्पत्ति ही ग्राह्य है।[530]

पूर्वपक्षी यदि कहे कि विज्ञान अरूपी है, अतः एव उसकी चक्षु से प्राप्ति नहीं होगी। यह उचित नहीं है। क्योंकि जिस प्रकार 'यह भिक्षु फल अर्थात् निर्वाण प्राप्त है' इस वाक्य में प्राप्ति अभ्युपगत है उसी प्रकार यहाँ भी प्राप्ति अभीष्ट है। चन्द्रकीर्ति कहते हैं कि माध्यमिक 'प्राप्य' शब्द का पर्याय 'प्रेक्ष्य' मानते हैं।[531]

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि 'हेतुप्रत्ययान् प्राप्य समुत्पादः प्रतीत्यसमुत्पादः' यह जो पहले प्रकार की व्युत्पत्ति है, वह सामान्य और विशेष सर्वत्र घटित हो जाने से आचार्य नागार्जुन

---

[529] तेषां "प्रतीत्यसमुत्पादं वो भिक्षवो देशयिष्यामि" , "यः प्रतीत्यसमुत्पादं पश्यति स धर्मं पश्यति " इत्येवमादौ विषये वीप्सार्थस्य सम्भवात् समाससद्भावाच्च स्याज्ज्यायसी व्युत्पत्तिः। इह तु " चक्षुः प्रतीत्य रूपाणि च उत्पद्यते चक्षुर्विज्ञानम् " इत्येवमादौ विषये साक्षादङ्गीकृतार्थ विशेषे चक्षुः प्रतीत्येति प्रतीत्यशब्द एकचक्षुरिन्द्रियहेतुकायामप्येकविज्ञानोत्पत्तावभीष्टायां कुतो वीप्सार्थता? वही, पृ. 8

[530] प्राप्त्यर्थस्त्वनङ्गीकृतार्थविशेषेऽपि प्रतीत्यशब्दे सम्भवति- प्राप्य सम्भवः, प्रतीत्यसमुत्पाद इति। अङ्गीकृतार्थविशेषेऽपि सम्भवति- चक्षुः प्रतीत्य, चक्षुः प्राप्य, चक्षूः प्रेक्ष्येति व्याख्यानात्। तद्धितान्ते चेत्यशब्दे "चक्षुः प्रतीत्य रूपाणि च उत्पद्यते चक्षुर्विज्ञानम्" इत्यत्र प्रतीत्यशब्दस्याव्ययत्वाभावात् समासासद्भावाच्च विभक्तिश्रुतौ सत्यां चक्षुः प्रतीत्य विज्ञानं रूपाणि च इति निपातः स्यात्। न चैतदेवम्। इत्यव्ययस्यैव ल्यबन्तस्य व्युत्पत्तिरभ्युपेया। *प्र.प.*, I, पृ. 8

[531] अरूपित्वाद्विज्ञानस्य चक्षुषा प्राप्तिर्नास्ति, रूपिणामेव तत्प्राप्तिदर्शनादिति, एतदपि न युक्तम्, ' प्राप्तफलोऽयं भिक्षुः ' इत्यत्रापि प्राप्त्यभ्युपगमात्। प्राप्यशब्दस्य च अपेक्ष्यशब्दपर्यायत्वात्। वही, पृ. 8

को भी अभिप्रेत है।[532] दूसरी प्रकार की व्युत्पत्ति 'प्रति प्रति इत्यानां विनाशिनां समुत्पाद इति प्रतीत्यसमुत्पादः' यह सर्वत्रव्यापक नहीं होने से युक्तियुक्तस्स् है।

प्रतीत्यसमुत्पाद के विशेषण – महायान दर्शन में प्रतीत्यसमुत्पाद का पारमार्थिक ढंग से विश्लेषण किया गया है। 'यो भिक्षवः प्रतीत्यसमुत्पादं पश्यति, स धर्मं पश्यति। यो धर्मं पश्यति, स बुद्धं पश्यति' अर्थात् जो भिक्षु प्रतीत्यसमुत्पाद को देखता है, वह धर्म को देखता है तथा वही बुद्ध को देखता है। इस वाक्य की व्याख्या करते हुये *शालिस्तम्बसूत्र* में प्रतीत्यसमुत्पाद को सतत, समित (नित्य), अजीव, निर्जीव, यथावत्, अविपरीत, अज्ञात, अभूत, अकृत, असंस्कृत, अप्रतिघ, अनालम्ब, शिव, अभय, अनाहार्य, अव्यय, अव्युपशमस्वभाव बतलाया गया है।[533]

आचार्य नागार्जुन ने *माध्यमिककारिका* के प्रारम्भ में जो मङ्गलाचरण किया है, उससे आठ प्रकार के निषेधों से प्रतीत्यसमुत्पाद की अष्टविध विशेषताओं का ज्ञान होता है। ये आठ निषेध हैं- न निरोध, न उत्पत्ति, न अनित्य, न नित्य, न एक, न अनेक, न आना, न जाना। इन विशेषताओं से युक्त प्रपञ्चोपशम और शिव प्रतीत्यसमुत्पाद के उपदेष्टा बुद्ध की वन्दना नागार्जुन करते हैं।[534]

चन्द्रकीर्ति के अनुसार निरोध क्षणभङ्गता है, किन्तु तत्त्व में क्षणभङ्गता नहीं है, अतः वह 'अनिरोध' है। उत्पाद आत्मभावोन्मज्जन है, तत्त्व में आत्मभावोन्मेष नहीं है, अतः वह 'अनुत्पाद' है। उच्छेद सन्तानप्रबन्ध का विच्छेद है, परन्तु तत्त्व में विच्छेद नहीं है, अतः वह 'अनुच्छेद' है। सार्वकालिक स्थाणुता शाश्वतिकता है, परन्तु तत्त्व में वह नहीं है, अतः वह अशाश्वत है। तत्त्व में न भिन्नार्थता है न अभिन्नार्थता, अतः वह अनेकार्थ और अनानार्थ है। तत्त्व में आगम और निर्गम नहीं है, अतः वह अनागम और अनिर्गम रूप है।[535]

---

[532] तत्तत्प्राप्य यदुत्पन्नं नोत्पन्नं तत् स्वभावतः। वही, पृ. 8

[533] य इमं प्रतीत्यसमुत्पादं सततसमितम्, अजीवं निर्जीवं यथावदविपरीतमजातमभूतमकृतमसंस्कृतमप्रतिघ-मनालम्बनं शिवमभयमनाहार्यमव्ययमव्युपशमस्वभावं पश्यति। *महायान-सूत्र-सङ्ग्रहे शालिस्तम्बसूत्र (शा.सू.)*, सम्पादक – पी. एल. वैद्य, दरभंगा: द मिथिला इन्स्टिट्यूट ऑफ पोस्ट-ग्रेजुयेट स्टडीज एण्ड रिसर्च इन संस्कृत लर्निंग, 1961, पृ. 114

[534] अनिरोधमनुत्पादमनुच्छेदमशाश्वतम्। अनेकार्थमनानार्थमनागममनिर्गमम्॥
यः प्रतीत्यसमुत्पादं प्रपञ्चोपशमं शिवम्। देशयामास सम्बुद्धस्तं वन्दे वदतां वरम्॥*म.शा.*, 1/1-2, पृ. 1

[535] तत्र निरुद्धिर्निरोधः। क्षणभङ्गो निरोध इत्युच्यते। उत्पादनमुत्पादः। आत्मभावोन्मज्जनमित्यर्थः। उच्छित्तिरुच्छेदः। प्रबन्धविच्छित्तिरित्यर्थः। शाश्वतो नित्यः। सर्वकाले स्थाणुरित्यर्थः। एकश्चासावर्थश्चेत्येकार्थोऽभिन्नार्थः। न पृथगित्यर्थः।

हेतु-प्रत्ययों की अपेक्षा करके ही सकल भावों की उत्पत्ति होती है। आचार्य चन्द्रकीर्ति कहते हैं कि इस नियम को प्रकाशित कर भगवान् ने भावों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में वादियों के विभिन्न सिद्धान्तों जैसे — अहेतुवाद, एकहेतुवाद, विषमहेतुवाद आदि का निराकरण किया है। इसीलिये विभिन्न वादियों का स्वकृतत्व, परकृतत्व, स्वपरोभयकृतत्व का सिद्धान्त निषिद्ध हो जाता है। इन वादों के निषेध से वस्तुतः पदार्थों का सांवृत रूप उद्भावित होता है, और यह सिद्ध होता है कि आर्य-ज्ञान की दृष्टि से पदार्थ स्वभावतः अनुत्पन्न है। अतः प्रतीत्यसमुत्पन्न पदार्थों में निरोधादि नहीं हैं।[536]

चन्द्रकीर्ति कहते हैं कि प्रतीत्यसमुत्पाद के इन विशेषणों में यद्यपि सर्वप्रथम निरोध के निषेध का उल्लेख है, जब कि उत्पाद का प्रतिषेध पहले होना चाहिये। किन्तु उत्पाद और निरोध में पौर्वापर्य सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि संसार का अनादित्व है। अतः इसे स्पष्ट करने के लिये अनिरोध का सर्वप्रथम उल्लेख किया गया है।[537]

आचार्य नागार्जुन ने मङ्गलाचरण के दोनों श्लोकों के माध्यम से प्रतीत्यसमुत्पाद के पारमार्थिक और व्यावहारिक द्विविध रूपों को प्रकट किया है। पारमार्थिक रूप में प्रतीत्यसमुत्पाद अनुत्पादादि आठ निषेधात्मक विशेषणों से विशिष्ट अजातिवाद है जहाँ समस्त प्रपञ्चों का उपशम हो जाता है। जहाँ न उत्पाद है, न निरोध, न नित्य है न अनित्य; न एक है न अनेक; न आगमन है न निर्गमन; ये आठों ही प्रपञ्च के अन्तर्गत आते हैं जिनका पारमार्थिक प्रतीत्यसमुत्पाद में विलय हो जाता है। किन्तु पारमार्थिक प्रतीत्यसमुत्पाद प्रपञ्चनिषेध मात्र नहीं है; वह प्रपञ्च-शून्य तत्त्व है, वह शिव है, वह अखण्ड आनन्दरूप निर्वाण है।

नानार्थो भिन्नार्थः। पृथगित्यर्थः। आगतिरागमः, विप्रकृष्टदेशावस्थितानां संनिकृष्टदेशागमनम्। निर्गतिर्निर्गमः, संनिकृष्टदेशावस्थितानां विप्रकृष्टदेशगमनम्। *प्र.प.*, I, पृ. 7

[536] तदेवं हेतुप्रत्ययापेक्षं भावानामुत्पादं परिदीपयता भगवता अहेत्वेकहेतुविषमहेतुसंभूतत्वं स्वपरोभयकृतत्वं च भावानां निषिद्धं भवति, तन्निषेधाच्च सांवृतानां पदार्थानां यथावस्थितं सांवृतं स्वरूपमुद्भावितं भवति। स एवेदानीं सांवृतः प्रतीत्यसमुत्पादः स्वभावेनानुत्पन्नत्वाद् आर्यज्ञानापेक्षया नास्मिन्निरोधो विद्यते यावन्नास्मिन्निर्गमो विद्यते इत्यनिरोधादिभिरष्टाभिर्विशे षणैर्विशिष्यते। यथा च निरोधादयो न सन्ति प्रतीत्यसमुत्पादस्य तथा सकलशास्त्रेण प्रतिपादयिष्यति॥ *प्र.प.*, I, पृ. 8

[537] अत्र च निरोधस्य पूर्वं प्रतिवेधः उत्पादनिरोधयोः पौर्वापर्यावस्थायाः सिद्ध्यभावं द्योतयितुम्। ... तस्मान्नायं नियमो यत् पूर्वमुत्पादेन भवितव्यं पश्चान्निरोधेनेति। वही, पृ. 9

प्रतीत्यसमुत्पाद की नेयार्थता और नीतार्थता – *माध्यमिककारिका* की आदि कारिका में प्रतीत्यसमुत्पाद को अनुत्पादादि से विशिष्ट कहा गया है। पूर्वपक्षी प्रश्न करता है कि माध्यमिक प्रतीत्यसमुत्पाद को अनुत्पादादि विशिष्ट कैसे मानेगा, जबकि अविद्या प्रत्यय से संस्कार होता है तथा अविद्या निरोध से संस्कार का निरोध होता है। ऐसे ही तथागत का उत्पाद मानें या अनुत्पाद मानें इन धर्मों की धर्मता स्थित है। सत्त्व स्थिति के लिये एक धर्म है, जो कि चार आहार है इत्यादि वचनों से भगवान् ने अनेकानेक धर्मों की सत्ता स्वीकार की है। इसके अतिरिक्त परलोक से इहागमन, इहलोक से परलोकगमन आदि भी कहा गया है। निरोधादि से विशिष्ट प्रतीत्यसमुत्पाद की देशना इनको निरुद्ध क्यों नहीं करती।[538]

चन्द्रकीर्ति कहते हैं कि प्रतीत्यसमुत्पाद की निरोधादि विशिष्टता आपाततः प्रतीत होती है। इसीलिये *मध्यमकशास्त्र* की सृजना करके आचार्य नागार्जुन ने भगवान् बुद्ध के वचनों अर्थात् सूत्रान्तों को दो विभागों नेयार्थता और नीतार्थता में बतलाया है। भगवान् के वचनों की नेयार्थता और नीतार्थता से अज्ञात जन उनकी देशना का अभिप्राय न जानकर पूर्वोक्त प्रकार से सन्देह करते हैं। वे नहीं जानते कि कौन-सी देशना तत्त्वार्थ है और कौनसी आभिप्रायिकी है। भगवत् वचनों में प्रतीत्यसमुत्पाद उत्पाद निरोध आदि से अवश्य निर्दिष्ट है, किन्तु वह अविद्या-तिमिर से उपहत दृष्टिवालों की अपेक्षा से है, न कि अनास्रव स्वभाव से युक्त अविद्या-तिमिर से अनुपहत ज्ञानवालों की अपेक्षा से। तत्त्वदर्शन की अपेक्षा से भी भगवान् के वचन हैं, जैसे— हे भिक्षुओं! अमोषधर्मा निर्वाण परम सत्य है, सभी संस्कार मोषधर्मा एवं मृषा हैं इत्यादि।[539]

---

[538] यद्येवमनुत्पादादिविशिष्टः प्रतीत्यसमुत्पादो व्यवस्थितो भवद्भिः, यत्तर्हि भगवतोक्तम् - अविद्याप्रत्ययाः संस्कारा अविद्यानिरोधात्संस्कारनिरोध इति, तथा - उत्पादाद्वा तथागतानामनुत्पादाद्वा तथागतानां स्थितैवैषा धर्माणां धर्मता, एको धर्मः सत्त्वस्थितये यदुत चत्वार आहाराः, द्वौ धर्मौ लोकं पालयतो ह्रीश्चापत्राप्यं चेत्यादि, तथा - परलोकादिहागमनमिहलोकाच्च परलोकगमनमिति, एवं निरोधादिविशिष्टः प्रतीत्यसमुत्पादो देशितो भगवता, स कथं न निरुध्यत इति? यत एवं निरोधादयः प्रतीत्यसमुत्पादस्योपलभ्यन्ते। *प्र.प.*, I, पृ. 17

[539] अत एवेदं मध्यमकशास्त्रं प्रणीतमाचार्येण नेयनीतार्थसूत्रान्तविभागोपदर्शनार्थम्। तत्र य एते प्रतीत्यसमुत्पादस्योत्पादादय उक्ताः, न ते विगताविद्यातिमिरानास्रवविषयस्वभावापेक्षया, किं तर्हि अविद्यातिमिरोपहतमतिनयनज्ञानविषयापेक्षया॥ तत्त्वदर्शनापेक्षया तूक्तं भगवता - एतद्धि भिक्षवः परमं सत्यं यदुत अमोषधर्म निर्वाणम्, सर्वसंस्काराश्च मृषा मोषधर्माणः इति। वही, पृ. 17

आचार्य चन्द्रकीर्ति *आर्याक्षयमतिसूत्र* को उद्धृत करते हुये कहते हैं कि जो सूत्रान्त मार्ग के अवतार के लिये निर्दिष्ट हैं, वह नेयार्थ है और जो फल के अवतार के लिये निर्दिष्ट हैं, वह नीतार्थ है।[540] *आर्यसमाधिराजसूत्र* के अनुसार नीतार्थ से आशय सूत्रान्त विशेष से किया है, क्योंकि सुगत के द्वारा शून्यता का उपदेश सूत्रान्तों में दिया गया है। नेयार्थ से आशय पुद्गलसत्त्व पुरुष के द्वारा सभी धर्मों को जानने से है।[541] इसलिये आचार्य नागार्जुन ने भी तत्त्वदर्शन की अपेक्षा से ही विभिन्न युक्तियों से जगत् की निःस्वभावता सिद्ध की है। आचार्य ने भगवान् की उत्पादादि देशना को मृषाभिप्रायिक सिद्ध करने के लिये ही समस्त *मध्यमकशास्त्र* में प्रतीत्यसमुत्पाद का विश्लेषण किया है।[542]

समुत्पाद और समुत्पन्न - माध्यमिक दर्शन में समुत्पाद और समुत्पन्न में कोई अभेद है, क्योंकि यहाँ न हेतु है और न ही उसका फल। वस्तु का स्वभाव निःस्वभाव अथवा प्रतीत्यसमुत्पन्न है।

प्रतीत्यसमुत्पाद संस्कृत धर्म है अथवा असंस्कृत धर्म - माध्यमिक दर्शन में प्रतीत्यसमुत्पाद न तो संस्कृत धर्म है और न ही असंस्कृत धर्म। उत्पाद, स्थिति और भङ्ग ये त्रिविध लक्षणों से युक्त संस्कृत धर्म होता है और इसके विपरीत असंस्कृत धर्म होता है।[543] संस्कृत और असंस्कृत दोनों न तो सत् हैं और न ही असत्। ये दोनों न ही एक है और न ही अनेक। इन दोनों कोटियों में समस्त स्वभाव समाहित हो जाते हैं।[544] प्रतीत्यसमुत्पाद स्वयं प्रतीत्यसमुत्पन्न है। माध्यमिक दर्शन में शून्यता के बीस भेदों में संस्कृत और असंस्कृत इन दोनों को भी शून्यता के रूप में स्वीकार किया गया है। ये दोनों ही निराधार और निरालम्ब होने से शून्य कहे जाते हैं।

---

[540] ये सूत्रान्ता मार्गवताराय निर्दिष्टाः, इम उच्यन्तेः नेयार्थाः। ये सूत्रान्ताः फलावताराय निर्दिष्टाः, इम उच्यन्ते नेयार्थाः। वही, पृ. 17

[541] नीतार्थसूत्रान्तविशेष जानति, यथोपदिष्टा सुगतेन शून्यता।
यस्मिन् पुनः पुद्गलसत्त्वपुरुषा, नेयार्थतो जानति सर्वधर्मान्॥ *प्र.प.*, I, पृ. 17

[542] तस्मादुत्पादादिदेशनां मृषार्थां प्रतिपादयितुं प्रतीत्यसमुत्पादानुदर्शनमारब्धवानाचार्यः॥ वही, पृ. 18

[543] सर्वे संस्कृता धर्मा उत्पादस्थितिभङ्गलक्षणत्रययुक्ताः। तद्विपरीता असंस्कृता इति। *शू.स.वृ.*, पृ. 30

[544] न सन्नासन्न सदसन्नैको नानेक इत्यपि। संस्कृतोऽसंस्कृतः सर्वे कोटिष्वास्वेव ते गताः॥ *शू.स.*, 32, पृ. 32

प्रतीत्यसमुत्पाद और मध्यममार्ग - तथागत ने सारनाथ के ऋषिपत्तन में जिस मध्यममार्ग का उपदेश पञ्चवर्गीय भिक्षुओं को देकर धर्मचक्र का प्रवर्तन किया, आचार्य नागार्जुन ने उसी मध्यममार्ग को आधार बनाकर बौद्ध दार्शनिक प्रस्थानों में माध्यमिक मत का आरम्भ किया। नागार्जुन के अनुसार वस्तु की परमार्थतः सत्ता मानना एक अन्त है तथा व्यवहारतः असत्ता मानना दूसरा अन्त है। इन दोनों अन्तों को क्रमशः शाश्वतवाद और उच्छेदवाद कहा जाता है। आचार्य इन दोनों अन्तों का परिहार कर मध्यममार्ग का ग्रहण करते हैं। आचार्य नागार्जुन ने *मूलमाध्यमिककारिका* में प्रतीत्यसमुत्पाद, शून्यता तथा मध्यमाप्रतिपदा इन शब्दों को समानार्थी माना है।[545]

आचार्य नागार्जुन के अनुसार 'अस्ति' यह शाश्वतदृष्टि है और 'नास्ति' उच्छेददृष्टि है। अतः एव विद्वानों को इन दोनों दृष्टियों का आश्रय नहीं लेना चाहिये।[546] यहाँ शाश्वतदृष्टि से आशय उस दृष्टि से है जो यह मानती है कि स्वभावतः जिसका अस्तित्व है, उसका अनस्तित्व नहीं हो सकता। उच्छेददृष्टि से तात्पर्य उस दृष्टि से है, जो यह स्वीकार करती है कि वर्तमान में जिसका अनस्तित्व है, अतीत में उसका अस्तित्व था।[547] इस प्रकार शाश्वतवाद और उच्छेदवाद से इतर मध्यममार्ग का आलम्बन करने से शून्यता को ही मध्यमप्रतिपदा कहा जाता है तथा शून्यवादियों को माध्यमिक कहा जाता है।

3.6. माध्यमिक दर्शन के अनुसार द्वादशाङ्ग का विश्लेषण

प्रतीत्यसमुत्पाद माध्यमिक दर्शन का केन्द्रबिन्दु है। प्रतीत्यसमुत्पाद वास्तविक कार्य-कारणवाद नहीं है क्योंकि प्रतीत्यसमुत्पाद का परमार्थतः अनुत्पाद है। यहाँ संवृति, व्यवहार, प्रतीति, अविद्या और उपादान आदि प्रपञ्च का पारमार्थिक रूप से अनस्तित्व है। *सुहृल्लेख* में नागार्जुन ने प्रतीत्यसमुत्पाद को जिन अर्थात् बुद्ध के वचनों का गम्भीर एवं प्रिय कोश कहा है।[548]

---

[545] यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्ष्महे। सा प्रज्ञप्तिरुपादाय प्रतिपत्सैव मध्यमा॥ *म.शा.*, 24/18, पृ. 26

[546] अस्तीति शाश्वतग्राहो नास्तीत्युच्छेददर्शनम्। तस्मादस्तित्वनास्तित्वे नाश्रीयेत विचक्षणः॥ वही, 15/10, पृ. 14

[547] अस्ति यद्धि स्वभावेन न तन्नास्तीति शाश्वतम्। नास्तीदानीमभूत्पूर्वमित्युच्छेदः प्रसज्यते॥ वही, 15/11, पृ. 14

[548] गम्भीरोऽनर्घकोशः प्रियः प्रतीत्योत्पादो जिनवचनानाम्। *सुहृल्लेख,* 112

प्रतीत्यसमुत्पन्न द्वादशाङ्गों को आचार्य नागार्जुन ने तीन भागों क्लेश, कर्म एवं दुःख के रूप में वर्गीकृत किया है।[549] द्वादशाङ्गों में प्रथम (अविद्या), अष्टम (तृष्णा) तथा नवम (उपादान) अङ्ग क्लेश हैं। द्वितीय (संस्कार) एवं दसवाँ (भव) कर्म हैं तथा शेष विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, जाति एवं जरामरण ये सात अङ्ग दुःख हैं।[550] द्वादशाङ्गों में अविद्या, तृष्णा तथा उपादान इन तीन से संस्कार एवं भव उत्पन्न होते हैं। संस्कार एवं भव से विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, जाति एवं जरामरण इन सात का उत्पाद होता है। सात से पुनः तीन का उत्पाद होता है तथा यह भवचक्र पुनः पुनः भ्रमण करता रहता है।[551]

आचार्य नागार्जुन ने कहा है कि जो प्रतीत्यसमुत्पाद को देखता है, वह दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग को देखता है।[552] *माध्यमिककारिका* के छब्बीसवें अध्याय में नागार्जुन ने प्रतीत्यसमुत्पाद के द्वादशङ्गों की परीक्षा की है। प्रतीत्यसमुत्पाद के बारह अङ्गों का विश्लेषण निम्न है –

अविद्या— प्रतीत्यसमुत्पाद का व्यवहारिक रूप द्वादशाङ्ग भवचक्र है, जिसका आरम्भ अविद्या से होता है। अविद्या को मोह, अज्ञान, अन्धकार और यथाभूत की आच्छादिका आदि विशेषणों से माध्यमिक दर्शन में अभिहित किया गया है।[553] माध्यमिक मत में अविद्या से आशय तत्त्व में

---

[549] द्वादश येऽङ्गविशेषा मुनिनोद्दिष्टाः प्रतीत्यसम्भूताः। ते क्लेशकर्मदुःखेषु सङ्गृहीतास्त्रिषु यथावत्॥ *प्रतीत्यसमुत्पादहृदय (स्वोपज्ञव्याख्यासहिता) (प्र.स.ह्र)*, नागार्जुन, सम्पादक व अनुवादक - ज्ञलछेन नमडोल, सारनाथ: केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, प्रथम संस्करण, 1997, 1, पृ. 35

[550] आद्याष्टमनवमाः स्युः क्लेशाः कर्म द्वितीयदशमौ च। शेषाः सप्त च दुःखं त्रिसङ्ग्रहा द्वादश तु धर्माः॥ *प्र.स.ह्र.*, 2, पृ. 35

[551] त्रिभ्यो भवति द्वन्द्वं द्वन्द्वात्प्रभवन्ति सप्त सप्तभ्यः। त्रय उद्भवन्ति भूयो भ्रमति तदेवं भवचक्रम्॥ वही, 3, पृ. 35

[552] यः प्रतीत्यसमुत्पादं पश्यतीदं स पश्यति। दुःखं समुदयं चैव निरोधं मार्गमेव च॥ *म.शा.*, 24/40, पृ. 27

[553] तत्र मोहान्धकारार्थेनाविद्या। *प्र.प.*, II, पृ. 255; तत्र अविद्या अज्ञानं तमो यथाभूतार्थप्रच्छादकं स्तिमितता। *प्र.प.*, II, पृ. 244

अप्रतिपत्ति, मिथ्या प्रतिपत्ति अथवा अज्ञान से है।[554] अज्ञानी व्यक्ति संसार के मूलभूत संस्कारों को उत्पन्न करता है, अतः वह कर्त्ता होता है। इसके इतर विद्वान् व्यक्ति तत्त्वदर्शी होता है।[555]

संस्कार — अविद्या से आच्छादित पुद्गल अर्थात् पञ्चस्कन्ध पुनर्भव के लिये अभिसंस्कार करता है। कुशलादि चेतनाविशेष को उत्पन्न करने तथा पुनर्जन्म का अभिसंस्करण करने के कारण संस्कार कहलाता है। यह कुशल, अकुशल और आनेञ्ज भेद से तीन प्रकार का होता है। अथवा कायिक, वाचिक और मानसिक भेद से भी यह तीन प्रकार का होता है।[556] इन त्रिविध संस्कारों का अविद्या से आच्छादित व्यक्ति पुनर्जन्म के लिये उत्पादन करता है, इन्हीं संस्कारों से संस्कृत कर्मों से गति को प्राप्त करता है।[557]

संस्कार की परीक्षा करते हुये आचार्य नागार्जुन ने कहा है कि तथागत ने सभी संस्कारों को मृषा एवं मोषधर्मा (चुराया गया) कहा है। तथागत का मत है कि जो मोषधर्मा है वह मृषा है। यदि मोषधर्मा होने के कारण संस्कार मृषा अथवा मिथ्या है।[558] बुद्ध ने इसी बात को शून्यता के माध्यम से बतलाया है। बुद्ध ने सभी दृष्टियों की अप्रवृत्ति को शून्यता कहा है।[559] सभी संस्कार गन्धर्वनगर, माया, मरीचि, बुद्बुद् और जलफेन के सदृश मिथ्या हैं तथा स्वप्न और अलात् चक्र के समान होने से स्वभावतः शून्य हैं।[560]

---

[554] तत्त्वेऽप्रतिपत्तिर्मिथ्याप्रतिपत्तिरज्ञानमविद्या। *प्र.प.*, II, पृ. 255; *शा.सू.*, पृ. 111

[555] संसारमूलान्संस्कारानविद्वान् संस्करोत्यतः। अविद्वान् कारकस्तस्मान्न विद्वांस्तत्त्वदर्शनात्॥ *म.शा.*, 26/10, पृ. 30

[556] अविद्यया निवृतः छादितः पुद्गलः पुनर्भवाय पुनर्भवार्थं पुनर्भवोत्पत्त्यर्थमभिसंस्करोति उत्पादयति यान् कुशलादिचेतनाविशेषांस्ते पुनर्भवाभिसंस्कारात् संस्काराः। ते च त्रिविधाः - कुशला अकुशला आनेञ्जाश्च, यदि वा - कायिका वाचिका मानसाश्चेति। *प्र.प.*, II, पृ. 244

[557] पुनर्भवाय संस्कारानविद्यानिवृतस्त्रिधा। अभिसंस्कुरुते यांस्तैर्गतिं गच्छति कर्मभिः॥ *म.शा.*, 26/1, पृ. 29

[558] तन्मृषा मोषधर्म यद्भगवानित्यभाषत। सर्वे च मोषधर्माणः संस्कारास्तेन ते मृषा॥
तन्मृषा मोषधर्म यद्यदि किं तत्र मुष्यते। एतत्तूक्तं भगवता शून्यतापरिदीपकम्॥ वही, 13/1-2, पृ. 12

[559] शून्यता सर्वदृष्टीनां प्रोक्ता निःसरणं जिनैः। वही, 13/8, पृ. 12

[560] मायामरीचिगन्धर्वपुरबुद्बुद्फेनवत्। संस्काराः स्वप्नसंकाशा विद्यन्तेऽलातचक्रवत्॥ *शू.स.*, 66, पृ. 61

विज्ञान— वस्तु के प्रति विज्ञप्ति ही विज्ञान है। विशिष्ट रूप से ज्ञापित कराने से विज्ञान है।[561] संस्कार के अनुरूप गति में विज्ञान प्रविष्ट होता है।[562] संस्कार के अनुरूप देव, मनुष्य आदि की जो योनि प्राप्त होती है, उसमें संस्कार द्वारा उत्पादित विज्ञान होता है जो उस योनि में पुद्गल का सञ्चालन करता है।[563] सर्वास्तिवादियों ने जहाँ प्रत्युत्पन्न जन्म के लिये माता की कुक्षि में पञ्चस्कन्धों के बीजारोपण को विज्ञान कहा है, वहीं बौद्धेतर अन्य भारतीय दार्शनिक आत्मा की अवधारणा में उत्पन्नमति हैं। आचार्य नागार्जुन ने स्कन्ध और आत्मा इन दोनों की ही परीक्षा कर इन्हें शून्य सिद्ध किया है।

उन पञ्चस्कन्धों में रूप भौतिक होता है तथा पृथ्वी, जल, वायु तथा अग्नि ये चार महाभूत उसके कारण होते हैं।[564] आचार्य नागार्जुन रूप की परीक्षा करते हुये कहते हैं कि रूप के कारणों के बिना रूप अनुपलब्ध है तथा रूप के बिना रूप के कारण दृश्य नहीं हैं। यदि रूप को रूप के कारण से पृथक् मानेंगे, तो उस रूप में रूप अहेतुक होगा, जबकि बिना हेतु के कोई वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती।[565] यदि रूप का कारण रूप के बिना हो तो वह कारण बिना कार्य के होगा, किन्तु बिना कार्य के कोई कारण नहीं हो सकता।[566] रूप के होने तथा न होने पर दोनों स्थितियों में ही रूप का कारण उपपन्न नहीं होता।[567] बिना कारण के रूप का होना कभी उपपन्न नहीं हो सकता, अतः रूप के बारे में विकल्पों की कल्पना नहीं करनी चाहिये।[568] कार्य कारण के सदृश है अथवा कार्य

---

[561] वस्तुप्रतिविज्ञप्तिर्विज्ञानम्। विज्ञापनार्थेन विज्ञानम्। *प्र.प.*, II, पृ. 255

[562] विज्ञानं संनिविशते संस्कारप्रत्ययं गतौ। *म.शा.*, 26/2, पृ. 29

[563] कृतोपचितसंस्कारस्यास्य पुद्गलस्य संस्कारानुरूपायां गतौ देवादिकायां संस्कारहेतुकं विज्ञानं संनिविशते प्रविशति उपपद्यते संसारानर्थबीजभूतम्। *प्र.प.*, II, पृ. 245

[564] तत्र रूपं भौतिकम्। तस्य कारणं चत्वारि महाभूतानि। *प्र.प.*, I, पृ. 79

[565] रूपकारणनिर्मुक्तं न रूपमुपलभ्यते। रूपेणापि न निर्मुक्तं दृश्यते रूपकारणम्॥
रूपकारणनिर्मुक्ते रूपे रूपं प्रसज्यते। आहेतुकं, न चास्त्यर्थः कश्चिदाहेतुकः क्वचित्॥ *म.शा.*, 4/1-2, पृ. 4

[566] रूपेण तु विनिर्मुक्तं यदि स्याद्रूपकारणम्। अकार्यकं कारणं स्यात् नास्त्यकार्यं च कारणम्॥ वही, 4/3, पृ. 4

[567] रूपे सत्येव रूपस्य कारणं नोपपद्यते। रूपेऽसत्येव रूपस्य कारणं नोपपद्यते॥ वही, 4/4, पृ. 4

[568] निष्कारणं पुना रूपं नैव नैवोपपद्यते। तस्मात् रूपगतान् कांश्चिन्न विकल्पान् विकल्पयेत्॥ वही, 4/5, पृ. 4

कारण के असदृश है, ये दोंनो ही कथन अनुपपन्न हैं।[569] रूप का कारण कठोर, द्रव, उष्ण व तरल आदि भौतिक पदार्थ होते हैं[570], किन्तु रूप स्वयं उस प्रकार का नहीं है, यदि कार्य और कारण में सादृश्य नहीं है तो असङ्गति होगी। रूपस्कन्ध की भाँति ही वेदना, चित्त, सञ्ज्ञा और संस्कार इन सभी भावों की परीक्षा करनी चाहिये तथा क्रम समझना चाहिये।[571]

आत्मा को स्कन्ध समझने वाले लोगों के लिये आचार्य नागार्जुन कहते हैं कि यदि आत्मा स्कन्ध हो तो तब इसकी उत्पत्ति और विनाश होगा। यदि यह स्कन्ध से अन्य है तो स्कन्ध के लक्षणों से रहित होगा।[572] भगवान् ने आत्मा का प्रज्ञापन किया है तथा अनात्मा की भी देशना दी है। बुद्ध ने कोई आत्मा और अनात्मा नहीं है, इसका भी उपदेश दिया है।[573] *रत्नकूटसूत्र* को उद्धृत करते हुये चन्द्रकीर्ति कहते हैं कि आत्मा एक अन्त है तथा नैरात्म्य दूसरा अन्त। इन दोनों के मध्य में स्थित है, वह अरूप्य, अनिदर्शन, अप्रतिष्ठ, अनाभास, अविज्ञप्तिक, अनिकेत कहा जाता है।[574]

नामरूप — विज्ञान के सन्निविष्ट होने पर नामरूप की उत्पत्ति होती है।[575] चन्द्रकीर्ति ने नाम के दो अर्थ किये हैं। प्रथम - कर्म से क्लिष्ट होकर जो विभिन्न योनियों में विज्ञान को आकृष्ट कर ले जाता है अथवा नमित करता है, उसे नाम कहते हैं। द्वितीय अर्थ के अनुसार सञ्ज्ञा के द्वारा जो अर्थों की ओर ले जाता है, उसे नाम कहते हैं। चारों अरूपी स्कन्ध नाम कहलाते हैं।[576] अरूपी

---

[569] न कारणस्य सदृशं कार्यमित्युपपद्यते। न कारणस्यासदृशं कार्यमित्युपपद्यते॥ वही, 4/6, पृ. 4

[570] तत्र रूपकारणं कठिनद्रवोष्णतरलस्वभावम्। *प्र.प.*, I, पृ. 83

[571] वेदनाचित्तसञ्ज्ञानां संस्काराणां च सर्वशः। सर्वेषामेव भावानां रूपेणैव समः क्रमः॥ *म.शा.*, 4/7, पृ. 4

[572] आत्मा स्कन्धा यदि भवेदुदयव्ययभाग्भवेत्। स्कन्धेभ्योऽन्यो यदि भवेद्भवेदस्कन्धलक्षणः॥ *म.शा.*, 18/1, पृ. 17

[573] आत्मेत्यपि प्रज्ञपितमनात्मेत्यपि देशितम्। बुद्धैर्नात्मा न चानात्मा कश्चिदित्यपि देशितम्॥ वही, 18/6, पृ. 17

[574] आत्मेति काश्यप अयमेकोऽन्तः। नैरात्म्यमित्ययं द्वितीयोऽन्तः। यदेतदनयोरन्तयोर्मध्यं तदरूप्यमनिदर्शनमप्रतिष्ठमनाभासमविज्ञप्तिकमनिकेतम्। इयमुच्यते। काश्यप मध्यमा प्रतिपद धर्माणां भूतप्रत्यवेक्षा इति॥ *प्र.प.*, II, पृ. 64

[575] संनिविष्टेऽथ विज्ञाने नामरूपं निषिच्यते॥ *म.शा.*, 26/2, पृ. 29

[576] तत्र कर्मक्लेशाविद्धं तस्मिंस्तस्मिन्नुपपत्त्यायतने नामयतीति नाम, सञ्ज्ञावशेन वा अर्थेषु नामयतीति नाम। चत्वारोऽरूपिणः स्कन्धा नामेति व्यपदिश्यते। *प्र.प.*, II, पृ. 245

स्कन्धों में वेदना, सञ्ज्ञा, संस्कार और विज्ञान को परिगणित किया जाता है। जो निरूपित होता है अथवा जो बाधा उपस्थित करता है, उसे रूप कहते हैं।[577] रूप पूर्वक नाम इस प्रकार दोनों को संक्षिप्त रूप में नामरूप कहा जाता है।

रूपादि पञ्चस्कन्ध की प्रतिसन्धि के समय इनको हेतु बनाकर अन्य पञ्चस्कन्ध जन्म लेते हैं। वे ही पञ्चस्कन्ध जन्म नहीं लेते, जो हैं। स्वाध्याय, दीपक, मुद्रा, दर्पण, घोष, सूर्यकान्त मणि, बीज और अम्ल के उदाहरण से नागार्जुन प्रतिसन्धि को स्पष्ट करते हैं। इन उदाहरणों से स्वभावतः आत्मा की असिद्धि होती है तथा व्यवहार और परमार्थ की भी सिद्धि हो जाती है।[578] जब गुरु शिष्य को अध्ययन कराता है, तब गुरु का अध्ययन शिष्य में संक्रान्त नहीं होता, न ही गुरु का अध्ययन कम होता है, न ही बिना गुरु के शिष्य को ज्ञान होता है, क्योंकि ऐसा होने पर अहेतुकदोष उत्पन्न हो जायेगा।[579] इसी तरह मरणकालिक चित्त भी अपरिवर्तित रहते हुये परलोक में गमन नहीं करता। यदि ऐसा माना जायेगा तो शाश्वत होने का दोष उत्पन्न हो जायेगा। न ही परलोक भी किसी अन्य से होता है, क्योंकि ऐसा होने पर अहेतुकदोष उत्पन्न हो जायेगा।[580]

ऐसे ही दीप से दीप, मुद्रा अर्थात् मोहर से प्रतिमुद्रा (ठप्पा), दर्पण में बिम्ब से प्रतिबिम्ब, शब्द से प्रतिशब्द, सूर्यकान्तमणि से अग्नि, बीज से अङ्कुर तथा अम्लफल के आस्वादन से अन्य के मुँह में लार टपकना आदि होते हैं, तब वहाँ वे सब न तो वही होते हैं और न ही अन्य।[581]

---

[577] रूप्यत इति रूपम्। बाध्यत इत्यर्थः। वही, पृ. 245; इदं च रूपं पूर्वकं च नाम, उभयमेतदभिसंक्षिप्य नामरूपमिति व्यवस्थाप्यते। वही, पृ. 245

[578] स्वाध्यायदीपमुद्रादर्पणघोषार्ककान्तबीजाम्लैः निदर्शनैर्ग्रहणम्। स्वभावेनात्मा न विद्यते व्यवहारः परलोकश्च सिध्येते इति। *प्र.स.ह्र.व्या.*, पृ. 33

[579] यथा च न गुरोध्ययनं शिष्ये सङ्क्रामति, नो तूनता वा गुरोध्ययनस्य, न शिष्यस्यान्यत एव भवत्यहेतुकदोषप्रसङ्गात्। वही, पृ. 33

[580] एवं मारणान्तिकं चित्तं परलोकं न गच्छति, शाश्वतदोषप्रसङ्गात्। न परलोकोऽन्यत एव भवति, अहेतुकदोषप्रसङ्गात्। वही, पृ. 33

[581] एवं यथा दीपाद् दीपः, मुद्रायाः प्रतिमुद्रा, स्वबिम्बादादर्शे प्रतिबिम्बकम्, शब्दात्प्रतिशब्दकः, आदित्यमणिगोमयप्रसूत्या वह्निः, बीजादङ्कुरः, अम्लफलभक्षणनैमित्तिकोऽन्यस्य मुखद्रावो भवति, न स एव सः, नान्य एव स इति न सुकरं प्रज्ञप्तुम्। वही, पृ. 33

पाँचों स्कन्धों की उपमायें प्रथित हैं। फेनपिण्ड के सदृश रूप, बुद्बुद् के समान वेदना, मरीचि सदृश सञ्ज्ञा, केले के डण्ठल की परतों की भाँति संस्कार, माया सदृश विज्ञान कहा जाता है।[582]

षडायतन — नामरूप के आधान से षडायतन की उत्पत्ति होती है।[583] दुःखोत्पत्ति के आयद्वार के होने से चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना और मन नामक छः इन्द्रियाँ, जिन्हें षडायतन कहा जाता है, नामरूप के हेतु से उत्पन्न होती हैं।[584] नागार्जुन ने *माध्यमिककारिका* के तृतीयप्रकरण में चक्षुरादि इन्द्रियों की परीक्षा की है। सर्वास्तिवादियों का मत है कि देखना, सुनना, सूंघना, चखना, छूना और धर्म ये विषय क्रमशः चक्षुरादि इन्द्रियों के हैं। नागार्जुन ने चक्षुरादि इन्द्रियों को द्रष्टा और उनके विषयों को द्रष्टव्य मानकर भावों को निःस्वभाव सिद्ध किया है। नागार्जुन के अनुसार यदि चक्षु अपने स्वरूप को नहीं देखता है तो वह पररूप नीलादि को कैसे देखेगा?[585] पूर्वपक्षी अग्नि के उदाहरण से स्पष्ट करता है कि जैसे अग्नि दूसरे को जलाती है, स्वयं को नहीं, वैसे चक्षु दूसरे को देखेगा, स्वयं को नहीं।[586] देखने की सिद्धि में अग्नि का दृष्टान्त पर्याप्त नहीं है। क्योंकि जो अग्नि से जलाया जा चुका है, वह वर्तमान में नहीं जलाया जा रहा है। ऐसे ही जो देखा जा चुका है, वह अब नहीं देखा जा रहा है तथा जो नहीं देखा गया है, वह अब नहीं देखा जा रहा है। अर्थात् दृष्ट और अदृष्ट से इतर दृश्यमान् की सत्ता नहीं है।[587] नागार्जुन के अनुसार जो देखता है वह दर्शन है। इस स्थिति में प्रश्न होता है कि दर्शन क्रिया से दर्शनस्वभाव चक्षु का सम्बन्ध है या

---

[582] फेनपिण्डोपमं रूपं वेदना बुद्बुदोपमा। मरीचिसदृशी सञ्ज्ञा संस्काराः कदलीनिभाः। मायोपमं च विज्ञानमुक्तमादित्यबन्धुना॥ *प्र.प.*, I, पृ. 17; II, पृ. 246-47

[583] निषिक्ते नामरूपे तु षडायतनसम्भवः। *म.शा.*, 26/3, पृ. 29

[584] दुःखोत्पत्त्या आयद्वारभावेन दर्शनश्रवणघ्राणरसस्पर्शमनाख्यं षडायतनं नामरूपहेतुकमुपजायते। *प्र.प.*, II, पृ. 248

[585] स्वमात्मानं दर्शनं हि तत्तमेव न पश्यति। न पश्यति यदात्मानं कथं द्रक्ष्यति तत्परान्॥ *म.शा.*, 3/2, पृ. 3

[586] यद्यपि स्वात्मानं दर्शनं न पश्यति, तथाप्यग्निवत् परान् द्रक्ष्यति। तथा हि अग्निःपरात्मानमेव दहति न स्वात्मानम्, एवं दर्शनं परानेव द्रक्ष्यति न स्वात्मानमिति। *प्र.प.*, I, पृ. 68

[587] योऽयमग्निदृष्टान्तो दर्शनप्रसिद्धये भवतोपन्यस्तः, सोऽपि सह दर्शनेन दार्ष्टान्तिकार्थेन प्रत्युक्तो दूषितः। केन पुनरित्याह- गम्यमानगतागतैः। यथा गतं न गम्यते नागतं न गम्यमानम्, एवमग्निनापि दग्धं न दह्यते नादग्धं दह्यत इत्यादिना समं वाच्यम्। यथा च न गतं नागतं न गम्यमानं गम्यते, एवम् – 'न दृष्टं दृश्यते तावददृष्टं नैव दृश्यते। दृष्टादृष्टविनिर्मुक्तंदृश्यमानं न दृश्यते॥' वही, पृ. 69

अदर्शनस्वभाव चक्षु का?[588] दर्शन स्वभाव चक्षु का दर्शन क्रिया के साथ सम्बन्ध उपपन्न नहीं है। यदि स्वीकार करेंगे तो दो दर्शन क्रियायें तथा दो दर्शन स्वीकार करने होंगे। दूसरी अवस्था में दर्शनक्रिया का अदर्शनस्वभाव चक्षु होने पर दर्शन ही नहीं होगा। देखने को पृथक् करके या न करके कोई द्रष्टा नहीं है। द्रष्टा के न होने पर देखने वाली वस्तु और उसका दर्शन असम्भव है।[589]

स्पर्श — षडायतन को प्राप्त करके स्पर्श का जन्म होता है।[590] रूप, विज्ञान और चक्षु इन तीनों का सन्निपात् स्पर्श कहलाता है।[591] द्वादशाङ्गों में स्पर्श से आशय चक्षुरादि इन्द्रियों के द्वारा रूपादि विषयों को स्पर्श करने की भावना से है। यह अवस्था केवल स्पर्श की है, यहाँ सुख अथवा दुःख के भाव उत्पन्न नहीं होते।

वेदना— स्पर्श से वेदना की उत्पत्ति होती है।[592] इष्ट, अनिष्ट और उभय तथा अनुभय विषयों के प्रति अनुभूति और विषयों का अनुभव वेदन कहलाता है तथा इसकी वित्ति अर्थात् ज्ञान वेदना कहलाता है। यह वेदना तीन प्रकार की होती है –दुःखद वेदना, सुखद वेदना और अनुभय वेदना।[593]

तृष्णा— वेदना के प्रति चाह होने से ही वेदना प्रत्यय से तृष्णा होती है।[594] अर्थात् वेदनात्रय से तृष्णा का जन्म होता है। यदि सुखद वेदना उत्पन्न होती है, तो उसके प्रति पुनः पुनः संयोग की

---

[588] इह पश्यतीति दर्शनमित्युच्यमाने दर्शनक्रियया दर्शनस्वभावस्य वा चक्षुषः संबन्धः परिकल्प्येत, अदर्शनस्वभावस्य वा? वही, पृ. 70

[589] पश्यति दर्शनं नैव नैव पश्यत्यदर्शनम्। व्याख्यातो दर्शनेनैव द्रष्टा चाप्युपगम्यताम्॥ तिरस्कृत्य द्रष्टा नास्त्यतिरस्कृत्य च दर्शनम्। द्रष्टव्यं दर्शनं चैव द्रष्टर्यसति ते कुतः॥ *म.शा.*, 3/5-6, पृ. 4

[590] षडायतनमागम्य संस्पर्शः संप्रवर्तते॥ *म.शा.*, 26/3, पृ. 29

[591] संनिपातस्त्रयाणां यो रूपविज्ञानचक्षुषां स्पर्शः सः। *म.शा.*, 26/5, पृ. 30; त्रयाणां धर्माणां संनिपातः स्पर्शः। *प्र.प.*, II, पृ. 255

[592] तस्मात्स्पर्शाच्च वेदना संप्रवर्तते॥ *म.शा.*, 26/5, पृ. 30

[593] इष्टानिष्टोभयविपरीतविषयानुभूतिर्विषयानुभवो वेदनं वित्तिर्वेदनेत्युच्यते। दुःखा सुखा अदुःखासुखा च त्रिविधा। *प्र.प.*, II, पृ. 250

[594] वेदनाप्रत्यया तृष्णा वेदनार्थं हि तृष्यते। *म.शा.*, 26/6, पृ. 30

इच्छा बढती जाती है। इसी प्रकार दुःखद वेदना के विसंयोग की चाह बढती जाती है। अनुभय वेदना से आरूप्यतृष्णा में वृद्धि होती है।[595]

उपादान— वेदना की चाह अर्थात् तृष्णा से चार प्रकार के उपादानों का ग्रहण होता है।[596] त्रिविधा वेदनाओं में अभिनिविष्ट अर्थात् आसक्त तृष्णाप्रत्यय से कामादि चतुर्विध उपादानों का समुदाचार होता है। चारों उपादान हैं- कामोपादान, दृष्टि उपादान, शीलवृतोपादान, आत्मवादोपादान।[597]

भव— उपादान के होने पर उपादान ग्रहण करने वाले का भव होता है। यदि उपादानरहित हो तो व्यक्ति मुक्त हो जायेगा। उसका भव नहीं होगा।[598] पञ्चस्कन्ध भव कहलाते हैं।[599] इन पञ्चस्कन्धों के कारण ही भव होता है। यदि ये उपादानग्रहण नहीं करेंगे तो भव नहीं होगा।

जाति— भव से जाति अर्थात् जन्म होता है।[600] भव तक एक जन्म सम्पूर्ण होता है। भव के अनन्तर पुनः प्रतिसन्धि होती है, जिसे जाति कहा जाता है।

जरामरण— जाति से जरामरणादि दुःख उत्पन्न होते हैं। जाति से प्रवृत्त इन दुःखों में शोक करना, परिवेदन करना, दौर्मनस्य व उपायास हैं। इस तरह केवल दुःखस्कन्ध की उत्पत्ति होती है।[601] स्कन्धों का परिपाक जरा तथा उनकी जीर्णता मरण है। स्वजनों एवं सम्पत्ति नाश से उत्पन्न हृदय का संताप शोक है। शोक से उत्पन्न विलाप परिदेव है। पञ्चेन्द्रियों को होने वाली

---

[595] वेदनानिमित्तमेव अभिलाषं करोतीत्यर्थः। कथं कृत्वा? यदि तावत् सुखा वेदना अस्योपजायते, स तस्याः पुनः पुनः संयोगार्थं परितृष्यते। अथ दुःखा, तदा तस्या विसंयोगार्थं परितृष्यते। अथ अदुःखासुखा, तस्या अपि नित्यमपरिभ्रंशार्थं परितृष्यते। *प्र.प.*, II, पृ. 250

[596] तृष्यमाण उपादानमुपादत्ते चतुर्विधम्॥ *म.शा.*, 26/6, पृ. 30

[597] स एवं वेदनास्वभिनिविष्टः सक्तः तृष्णाप्रत्ययं कामदृष्टिशीलव्रतात्मवादोपादानाख्यं चतुर्विधं कर्माक्षेपकारणं परिगृह्णाति। *प्र.प.*, II, पृ. 250

[598] उपादाने सति भव उपादातुः प्रवर्तते। स्याद्धि यद्यनुपादानो मुच्येत न भवेद्ध्रुवः॥ *म.शा.*, 26/7, पृ. 30

[599] पञ्च स्कन्धाः स च भवः। वही, 26/8, पृ. 30

[600] भवाज्जातिः प्रवर्तते। वही, 26/8, पृ. 30

[601] जरामरणदुःखादि शोकाः सपरिदेवनाः॥ दौर्मनस्यमुपायासा जातेरेतत्प्रवर्तते। केवलस्यैवमेतस्य दुःखस्कन्धस्य सम्भवः॥ वही, 26/8-9, पृ. 30

पीड़ा दुःख है। मानसिक वेदना दौर्मनस्य है। दुःख और दौर्मनस्य की तीव्रता उपायास है।[602] अज्ञानी व्यक्ति संसार के मूलभूत संस्कारों को पुष्ट करता है, अतः अज्ञानी ही कर्त्ता होता है। चूंकि ज्ञानी तत्त्व का दर्शन करता है, अतः वह कर्त्ता नहीं होता। अविद्या का निरोध होने पर संस्कार उत्पन्न नहीं होते। अविद्या का नाश शून्यता अथवा प्रतीत्यसमुत्पाद की भावना द्वारा ही होता है। अविद्या के नाश से तत्तद् अङ्गों संस्कारादि का निरोध होता है तथा दुःखस्कन्ध का सम्यक् निरोध हो जाता है।[603]

3.7. माध्यमिक दर्शन में प्रतीत्यसमुत्पाद के भेद

शालिस्तम्बसूत्र में प्रतीत्यसमुत्पाद को दो भागों आध्यात्मिक और बाह्य में बांटा गया है। पुनः दोनों के हेतूपनिबन्ध और प्रत्ययोपनिबन्ध नामक भेद किये हैं।[604] अतः प्रतीत्यसमुत्पाद के चार भेद बाह्यहेतूपनिबन्ध, बाह्यप्रत्ययोपनिबन्ध, आध्यात्मिक हेतूपनिबन्ध और आध्यात्मिक प्रत्ययोपनिबन्ध हो जाते हैं। चन्द्रकीर्ति ने *प्रसन्नपदा* के 26वें प्रकरण में *शालिस्तम्बसूत्र* को को उद्धृत कर माध्यमिक नयानुसार प्रतीत्यसमुत्पाद के भेदों का वर्णन किया है।

बाह्यहेतूपनिबन्ध प्रतीत्यसमुत्पाद – बाह्यहेतूपनिबन्ध में कार्यकारण की श्रङ्खला बिना किसी बाह्य कारण के अनवरत चलती है। यथा - बीज से अङ्कुर, अङ्कुर से पत्र, पत्र से काण्ड, काण्ड से नाल, नाल से गण्ड, गण्ड से गर्भ, गर्भ से शुक, शुक से पुष्प, पुष्प से फल होता है। बीज के न होने पर अङ्कुर नहीं होता, पुष्प के न होने पर फल भी नहीं होता। बीज के होने पर अङ्कुर की अभिनिवृत्ति होती है, वैसे ही पुष्प के होने पर फल की भी अभिनिवृत्ति होती है। बीज के लिये

---

[602] तत्र स्कन्धपरिपाको जरा। जीर्णस्य स्कन्धभेदो मरणम्। म्रियमाणस्य विगच्छतः संमूढस्य सामिषङ्गो हृदयसंतापः शोकः। शोकसमुत्थितो वाक्प्रलापः परिदेवः। पञ्चेन्द्रियासातनिपातो दुःखम्। मनोनिष्टनिपातो दौर्मनस्यम्। दुःखदौर्मनस्यबहुत्वसंभूता उपायासाः। *प्र.प.*, II, पृ. 252

[603] संसारमूलान्संस्कारानविद्वान् संस्करोत्यतः। अविद्वान् कारकस्तस्मान्न विद्वांस्तत्त्वदर्शनात्॥
अविद्यायां निरुद्धायां संस्काराणामसम्भवः। अविद्याया निरोधस्तु ज्ञानेनास्यैव भावनात्॥
तस्य तस्य निरोधेन तत्तन्नाभिप्रवर्तते। दुःखस्कन्धः केवलोऽयमेवं सम्यङ् निरुध्यते॥ *म.शा.*, 26/10-12, पृ. 30

[604] अथ च पुनरयं प्रतीत्यसमुत्पादो द्वाभ्यां कारणाभ्यामुत्पद्यते। कतमाभ्यां द्वाभ्याम्? यदिदं हेतूपनिबन्धतः प्रत्ययोपनिबन्धतश्च। सोऽपि द्विविधो द्रष्टव्यः-बाह्यश्च आध्यात्मिकश्च। *शा.सू.*, पृ. 108

ऐसा नहीं होता कि 'मैं बीज से उत्पन्न हुआ हूँ' किन्तु बीज के होने पर अङ्कुर का प्रादुर्भाव होता है, पुष्प के रहने पर फल का।[605]

बाह्यप्रत्ययोपनिबन्ध प्रतीत्यसमुत्पाद – बाह्यप्रत्ययोपनिबन्ध प्रतीत्यसमुत्पाद में बाह्य कारण भूमिका निभाते हैं। यह षट् धातुओं के समुत्पाद से होता है। पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश और ऋतु ये छः धातुयें हैं। बीज का सन्धारण पृथ्वी करती है, जल बीज को गीला करता है, तेज उसे पकाता है, वायु बीज का अभिनिर्हार करता है। आकाश बीज को अनावृत्त करता है और ऋतु बीज का परिगामन कार्य करती है। इन प्रत्ययों के अभाव से बीज से अङ्कुर नहीं हो सकता। जब बाह्य पृथ्वी अविकल होती है और ये अप्-तेज-वायु-आकाश और ऋतु आदि भी जब अविकल होते हैं तब उन सबके रागवाय से बीज के निरुद्ध होने से अङ्कुर की निष्पत्ति होती है।[606] उस समय पृथ्वी आदि को यह ज्ञात नहीं होता कि उसने बीज का सन्धारण आदि किया है और अङ्कुर को भी यह ज्ञात नहीं होता है कि पृथ्वी आदि से सन्धारित और पोषित होकर उसका जन्म हुआ है, किन्तु इन प्रत्ययों के रहते हुए बीज के निरुद्ध होते ही अङ्कुर की उत्पत्ति होती है। वह अङ्कुर न स्वयंकृत, न परकृत, न उभयकृत, न ईश्वरकृत, न कालपरिणामित और न ही प्रकृतिसम्भूत है, न ही एक कारणाधीन और न ही अहेतुसमुत्पन्न है।[607]

---

[605] तत्र बाह्यस्य प्रतीत्यसमुत्पादस्य हेतूपनिबन्धः कतमाः? यदिदं बीजादङ्कुरः। अङ्कुरात्पत्रम्। पत्रात्काण्डम्। काण्डान्नालम्। नालाद्गण्डः। गण्डाद्गर्भम्। गर्भाच्छूकः। शूकात्पुष्पम्। पुष्पात् फलम्। असति बीजे अङ्कुरो न भवति, यावदसति पुष्पे फलं न भवति। सति तु बीजे अङ्कुरस्याभिनिर्वृत्तिर्भवति, एवं यावत् सति पुष्पे फलस्याभिनिर्वृत्तिर्भवति। तत्र बीजस्य नैवं भवति-अहमङ्कुरमभिनिर्वर्तयामीति। अङ्कुरस्यापि नैवं भवति-अहं बीजेनाभिनिर्वर्तित इति। एवं यावत् पुष्पस्य नैवं भवति-अहं फलमभिनिर्वर्तयामीति। फलस्यापि नैवं भवति-अहं पुष्पेणाभिनिर्वर्तितमिति। अथ पुनः बीजे सति अङ्कुरस्याभिनिर्वृत्तिर्भवति प्रादुर्भावः। एवं यावत् पुष्पे सति फलस्याभिनिर्वृत्तिर्भवति प्रादुर्भावः। एवं बाह्यस्य प्रतीत्यसमुत्पादस्य हेतूपनिबन्धो द्रष्टव्यः। *शा.सू.*, पृ. 108

[606] कथं बाह्यस्य प्रतीत्यसमुत्पादस्य प्रत्ययोपनिबन्धो द्रष्टव्यः? षण्णां धातूना समुदायात्। कतमेषां षण्णां समवायात्? यदिदं पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशऋतुधातुसमवायाद्बाह्यस्य प्रतीत्यसमुत्पादस्य प्रत्ययोपनिबन्धो द्रष्टव्यः। तत्र पृथिवीधातुर्बीजस्य संधारणकृत्यं करोति। अब्धातुर्बीजं स्नेहयति। तेजोधातुर्बीजं परिपाचयति। वायुधातुर्बीजमभिनिर्हरति। आकाशधातुर्बीजस्यानावरणकृत्यं करोतीति। ऋतुरपि बीजस्य परिणामनाकृत्यं करोति। असत्सु एषु प्रत्ययेषु बीजादङ्कुरस्याभिनिर्वृत्तिर्न भवति। यदा बाह्यश्च पृथिवीधातुरविकलो भवति, एवमप्तेजोवाय्वाकाशऋतुधातवश्चाविकला भवन्ति, ततः सर्वेषां समवायाद्बीजे निरुध्यमाने अङ्कुरस्याभिनिर्वृत्तिर्भवति। *शा.सू.*, पृ. 109

[607] तत्र पृथिवीधातोर्नैवं भवति-अहं बीजस्य संधारणकृत्यं करोमीति।..... अङ्कुरस्यापि नैवं भवति-अहमेभिः प्रत्ययैरभिनिर्वर्तित इति। अथ पुनः सत्सु एतेषु प्रत्ययेषु बीजे निरुध्यमाने अङ्कुरस्याभिनिर्वृत्तिभवति। एवं यावत् पुष्पे

शालिस्तम्बसूत्र में बाह्यप्रतीत्यसमुत्पाद को अशाश्वत, अनुच्छेद, असङ्क्रान्ति, परीत्तहेतु से विपुलफल की प्राप्ति तथा तत्सादृश्यानुप्रबन्ध इन पाँच कारणों से देखने को कहा गया है।[608] शाश्वत न होने से बीज अन्य है और अङ्कुर भी अन्य है। बीज के निरुद्ध हो जाने पर अङ्कुर की निष्पति होती है, ऐसा भी नहीं है। उच्छेद भी नहीं है क्योंकि पूर्वनिरुद्ध बीज से अङ्कुर उत्पन्न नहीं होता, न ही अनिरुद्ध बीज से उत्पन्न होता है। जैसे तराजू के पलड़ों में से एक का झुकना और दूसरे का उठना समानकालवर्ती है, वैसे ही बीज का निरुद्ध होना तथा उसी समय अङ्कुर का उत्पन्न होना समानकालवर्ती है। सङ्क्रान्ति भी नहीं है क्योंकि बीज के सदृश अङ्कुर नहीं है। अत्यल्प मात्रा में बीज बोया जाता है और महत् फल उत्पन्न होता है, अतः एव इससे परीत्तहेतु से विपुलफल की उत्पत्ति भी नहीं है। जैसा बीज बोया जाता है वैसा ही फल उत्पन्न नहीं होने से यह तत्सादृश्यानुप्रबन्ध है। इस प्रकार बाह्य प्रतीत्यसमुत्पाद के पाँच आकार बतलाये गये हैं।[609]

आध्यात्मिक हेतूपनिबन्ध प्रतीत्यसमुत्पाद – आध्यात्मिक हेतूपनिबन्ध प्रतीत्यसमुत्पाद अविद्याप्रत्यय से संस्कार, संस्कारप्रत्यय से विज्ञान के होने से जरामरण तक द्वादशाङ्ग परम्परा को समझना चाहिये। यदि अविद्या न हो तो संस्कार नहीं होंगे और ऐसे ही यदि जाति न हो तो जरामरण भी नहीं होंगे। अविद्या के होने पर ही संस्कारों की अभिनिवृति होती है वैसे ही जाति के होने पर जरा-मरणादि की भी अभिनिर्वृति होती है।[610] अविद्या के लिये ऐसा नहीं होता 'मैं

सति फलस्याभिनिर्वृत्तिर्भवति। स च अङ्कुरो न स्वयंकृतो न परकृतो नोभयकृतो नेश्वरकृतो न कालपरिणामितो न प्रकृतिसंभूतो नाप्यहेतुसमुत्पन्नः। अथ पुनः पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशऋतुधातुसमवायाद् बीजे निरुध्यमाने अङ्कुरस्याभिनिर्वृत्तिर्भवति। वही, पृ. 109

[608] तत्र बाह्यः प्रतीत्यसमुत्पादः पञ्चभिः कारणैर्द्रष्टव्यः। कतमैः पञ्चभिः? न शाश्वततः, नोच्छेदतः, न संक्रान्तितः, परीत्तहेतुतो विपुलफलाभिनिर्वृत्तितः, तत्सदृशानुप्रबन्धतश्च। वही, पृ. 109

[609] यस्मादन्योऽङ्कुरोऽन्यद्बीजम्, न च यदेव बीजं स एवाङ्कुरः। अथ च पुनर्बीजं निरुध्यते, अङ्कुरश्चोत्पद्यते। अतो न शाश्वतत इति। कथं पुनर्नोच्छेदतः? न च पूर्वनिरुद्धाद्बीजादङ्कुरो निष्पद्यते। नाप्यनिरुद्धात्। अपि च बीजं च निरुध्यते, तस्मिन्नेव समये अङ्कुर उत्पद्यते तुलादण्डोन्नामावनामवत्। अतो नोच्छेदतः॥ कथं न संक्रान्तितः? विसदृशो बीजादङ्कुर इति। अतो न संक्रान्तितः॥ कथं परीत्तहेतुतो विपुलफलाभिनिर्वृत्तितः? परीत्तं बीजमुप्यते, विपुलफलमभिनिर्वर्तयतीति। अतः परीत्तहेतुतो विपुलफलाभिनिर्वृत्तितः॥ कथं तत्सदृशानुप्रबन्धतः? यादृशं बीजमुप्यते, तादृशं फलमभिनिर्वर्तयतीति। अतस्तत्सदृशानुप्रबन्धतश्चेति॥ एवं बाह्यः प्रतीत्यसमुत्पादः पञ्चभिः कारणैर्द्रष्टव्यः॥ *शा.सू.*, पृ. 109

[610] तत्र पुनश्चाध्यात्मिकस्य प्रतीत्यसमुत्पादस्य हेतूपनिबन्धः कतमः? यदिदमविद्याप्रत्ययाः संस्काराः, यावज्जातिप्रत्ययं जरामरणमिति। अविद्या चेन्नाभविष्यत्, नैव संस्काराः प्रज्ञास्यन्ते। एवं यावज्जातिश्चेन्नाभविष्यत्, जरामरणं न

संस्कार को उत्पन्न करती हूँ।' संस्कारों के लिये ऐसा नहीं होता 'हम अविद्या से उत्पन्न होते हैं।' वैसे ही जब तक जाति को भी यह नहीं होता कि वह जरामरण को उत्पन्न करती है तथा जरामरण को भी नहीं होता कि वे जाति से उत्पन्न होते हैं।[611]

इस तरह यहाँ पर कोई भी निदान एक दूसरे को बोधपूर्वक अर्थात् यह जानकार कि मैंने इसे उत्पन्न किया है, पुष्पित एवं पल्लवित किया है और यह कि मैं इससे जन्मा हूँ; विकसित हुआ हूँ ऐसा जान कर उत्पन्न नहीं करता, उत्पन्न नहीं होता किन्तु सभी एक दूसरे की उत्पत्ति में परस्पर कारण, प्रत्यय सिद्ध होते हैं।

आध्यात्मिक प्रत्ययोपनिबन्ध प्रतीत्यसमुत्पाद – यह प्रतीत्यसमुत्पाद पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश और विज्ञान इन षड्धातुओं के समवाय से समुद्भूत होता है। इन षड्धातुओं के समवाय से शरीर उत्पन्न होता है। जो शरीर में काठिन्य को उत्पन्न करती है वह पृथ्वीधातु है, जो शरीर के अनुपरिग्रह कृत्य करती है वह जल धातु है, जो शरीर के खाये-पीये का परिपाचन करती है वह तेजधातु है, जो शरीर के श्वास-प्रश्वास सम्बन्धी कृत्य को करती है वह वायुधातु है, जो शरीर के अन्दर अवकाश को उत्पन्न करती है वह आकाश धातु है और अन्तिम विज्ञानधातु वह है जो नामरूपात्मक अङ्कुर को उत्पन्न करता है तथा पञ्चविज्ञानकाय से संयुक्त सास्रव मनोविज्ञान को जन्म देता है। इन प्रत्ययों के न रहने पर शरीर की उत्पत्ति नहीं होती किन्तु जब पृथ्वी आदि धातुयें अविकल होती है तब सभी के समवाय से शरीर की उत्पत्ति होती है।[612]

प्रज्ञास्यते। अथ सत्यामविद्यायां संस्काराणामभिनिर्वृत्तिर्भवति। एवं यावज्जात्यां सत्त्यां जरामरणस्याभिनिर्वृत्तिर्भवति। *प्र.प.*, II, पृ. 255; *शा.सू.*, पृ. 110

[611] तत्र अविद्याया नैवं भवति-अहं संस्कारानभिनिर्वर्तयामीति। संस्काराणामपि नैवं भवति-वयमविद्यया अभिनिर्वर्तिता इति। एवं यावज्जातेरपि नैवं भवति-अहं जरामरणमभिनिर्वर्तयामीति। जरामरणस्यापि नैवं भवति-अहं जात्याभिनिर्वर्तितमिति। अथ च सत्यामविद्यायां संस्काराणामभिनिर्वृत्तिर्भवति प्रादुर्भावः। एवं यावज्जात्यां सत्यां जरामरणस्याभिनिर्वृत्तिर्भवति प्रादुर्भावः। एवमाध्यात्मिकस्य प्रतीत्यसमुत्पादस्य हेतूपनिबन्धो द्रष्टव्यः॥ वही

[612] कथमाध्यात्मिकस्य प्रतीत्यसमुत्पादस्य प्रत्ययोपनिबन्धो द्रष्टव्यः ? षण्णां धातूनां समवायात्। कतमेषां षण्णां धातूनां समवायात् ? यदिदं पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशविज्ञानधातूनां समवायादाध्यात्मिकस्य प्रतीत्यसमुत्पादस्य प्रत्ययोपनिबन्धो द्रष्टव्यः। तत्र आध्यात्मिकस्य प्रतीत्यसमुत्पादस्य पृथिवीधातुः कतमः ? योऽयं कायस्य संक्षेषतः कठिनभावमभिनिर्वर्तयति, अयमुच्यते पृथिवीधातुः। यः कायस्य अनुपरिग्रहकृत्यं करोति, अयमुच्यतेऽब्धातुः। यं कायस्य अशितपीतभक्षितं परिपाचयति, अयमुच्यते तेजोधातुः। यं कायस्य आश्वासप्रश्वासकृत्यं करोति, अयमुच्यते वायुधातुः। यं

पृथ्वी आदि षड्धातुओं के अन्दर यह स्फुरण नहीं होता कि वे शरीर के अन्दर काठिन्यादि भावों को उत्पन्न करते हैं। न ही शरीर को यह अनुभव होता है कि वह पृथ्वी आदि धातुओं से उत्पन्न है।[613] ये पृथ्वी आदि धातुयें न तो आत्मा है, न सत्त्व है, न जीव-जन्तु है, न स्त्री-पुरुष है, न नपुंसक है, न मैं, न मेरा और न अन्य ही हैं। इस प्रकार कोई भी धातु एक दूसरे को बिना बोधित किये ही उत्पन्न होती है और एक दूसरे का कारण भी है। इन पृथ्वी आदि धातुओं के प्रत्ययों के समवाय से शरीर की उत्पत्ति होती है।[614]

यह द्वादशाङ्ग प्रतीत्यसमुत्पाद अन्योन्यहेतुक, अन्योन्यप्रत्यय, न नित्य न अनित्य, न संस्कृत न असंस्कृत, न अहेतुक न अप्रत्ययक, न वेदयिता न अवेदियता, न प्रतीत्यसमुत्पन्न न अप्रतीत्यसमुत्पन्न, न अक्षयधर्म न क्षयधर्म, न विनाशधर्म न अविनाशधर्म, न निरोधधर्म न अनिरोधधर्म स्वरूप अनादि काल से नदीस्रोत की भाँति प्रवाहमान् होने से अवच्छिन्न है।[615]

यद्यपि प्रतीत्यसमुत्पाद के बारह अङ्ग हैं, किन्तु इनमें से चार अङ्ग संघात क्रिया के लिये विशिष्ट हैं। ये अङ्ग हैं- अविद्या, तृष्णा, संस्कार और विज्ञान। संस्कार को कर्म भी कहा जाता है। इन चारों में विज्ञान बीज है, संस्कार क्षेत्र है, अविद्या और तृष्णा क्लेशस्वभाव है। कर्म अर्थात् संस्कार और क्लेश विज्ञान बीज को उपजाते हैं, क्योंकि संस्कार विज्ञान बीज का

कायस्यान्तःशौषिर्यमभिनिर्वर्तयति, अयमुच्यते आकाशधातुः। य कायस्य नामरूपाङ्कुरमभिनिर्वर्तयति, नडकलापयोगेन, पञ्चविज्ञानकायसंयुक्तं सास्रवं च मनोविज्ञानम्, अयमुच्यते विज्ञानधातुः। तत्र असतामेषां प्रत्ययानां कायस्योत्पत्तिर्न भवति। *प्र.प.*, II, पृ. 255; *शा.सू.*, पृ. 110

[613] तत्र पृथिवीधातोर्नैवं भवति - अहं कायस्य कठिनभावमभिनिर्वर्तयामीति। अब्धातोर्नैवं भवति - अहं कायस्यानुपरिग्रहकृत्यं करोमीति। तेजोधातोर्नैवं भवति - अहं कायस्याशितपीतखादितं परिपाचयामीति। वायुधातोर्नैवं भवति अहं कायस्याश्वासप्रश्वासकृत्यं करोमीति। आकाशधातोर्नैवं भवति - अहं कायस्यान्तः शौषीर्यमभि निर्वर्तयामीति। विज्ञानधातोर्नैवं भवति- अहं कायस्य नामरूपमभिनिर्वर्तयामीति। कायस्यापि नैवं भवति अहमेमिः प्रत्ययैर्जनित इति। अथ च पुनः सतामेषां प्रत्ययानां समवायात्कायस्योत्पत्तिर्भवति। *प्र.प.*, II, पृ. 255; *शा.सू.*, पृ. 110-11

[614] अथ च पुनः सतामेषां प्रत्ययानां समवायात्कायस्योत्पत्ति र्भवति। तत्र पृथिवीधातुर्नात्मा न सत्त्वो न जीवो न जन्तुर्न मनुजो न मानवो न स्त्री न पुमान् न नपुंसकं न चाहं न मम न चान्यस्य कस्यचित्। *प्र.प.*, II, पृ. 255; *शा.सू.*, पृ. 111

[615] एवमयं द्वादशाङ्गः प्रतीत्यसमुत्पादोऽन्योन्यहेतुकोऽन्योन्यप्रत्ययो नैवानित्यो नैव नित्यो न संस्कृतो नासंस्कृतो नाहेतुको नाप्रत्ययो न वेदयिता नावेदयिता न प्रतीत्यसमुत्पन्नो नाप्रतीत्यसमुत्पन्नो न क्षयधर्मो नाक्षयधर्मो न विनाशधर्मो नाविनाशधर्मो न निरोधधर्मो नानिरोधधर्मोऽनादिकालप्रवृत्तोऽनुच्छिन्नोऽनुप्रवर्तते नदीस्रोतवत्॥ वही

क्षेत्रकार्य करता है। तृष्णा विज्ञान बीज को सहलाती है और अविद्या विज्ञान बीज का अविकरण करती है। इन प्रत्ययों के अभाव से विज्ञान बीज की उत्पत्ति नहीं हो सकती।[616]

विज्ञान बीज की उत्पत्ति प्रक्रिया में संस्कार को यह ज्ञात नहीं होता कि वह विज्ञान बीज के लिये क्षेत्र का कार्य कर रहा है। न ही तृष्णा को पता रहता है कि वह विज्ञान बीज को सहला रही है। न ही अविद्या को यह प्रतीत होता है कि वह विज्ञान बीज को अविकीर्ण कर रही है। न ही विज्ञान बीज को यह पता होता है कि वह अन्य प्रत्ययों से जन्म ले रहा है।[617]

इस तरह विज्ञान बीज संस्कार क्षेत्र में प्रतिष्ठित होकर, तृष्णा द्वारा सहलाते हुये, अविद्या द्वारा विभाजित होकर वृद्धि को प्राप्त होता है। विभिन्न उपपत्ति आयतन प्रतिसन्धि में माता की कुक्षि में विज्ञान बीज से नामरूप अभिधेय अङ्कुर उत्पन्न होता है। यह नामरूपाङ्कुर न स्वयंकृत है, न परकृत है, न उभयकृत है, न ईश्वरकृत है, न काल से परिणमित होने वाला है, न प्रकृति से उत्पन्न है, न एक कारण के अधीन है, न अहेतु से उत्पन्न है, अपितु माता-पिता के संयोग एवं ऋतु समवाय से, हेतु प्रत्ययों के अवैकल्य होने पर ही उत्पन्न होता है।[618] नामरूप से चक्षुरादि षडायतन, षडायतन से स्पर्श, स्पर्श से वेदना, वेदना से तृष्णा, तृष्णा से उपादान, उपादान से भव, भव से जाति और जाति से जरामरणादि दुःखस्कन्ध उत्पन्न होते हैं।

---

[616] यद्यप्ययं द्वादशाङ्गः प्रतीत्यसमुत्पादोऽनुच्छिन्नोऽनुप्रवर्तते नदीस्रोतवत्, अथ चेमान्यस्य द्वादशाङ्गस्य प्रतीत्यसमुत्पादस्य चत्वार्यङ्गानि संघातक्रियायै हेतुत्वेन प्रवर्तन्ते। कतमानि चत्वारि? यदुत अविद्या तृष्णा कर्म विज्ञानं च। तत्र विज्ञानं बीजस्वभावत्वेन हेतुः। कर्म क्षेत्रस्वभावत्वेन हेतुः। अविद्या तृष्णा च क्लेशस्वभावत्वेन हेतुः। कर्मक्लेशा विज्ञानबीजं जनयन्ति। तत्र कर्म विज्ञानबीजस्य क्षेत्रकार्यं करोति। तृष्णा विज्ञानबीजं स्नेहयति। अविद्या विज्ञानबीजमवकिरति। असतां तेषां प्रत्ययानां विज्ञानबीजस्यभिनिर्वृत्तिर्न भवति। *प्र.प.*, II, पृ. 256

[617] तत्र कर्मणो नैवं भवति - अहं विज्ञानबीजस्य क्षेत्रकार्यं करोमीति। तृष्णाया अपि नैवं भवति - अहं विज्ञानस्य स्नेहकार्यं करोमिति। अविद्याया अपि नैवं भवति - अहं विज्ञानबीजमवकिरामीति। विज्ञानबीजस्यापि नैवं भवति - अहमेभिः प्रत्ययैर्जनितमिति॥ *प्र.प.*, II, पृ. 256

[618] अथ च विज्ञानबीजं कर्मक्षेत्रप्रतिष्ठितं तृष्णास्नेहाभिष्यन्दितमविद्यया स्ववकीर्णं विभज्यमानं विरोहति। तत्रतत्रोपपत्त्यांयतनप्रतिसंधौ मातुः कुक्षौ नामरूपाङ्कुरमभिनिर्वर्तयति। स च नामरूपाङ्कुरो न स्वयं कृतो न परकृतो नोभयकृतो नेश्वरकृतो न कालपरिणामितो न प्रकृतिसंभूतो न चैककारणाधीनो नाप्यहेतुसमुत्पन्नः। अथ च मातापितृसंयोगाद्, ऋतुसमवायाद्, अन्येषां प्रत्ययानां समवायाद् आस्वादानुविद्धं विज्ञानबीजं मातुः कुक्षौ नामरूपाङ्कुरमभिनिर्वर्तयति अस्वामिकेषु धर्मेष्वपरिग्रहेष्वममेष्वाकाशसमेषु मायालक्षणस्वभावेषु हेतुप्रत्ययानामवैकल्यात्॥ वही

आध्यात्मिक प्रतीत्यसमुत्पाद को पाँच कारणों अशाश्वत, अनुच्छेद, असङ्क्रान्ति, परीत्तहेतु से विपुलफल उत्पत्ति तथा तत्सादृश्यानुप्रबन्ध से देखना चाहिये।[619] आध्यात्मिक प्रतीत्यसमुत्पाद शाश्वत नहीं है, क्योंकि मरणान्तक स्कन्ध और जन्म लेने वाला स्कन्ध भिन्न-भिन्न हैं। जिस समय मरणान्तक स्कन्ध निरुद्ध होता है, उसी समय उपपत्ति स्कन्ध का प्रादुर्भाव होता है, अतः स्कन्ध शाश्वत नहीं है। स्कन्ध उच्छेद भी नहीं है क्योंकि पूर्वनिरुद्ध स्कन्ध से उपपत्ति भव का स्कन्ध उत्पन्न नहीं होता, न ही अनिरुद्ध स्कन्ध से उत्पन्न होता है। किन्तु जिस समय मरणान्तक स्कन्ध निरुद्ध होता है उसी समय उपपत्ति स्कन्ध भी उत्पन्न होता है जैसे कि तराजू के पलड़ों में से एक का झुकना और दूसरे का उठना समानकालवर्ती है तथा चन्द्र के बिम्ब के साथ-साथ प्रतिबिम्ब भी उत्पन्न होता है। सङ्क्रान्ति भी नहीं है, क्योंकि असमान चारों सत्त्वों (अण्डज, जरायुज, संस्वेदज व उपपादुक) की पाँचों गतियों अर्थात् जातियों (नरक, तिर्यक्, प्रेत, देव व मनुष्य) में जन्म होता है। अत्यल्प मात्रा में कर्म किया जाता है और महत् फल उत्पन्न होता है, अतः एव इससे परीत्तहेतु से विपुलफल की उत्पत्ति होती है। जैसा वेदनीय होता है वैसा ही वेदनीय विपाक की अनुभूति न होने से यह तत्सादृश्यानुप्रबन्ध है।[620]

माध्यमिक दर्शन में प्रतीत्यसमुत्पाद के विश्लेषणोपरान्त यह कहा जा सकता है कि माध्यमिकों ने अनिरोधादि आठ विशेषणों से संयुक्त प्रतीत्यसमुत्पाद के माध्यम से पारमार्थिक स्तर पर जगत् सहित समस्त वस्तुओं की निःस्वभावता अथवा प्रतीत्यसमुत्पन्नता सिद्ध की है। किन्तु व्यावहारिक स्तर पर हेतुप्रत्यय की अपेक्षा से कार्य-कारण भाव को भी विश्लेषित किया है। शून्यता के ज्ञानाभाव में अविद्यादि द्वादशाङ्गों के द्वारा दुःखों की प्राप्ति होती है तथा अविद्या

---

[619] तत्राध्यात्मिकः प्रतीत्यसमुत्पादः पञ्चभिः कारणैर्द्रष्टव्यः। कतमैः पञ्चभिः? न शाश्वततो नोच्छेदतो न संक्रान्तितः परीत्तहेतुविपुलफलाभिनिर्वृत्तितस्तत्सदृशानुप्रबन्धतश्चेति। *प्र.प.*, II, पृ. 256; *शा.सू.*, पृ. 114

[620] कथं न शाश्वततः? यस्मादन्ये मारणान्तिकाः स्कन्धाः, अन्ये औपपत्त्यंशिकाः स्कन्धाः। न तु य एव मारणान्तिकाः स्कन्धास्त एवौपपत्त्यंशिकाः। अपि तु मारणान्तिकाः स्कन्धा निरुध्यन्ते, तस्मिन्नेव च समये औपपत्त्यंशिकाः स्कन्धाः प्रादुर्भवन्ति। अतो न शाश्वततः। कथं नोच्छेदतः ? न च पूर्वनिरुद्धेषु मारणान्तिकेषु स्कन्धेषु औपपत्त्यंशिकाः स्कन्धाः प्रादुर्भवन्ति नाप्यनिरुद्धेषु। अपि तु मारणान्तिकाः स्कन्धा निरुध्यन्ते, तस्मिन्नेव च समये औपपत्त्यंशिकाः स्कन्धाः प्रादुर्भवन्ति तुलादण्डोन्नाभावनामवत् चन्द्रबिम्बप्रतिबिम्बवत्। अतो नोच्छेदतः। कथं न संक्रान्तितः ? विसदृशाः सत्त्वनिकायाः सभागायां जात्यां जातिमभिनिर्वर्तयन्ति। अतो न संक्रान्तितः। कथं परीत्तहेतुतो विपुलफलाभिनिर्वृत्तितः। परीत्तं कर्म क्रियते, विपुलः फलविपाकोऽनुभूयते। अतः परीत्तहेतुतो विपुलफलाभिनिर्वृत्तितः। कथं तत्सदृशानुप्रबन्धतः? यथावेदनीयं कर्म क्रियते, तथावेदनीयो विपाकोऽनुभूयते। अतस्तत्सदृशानुप्रबन्धतश्च। *प्र.प.*, II, पृ. 256; *शा.सू.*, पृ. 114

नाश से दुःखों से निवृत्ति हो जाती है। प्रतीत्यसमुत्पाद के भेद-प्रभेदों के द्वारा न केवल मनुष्यों के भवचक्र की व्याख्या की है, अपितु पर्यावरणीय घटकों को भी विश्लेषित किया है।स्

चतुर्थ अध्याय

वैभाषिक एवं माध्यमिक दर्शनों में प्रतिपादित प्रतीत्यसमुत्पाद का तुलनात्मक अध्ययन

प्रतीत्यसमुत्पाद गौतम बुद्ध की देशनाओं का केन्द्रीय सिद्धान्त है। इसी के साक्षात्कार से राजकुमार सिद्धार्थ ने बुद्धत्व का अधिगम किया। यह विशिष्ट प्रकार की प्रज्ञा भूमि है। प्रतीत्यसमुत्पाद का तात्त्विक चिन्तन निःस्वभावता की व्याख्या करना है। अविद्यादि द्वादशाङ्गों के अनुलोम-प्रतिलोम ढंग से प्रतीत्यसमुत्पाद का अवगाहन जितना सरल प्रतीत होता है, वैसा यह नहीं है। गौतम बुद्ध ने इसे अत्यन्त गम्भीर कहा है। आचार्य नागार्जुन ने *सुहृल्लेख* में प्रतीत्यसमुत्पाद को जिनेन्द्रिय गौतम बुद्ध के वचनों के भण्डार का बहुमूल्य रत्न एवं गम्भीरतम धर्म कहा है। जो कोई इसे सम्यक् रूप से देखता है, वह तत्त्वद्रष्टा बुद्ध को ही देखता है।[621] गौतम बुद्ध ने प्रतीत्यसमुत्पाद और धर्म को अभिन्न मानते हुये कहा है कि जो प्रतीत्यसमुत्पाद को देखता है, वह धर्म को देखता है तथा जो धर्म को देखता है, वह प्रतीत्यसमुत्पाद को देखता है।[622] आचार्य चोंखापा कहते हैं कि देशनाओं में प्रतीत्यसमुत्पाद की देशना और प्रज्ञाओं में प्रतीत्यसमुत्पाद का ज्ञान ये दोनों लोक में जिनेन्द्र की भाँति श्रेष्ठ हैं।[623]

गौतम बुद्ध ने विभिन्न दृष्टान्तों के माध्यम से जिस प्रतीत्यसमुत्पाद को विनेयजनों को समझाया, परवर्ती बौद्ध दर्शन प्रस्थानों में यह सिद्धान्त नवीन व्याख्याओं के साथ-साथ अग्रसर होते हुये विकसित हुआ। विभाषा को ही प्रमाण मानने वाले वैभाषिक जहाँ प्रतीत्यसमुत्पाद की आवस्थिक

---

[621] गम्भीरोऽनर्घकोशः प्रियः प्रतीत्योत्पादो जिनवचनानाम्। सम्यगिमं यः पश्यति स च पश्यति तत्त्वदर्शिनं बुद्धमेव॥ *सुहृल्लेख,* 112, पृ. 137

[622] यो पटिच्चसमुप्पादं पस्सति सो धम्मं पस्सति; यो धम्मं पस्सति सो पटिच्चसमुप्पादं पस्सतीति। *म.नि.*, 1/3/8, पृ. 251

[623] शास्त्रस्य मध्ये प्रतीत्योपदेशः प्रज्ञानमध्ये प्रतीत्यस्य बोधः। श्रेष्ठौ च लोकेषु जिनेन्द्रतुल्यौ सुष्ठु त्वया ज्ञायते नैव चान्यैः॥ *प्रतीत्यसमुत्पादस्तुतिसुभाषितहृदयम्,* चोंखापा, सम्पादक – ज्ञलछेन नमडोल, सारनाथ: केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, द्वितीय संस्करण, 1994, 37, पृ. 37

व्याख्या करते हुये भवचक्र का विशद् विश्लेषण करते हैं, वहीं मध्यम प्रतिपदा का अनुसरण करने वाले माध्यमिकों ने प्रतीत्यसमुत्पाद को एक ऐसे केन्द्रीय तत्त्व के रूप में स्थापित किया, जिसने समस्त बौद्ध दार्शनिक सिद्धान्तों को न केवल एकसूत्र में निबद्ध किया, वरन् यह भी स्पष्ट किया कि प्रतीत्यसमुत्पाद ही बुद्ध की देशनाओं का उद्गम और लय स्रोत है।

वैभाषिक प्रतीत्यसमुत्पाद की अवस्था में वस्तु की तीन अवस्थायें स्वीकार करते हैं- उत्पाद, स्थिति एवं भङ्ग। इन तीनों अवस्थाओं का सम्मिलित नाम ही क्षण है। उत्पद्यमान अवस्था में वस्तु उत्पादाभिमुख होती है, उत्पन्न नहीं। स्थितिकाल में उत्पन्न होकर स्थित होती है एवं भङ्ग अवस्था में विनष्ट। उत्पाद वस्तु का अनागत अस्तित्व है, स्थिति वर्तमान तथा भङ्गावस्था अतीत अस्तित्व है। इस तरह वैभाषिक स्थविरवादियों की भाँति क्षण में वस्तुओं के त्रैकालिक सत्तात्मक अस्तित्व की चर्चा करते है।

माध्यमिकों के अनुसार उत्पाद, स्थिति, भङ्ग, अस्ति, नास्ति, हीन, मध्य और उत्तम ये सभी देशनायें बुद्ध ने लोक व्यवहारवश दी हैं, तत्त्वतः नहीं।[624] माध्यमिकों के अनुसार जो वस्तुओं का परमार्थतः उत्पाद और उनका क्षणिक अस्तित्व मानते हैं, वे शाश्वतवादी ही हैं। जो प्रतीत्यसमुत्पन्न धर्मों की सांवृतिक सत्ता भी नहीं मानते, वे उच्छेदवादी हैं। माध्यमिक दृष्टिकोण के अनुसार वस्तु का स्वरूप शाश्वतवाद और उच्छेदवाद दोनों ही विचारों से इतर निःस्वभाव, नैरात्म्य अथवा शून्य है। वस्तु को निःस्वभाव अथवा शून्य मानने से स्वतन्त्रता और सृजनशीलता के लिए स्थान बचा रहता है। निःस्वभावता के कारण ही माध्यमिक मत के अनुयायियों ने न केवल दार्शनिक स्तर पर विपुल सूत्रों, स्तोत्रों अथवा साहित्य की सृजना की, अपितु वज्रयान तथा सहजयान जैसे सम्प्रदायों का विकास भी इसी से सम्भव हुआ। तिब्बत की बौद्ध परम्परा माध्यमिक मत का ही अनुसरण करती है।

वैभाषिक दर्शन भाववादी हैं। वे भावों के बाह्यार्थ को स्वीकार करते हुये, उनके प्रत्यक्षीकरण पर बल देते हैं। वहीं माध्यमिक दर्शन का अपना कोई पक्ष नहीं है, वे सभी भावों को निःस्वभाव

[624] उत्पादस्थितिभङ्गास्तिहीनसमोत्तमम्। लौकिकव्यवहारात्तु बुद्ध्येनोक्तं न तत्त्वतः॥ *शू.स.*, 1, पृ. 3

मानते हैं। पूर्वपक्षियों द्वारा शून्यता के विपक्ष में जो तर्क दिये हैं, नागार्जुन ने उनकी समीक्षा कर शून्यता की सिद्धि की है। नागार्जुन एक उदाहरण से समझाते हैं कि जैसे माया द्वारा निर्मित कृत्रिम मायावी पुरुष अपनी माया से बनाये गये कृत्रिम पुरुषों का निषेध करता है, वैसे ही हमारा प्रतिज्ञावाक्य 'सभी भाव शून्य हैं' स्वयं शून्य होते हुये भी अन्य भावों की शून्यता को सिद्ध करता है।[625] पक्ष की भाँति ही माध्यमिकों की कोई प्रतिज्ञा नहीं है। यदि कोई प्रतिज्ञा होती तो उन्हें दोष लगता।[626] माध्यमिकों का यद्यपि कोई स्वपक्ष नहीं है, तथापि पूर्वपक्षी उन पर आरोप लगाते हैं कि वे परपक्ष के खण्डन के लिए अनुमानादि का प्रयोग करते हैं। चन्द्रकीर्ति इसके समाधान में कहते हैं कि उन्मत्त के साथ तो हमारा विवाद नहीं है, प्रत्युत हेतु-दृष्टान्तवादियों के साथ है। ऐसे लोगों से विचार के लिए आचार्य को भी अपनी अनुमानप्रियता प्रकट करनी पड़ती है। वस्तुतः माध्यमिक का कोई पक्षान्तर नहीं है, इसीलिए उसे अनुमान का स्वतन्त्र प्रयोग करना युक्त नहीं है।[627] *विग्रहव्यावर्तनी* में आचार्य नागार्जुन कहते हैं कि यदि मेरी कोई प्रतिज्ञा होती तब मुझ पर अनुमान सम्बन्धी दोष लगते, किन्तु मेरा कोई पक्ष नहीं है।[628] नागार्जुन का कहना है कि यदि हम किसी अर्थ की चारों प्रमाणों से या उनमें से किसी एक से, उपलब्धि कर रहे हों अथवा उस ओर प्रवृत्त हो रहे हों अथवा उनसे निवृत्त हो रहे हों, तब तो आपका कहना ठीक हो सकता है। परन्तु हम तो उन प्रमाणों द्वारा किसी भी अर्थ की सत्ता उपलब्ध नहीं कर पा रहें है तब आपका उपालम्भ व्यर्थ है।[629]

माध्यमिक पूर्वपक्षियों के आक्षेपों का परिहार स्वपक्ष में दोषों के अप्रसङ्गापादन अर्थात् दोष न लगने की विधि से करता है। जैसे स्वतः उत्पादवादी साङ्ख्य से पूछना चाहिये कि वे कार्यात्मक

---

[625] निर्मितको निर्मितकं मायापुरुषः स्वमायया सृष्टम्। प्रतिसेधयसे यद्वत् प्रतिषेधोऽयं तथैव स्यात्॥ *वि.व्या.*, 23, पृ. 49

[626] प्रतिषेधः प्रतिषेद्ध्योऽप्येवमिति मतं भवेत् तदसदेव। एवं तव प्रतिज्ञा लक्षणतो दुष्यते न मम॥ वही, 4, पृ. 42

[627] अथ स्वाभ्युपगमविरोधचोदनयापि परो न निवर्तते, तदा निर्लज्जतया हेतुदृष्टान्ताभ्यामपि नैव निवर्तेत। न चोन्मत्तकेन सहास्माकं विवाद इति। तस्मात्सर्वथा प्रियानुमानतामेवात्मनः आचार्यः प्रकटयति अस्थानेऽप्यनुमानं प्रवेशयन्। न च माध्यमिकस्य सतः स्वतन्त्रमनुमानं कर्तुं युक्तं पक्षान्तराभ्युपगमाभावात्। *प्र.प.*, I, पृ. 13

[628] यदि काचन प्रतिज्ञा तत्र स्यादेष मे भवेद्दोषः। नास्ति च मम प्रतिज्ञा तस्मान्नैवास्ति मे दोषः॥ *वि.व्या.*, 29, पृ. 51

[629] यदि किञ्चिदुपलभेयं प्रवर्तयेयं निवर्तयेयं वा। प्रत्यक्षादिभिरर्थैस्तदभावान्मेऽनुपालम्भः॥ वही, 30, पृ. 52

से स्वतः उत्पाद मानते हैं या कारणात्मक से? यदि कार्यत्व से स्वतः उत्पाद मानें तो सिद्धसाधनता अर्थात् सिद्ध की ही सिद्धि होगी, क्योंकि कार्यात्मक का कार्यत्व स्वयं सिद्ध है, विद्यमान है। यदि कारणत्व में स्वतः उत्पाद माने तो इसमें विरुद्धार्थता होगी, क्योंकि कारण के स्वयं विद्यमान होने की अवस्था में उसके विरोधी कार्यत्व को भी स्वीकार करना पड़ेगा। इस तर्क में विद्यमानत्व हेतु माध्यमिक का नहीं है, इसलिए सिद्धसाधनता या विरुद्धार्थता का परिहार उसे नहीं करना है।[630]

चन्द्रकीर्ति उत्तर देते हुये कहते हैं कि जो व्यक्ति जिस अर्थ को जिन उपपत्तियों से निश्चयपूर्वक स्वयं जानता है, वह अपना निश्चय दूसरों में भी उत्पन्न करने की इच्छा से उन उपपत्तियों का उपदेश करता है। इस न्याय से यह सिद्ध होता है कि पर को ही स्वाभ्युपगत प्रतिज्ञा की सिद्धि के लिए हेतु आदि का उपादान करना चाहिये, माध्यमिकों को नहीं। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि दूसरे के प्रति हेतु आदि का प्रयोग नहीं होता, अपितु अपने पक्ष के निश्चय के लिए ही होता है। अन्यथा उसका पक्ष स्वयं विसम्वादित हो जायेगा, फिर वह दूसरे को स्वप्रतिज्ञा का निश्चय क्या करा सकेगा? इसलिए युक्तिहीन पक्ष का स्पष्ट दोष यही है कि वह स्वप्रतिज्ञार्थ के साधन में ही अपने को असमर्थ बना लेता है। ऐसी अवस्था में माध्यमिक को परपक्ष के अनुमान के बाधोद्भावन से भी कोई प्रयोजन नहीं रहता।[631]

वैभाषिक और माध्यमिक दोनों दर्शनों में प्रतीत्यसमुत्पाद की व्याख्या को लेकर मतवैविध्य है। वैभाषिक और माध्यमिक दोनों दर्शन अपनी-अपनी सिद्धान्त परम्परा के अनुसार व्याख्या व

---

[630] यदा चैवं स्वतन्त्रानुमानानभिधायित्वं माध्यमिकस्य, तदा कुतः " नाध्यात्मिकान्यायत नानि स्वत उत्पन्नानि" इति स्वतन्त्रा प्रतिज्ञा यस्यां सांख्याः प्रत्यवस्थाप्यन्ते। कोऽर्य प्रतिज्ञार्थः किं कार्यात्मकत्वात्स्वत उत कारणात्मकत्वादिति। किं चातः? कार्यात्मकाञ्चेत् सिद्ध साधनम्, कारणात्मकाञ्चेत् विरुद्धार्थता, कारणात्मना विद्यमानस्यैव सर्वस्योत्पत्तिमत उत्पादादिति। कुतोऽस्माकं विद्यमानत्वादिति हेतुर्यस्य सिद्धसाधनं विरुद्धार्थता वा स्यात्, यस्य सिद्धसाधनस्य यस्याश्च विरुद्धार्थतायाः परिहारार्थं यत्नं करिष्यामः। *प्र.प.*, I, पृ. 13

[631] यस्माद् यो हि यमर्थं प्रतिजानीते, तेन स्वनिश्चयवदन्येषां निश्चयोत्पादनेच्छया यया उपपत्त्या असावर्थोऽधिगतः सैवोपपत्तिः परस्मै उपदेष्टव्या। तस्मादेष तावन्न्यायः -यत्परेणैव स्वाभ्युपगतप्रतिज्ञातार्थसाधनमुपादेयम्। न चायं परं प्रति। हेतुदृष्टान्तासंभवात् प्रतिज्ञानुसारतयैव केवलं स्वप्रतिज्ञातार्थसाधनमुपादत्त इति निरुपपत्तिकपक्षाभ्युपगमात् स्वात्मान मेवायं केवलं विसंवादयन् न शक्नोति परेषां निश्चयमाधातुमिति। इदमेवास्य स्पष्टतरं दूषणं यदुत स्वप्रतिज्ञातार्थसाधनासामर्थ्यमिति किमत्रानुमानबाधोद्भावनया प्रयोजनम् ? वही, पृ. 13

विश्लेषण करते हैं। वैभाषिक और माध्यमिक दर्शनों में प्रतिपादित प्रतीत्यसमुत्पाद की तुलना कार्य-कारणवाद, प्रतीत्यसमुत्पाद के आशय, द्वादशाङ्ग व्याख्या, भवचक्र व स्कन्ध तथा प्रतीत्यसमुत्पाद के भेद-प्रभेद के आधार पर निम्न प्रकार है।

4.1. कार्य-कारणवाद सम्बन्धी तुलना

पालि साहित्य में कार्य-कारणवाद के सन्दर्भ में 'इमस्मिं सति इदं होति, इमस्सुप्पादा इदं उप्पज्जति, इमस्मिं असति इदं न होति, इमस्स निरोधा इदं निरुज्झति' बुद्ध की देशना उपलब्ध होती है, जिसका अर्थ है – 'इसके होने पर यह होता है, इसके उत्पाद से इसका उत्पाद होता है तथा इसके न होने पर यह नहीं होता, इसके निरोध से यह निरुद्ध हो जाता है।' इस देशना के दो अंश हैं। प्रथमांश से उत्पत्त्यर्थ निःसृत होता है, किन्तु केवल उत्पत्तिमात्र का ज्ञान ही प्रतीत्यसमुत्पाद नहीं है। देशना के द्वितीयांश से निरोधात्मक भाव का ज्ञान होता है। बुद्ध के प्रतीत्यसमुत्पाद का मुख्य उद्देश्य कार्य-कारणभाव का प्रतिपादन करना है। प्रतीत्यसमुत्पाद के माध्यम से गौतम बुद्ध जरामरणादि दुःखों के कारण को विश्लेषित करते हैं। समस्त संस्कृत पदार्थ अनित्य एवं क्षणिक होने से हेतुप्रत्ययजनित हैं। जगत् में हेतु के बिना कुछ भी होना सम्भव नहीं है। अतः प्रतीत्यसमुत्पाद हेतुप्रत्यय के आधार पर उत्पाद और निरोध को स्पष्ट करता है।

वैभाषिक दर्शन कार्य-कारणवाद को हेतुप्रत्ययवाद कहता है। हेतुप्रत्ययवाद में हेतु शब्द का आशय मुख्य कारण तथा प्रत्यय का आशय साहायक कारण से है। जैसे घट उत्पाद में मृत्तिका हेतु है तथा जल, दण्ड, चक्रादि बाह्य कारण प्रत्यय हैं। बाह्य कारणों से भावों के उत्पाद के कारण वैभाषिक परतः उत्पाद को स्वीकार करते हैं। वैभाषिक दर्शन में चार प्रत्यय (हेतुप्रत्यय, समनन्तरप्रत्यय, आलम्बनप्रत्यय एवं अधिपतिप्रत्यय) तथा छः हेतु (कारणहेतु, सहभूहेतु, सभागहेतु, सम्प्रयुक्तकहेतु, सर्वत्रगहेतु एवं विपाकहेतु) स्वीकार किये गये हैं। वैभाषिक दर्शन हेतु और प्रत्यय में अभिन्नता स्वीकार करता है। हेतु तथा प्रत्यय दोनों में कोई अन्तर नहीं हैं। कारणहेतु को छोड़कर अन्य सभी पाँचों हेतु हेतुप्रत्यय कहलाते हैं और कारणहेतु अधिपतिप्रत्यय कहलाता है।

वैभाषिकों के हेतुप्रत्ययवाद को माध्यमिक स्वीकार नहीं करते। माध्यमिक आचार्य नागार्जुन हेतुप्रत्ययवाद को शून्य मानते हैं। उनके अनुसार हेतु प्रत्ययों से जो उत्पन्न है, वह सब अनुत्पन्न है। क्योंकि वह स्वभाव से ही उत्पन्न नहीं है, अतः उसे शून्य से प्रकाशित किया गया है।[632] मूलमाध्यमिककारिका के प्रारम्भ में नागार्जुन ने प्रतीत्यसमुत्पाद की जो अनिरोधादि आठ विशेषतायें बताई हैं, उनमें एक अनुत्पाद भी है। उत्पत्ति ही उत्पाद है अर्थात् भावों का स्वतः उत्पन्न होना ही उत्पाद है। तत्त्व में स्वतः उत्पाद न होने से वह अनुत्पाद है। माध्यमिक मत में कोई भी वस्तु न तो स्वतः उत्पन्न होती है, न ही परतः उत्पन्न होती है। न ही दोनों कारणों से उत्पन्न होती है तथा न ही इन दोनों के बिना कारणों के उत्पन्न होती है।[633]

हेतुप्रत्यय की तुलना – वैभाषिक दर्शन कारणहेत्वादि छः हेतुओं में से सहभूहेतु, सभागहेतु, सम्प्रयुक्तकहेतु, सर्वत्रगहेतु एवं विपाकहेतु को हेतुप्रत्यय मानता है। जो परस्पर एक-दूसरे के फल हैं वे सहभूहेतु हैं। सदृश धर्म सभागहेतु होता है। चित्त और चैतसिक सम्प्रयुक्तक हेतु होते हैं। सर्वत्रग हेतु क्लिष्ट धर्मों के सामान्य कारण हैं। अकुशल और कुशल सास्रव धर्म विपाकहेतु हैं।

माध्यमिक दर्शन में सहभूहेत्वादि हेतुओं का खण्डन किया गया है। उनके अनुसार यदि वैभाषिक के भावों की उत्पत्ति से पूर्व हेतुओं की सत्ता को स्वीकार करें तथा उनसे भावों का उत्पाद मानें, तो यह असम्भव है। क्योंकि उत्पाद से पूर्व यदि हेतु होंगे, तो उनकी उपलब्धि होनी चाहिये। यदि उपलब्ध हैं, तो फिर उत्पाद व्यर्थ है। इसलिए यह सिद्ध है कि हेतुओं में कार्यों का स्वभाव नहीं है। जिनमे स्वभाव नहीं है, उनसे दूसरों का उत्पाद भी असम्भव है। वैभाषिक मत में हेत्वादि प्रत्यय इसलिये हैं, क्योंकि इनके सम्बन्ध से वस्तु उत्पन्न होती है। माध्यमिक मत अनुत्पाद में विश्वास करता है अर्थात् उनके यहाँ तो वस्तु उत्पन्न नहीं होती, तो प्रत्यय भी नहीं होते। तब उन्हें अप्रत्यय कहा जाता है।[634]

---

[632] प्रत्ययेभ्यः समुत्पन्नमनुत्पन्नं त्वयोदितम्। स्वभावेन न तज्जातमिति शून्यं प्रकाशितम्॥ *चतु.*, 3/3, पृ. 38

[633] न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः। उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन॥ *म.शा.*, 1/3, पृ. 1

[634] उत्पद्यते प्रतीत्येमानितीमे प्रत्ययाः किल। यावन्नोत्पद्यत इमे तावन्नाप्रत्ययाः कथम्॥ वही, 1/7, पृ. 1

आलम्बनप्रत्यय की तुलना – वैभाषिकों की दृष्टि में चित्त-चैत्त जिस रूपादि आलम्बन में उत्पन्न होते हैं, वह आलम्बन प्रत्यय होता है। संस्कृत एवं असंस्कृत सभी धर्म चित्त–चैत्त के आलम्बनप्रत्यय हैं। माध्यमिक आचार्य चन्द्रकीर्ति प्रश्न उत्पन्न करते हैं कि यह आलम्बनप्रत्यय विद्यमान चित्त-चैत्त का होता है अथवा अविद्यमान का। विद्यमान का आलम्बनप्रत्यय से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, क्योंकि आलम्बन के पूर्व वह भी विद्यमान है। अविद्यमान का आलम्बन युक्त नहीं होगा, क्योंकि अनुपस्थित का योग व्यर्थ ही है। इसलिये नागार्जुन ने धर्म को बिना आलम्बन के ही प्रतिपादित किया है। धर्म के आलम्बनरहित होने पर आलम्बन को अनावश्यक माना है।[635]

समनन्तरप्रत्यय की तुलना – वैभाषिक के अनुसार अर्हत् के निर्वाण काल के चित्त-चैत्त को छोड़कर, उत्पन्न अन्य समनन्तर चित्त–चैत्त समनन्तरप्रत्यय कहलाते हैं। माध्यमिक मानते हैं कि धर्मों का उत्पाद नहीं होता। जब धर्मों का उत्पाद नहीं होता तो निरोध होना विपरीतार्थक है। निरोध होने पर प्रत्यय की उत्पत्ति असम्भव होने से समनन्तरप्रत्यय नहीं होता।

अधिपतिप्रत्यय की तुलना – वैभाषिक के अनुसार कारणहेतु अधिपतिप्रत्यय कहलाता है। सभी धर्म समस्त संस्कृत धर्मों के कारणहेतु हैं तथा कार्यों के उत्पाद में विघ्न न करना ही कारणहेतु का लक्षण है।[636] माध्यमिक मत में समस्त भावों के प्रतीत्यसमुत्पन्न अर्थात् निःस्वभाव होने पर यह कहना युक्तियुक्त नहीं है कि इसके होने पर यह होता है। अतःएव माध्यमिक दर्शन में अधिपतिप्रत्यय की आवश्यकता नहीं है।

फलव्यवस्था की दृष्टि से हेतुप्रत्ययवाद की तुलना — वैभाषिकों के द्वारा प्रत्येक हेतु का फल स्वीकार किया जाता है। विपाकहेतु का विपाकफल, कारण हेतु का अधिपतिफल, सभाग और सर्वत्रग हेतु का निःष्यन्द फल तथा सहभूहेतु और सम्प्रयुक्तकहेतु का पुरुषकार फल होता है।

---

[635] अनालम्बन एवायं सन् धर्म उपदिश्यते। अथानालम्बने धर्मे कुत आलम्बनं पुनः॥ *म.शा.*, 1/10, पृ. 1

[636] संस्कृतस्य हि धर्मस्य स्वभाववर्ज्याः सर्वधर्माः कारणहेतुः, उत्पादं प्रति अविघ्नभावावस्थानात्। *अभि.को.भा.*, पृ. 222

सहभूहेतु के द्वारा वैभाषिक हेतु और फल को एककालिक मानते हैं। जैसे दीपक अपनी प्रभा के साथ ही उत्पन्न होता है, वैसे ही हेतु और फल एक काल में ही उत्पन्न होते हैं। माध्यमिक दार्शनिक हेतु के अनुपपन्न होने पर उत्पाद अर्थात् फल की सत्ता को ही नहीं मानते।

इस प्रकार वैभाषिक हेतुप्रत्ययवाद के माध्यम से प्रतीत्यसमुत्पाद की कार्य-कारण सम्बन्धी व्याख्या करता है, किन्तु माध्यमिक मत में प्रतीत्यसमुत्पाद को सत्यद्वय के आधार पर स्पष्ट किया गया है। माध्यमिकों के अनुसार व्यावहारिक स्तर पर हेतु-सामग्री को प्राप्त करके अथवा अपेक्षा करके उत्पाद प्रतीत्यसमुत्पाद है, किन्तु पारमार्थिक स्तर पर परीक्षा करने पर प्रतीत्यसमुत्पाद में कारणता नहीं है। माध्यमिक मत में प्रतीत्यसमुत्पाद एक विशिष्ट प्रकार की प्रज्ञा भूमि है, जिसका जन्म निःस्वभावता के दर्शन से होता है। निःस्वभावता को वस्तु के यथार्थ स्वरूप में स्वीकार करते हुये भी, माध्यमिक दर्शन लोकसंवृतिसत्य के स्तर पर कार्यकारण के अविच्छिन्न सम्बन्ध एवं कर्मफल की अत्यन्त प्रतिबद्धता को अस्वीकार नहीं करते।

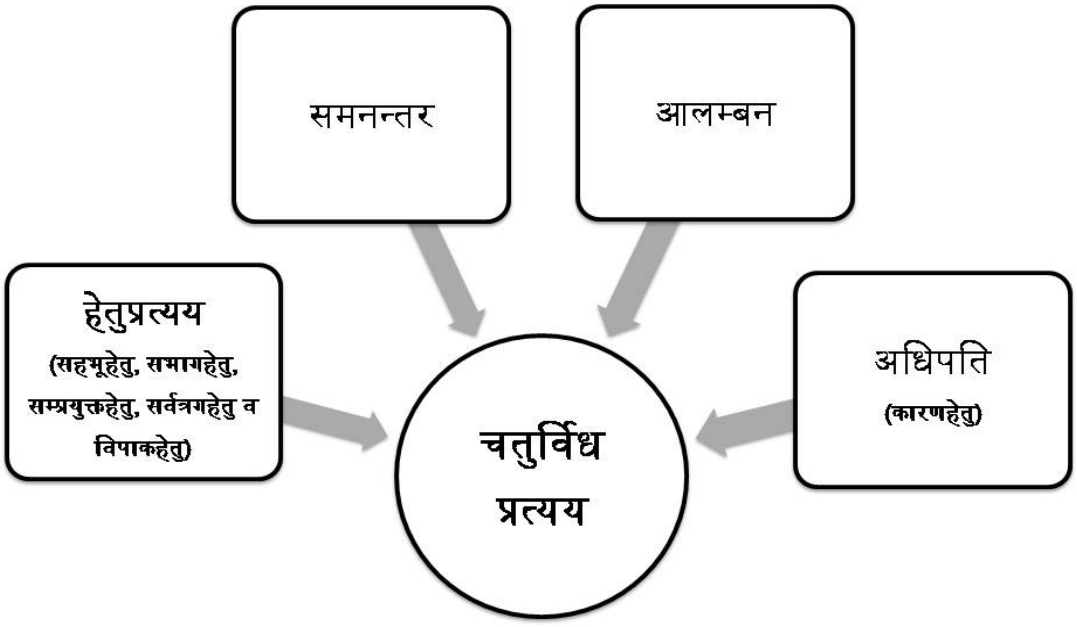

चित्र 4.1 (चतुर्विध प्रत्यय)

4.2. प्रतीत्यसमुत्पाद के आशय सम्बन्धी तुलना

शाब्दिक अर्थ सम्बन्धी तुलना - वैभाषिक आचार्य वसुबन्धु ने अभिधर्मकोशभाष्य में तथा माध्यमिक आचार्य चन्द्रकीर्ति ने प्रसन्नपदा में प्रतीत्य और समुत्पाद इन दो शब्दों के समास से प्रतीत्यसमुत्पाद शब्द को निर्मित माना है। गत्यर्थक इण् धातु से प्रति उपसर्ग के कारण प्राप्त्यर्थ ग्रहण करते हुये दोनों ने ही प्रतीत्य शब्द को ल्यबन्त माना है। वैभाषिक जहाँ प्रतीत्य शब्द का अर्थ केवल प्राप्ति ग्रहण करते हैं, वहीं माध्यमिक आचार्य प्राप्ति और अपेक्षा अर्थ स्वीकार करते हैं। दोनों ही समुत्पाद शब्द को सम् और उत् उपसर्गों के पूर्व रहते पद् धातु से निष्पन्न मानते हैं तथा प्रादुर्भाव अर्थ करते हैं। वैभाषिक और माध्यमिक दोनों ने प्रतीत्यसमुत्पाद शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ स्व-स्व दार्शनिक सिद्धान्तों के अनुसार किया है। वैभाषिक जहाँ प्रतीत्यसमुत्पाद शब्द का अर्थ प्रत्ययों को प्राप्त करके प्रादुर्भाव करते हैं,[637] वहीं माध्यमिक इसका अर्थ हेतुप्रत्ययादि की अपेक्षा करके भावों का उत्पाद अथवा प्रादुर्भाव मानते हैं।[638]

वीप्सार्थक मत के खण्डन सम्बन्धी तुलना – भदन्त श्रीलाभ ने गत्यर्थक इण् धातु को विनाशार्थक स्वीकार करते हुये, उससे तद्धित यत् प्रत्यय लगाकर 'इत्य' को व्युत्पन्न माना है। प्रति को वीप्सार्थक और इत्य को विनाशार्थक मानकर प्रतीत्यसमुत्पाद की व्युत्पत्ति 'प्रति प्रति इत्यानां विनाशिनां समुत्पाद इति प्रतीत्यसमुत्पादः' स्वीकार की है, जिसका अर्थ 'पुनः पुनः विनाशशील भावों का उत्पाद' होता है। दोनों ही इस व्युत्पत्ति को बुद्ध के कुछ वचनों जैसे *प्रतीत्यसमुत्पादनिर्देशसूत्र* के लिये युक्त मानते हैं। दोनों ही दर्शन प्रस्थानों को वीप्सार्थक मत स्वीकृत नहीं है।

समुत्पाद और समुत्पन्न सम्बन्धी तुलना - वैभाषिक दर्शन में हेतु को समुत्पाद तथा फल को समुत्पन्न कहा जाता है। अविद्यादि द्वादशाङ्गों में यदि 'अविद्या प्रत्यय से संस्कार' कहा जाये, तो

---

[637] तेन प्रत्ययं प्राप्य समुद्भवः प्रतीत्यसमुत्पादः। *अभि.को.भा.*, पृ. 358

[638] समुत्पूर्वः पदिः प्रादुर्भावार्थ इति समुत्पादशब्दः प्रादुर्भावे वर्तते। ततश्च हेतुप्रत्ययापेक्षो भावानामुत्पादः प्रतीत्यसमुत्पादार्थः। *प्र.प.*, I, पृ. 8

हेतुभूत अङ्ग होने से अविद्या प्रतीत्यसमुत्पाद तथा संस्कार प्रतीत्यसमुत्पन्न होगा। ऐसे ही यदि 'संस्कार प्रत्यय से विज्ञान' कहा जाये, तो संस्कार समुत्पाद और विज्ञान समुत्पन्न होगा। जबकि माध्यमिक दर्शन में समुत्पाद और समुत्पन्न में अभेद माना जाता है, क्योंकि माध्यमिक हेतु और फल के स्थान पर वस्तु को स्वभावरहित अर्थात् निःस्वभाव अथवा प्रतीत्यसमुत्पन्न मानते हैं।

संस्कृत अथवा असंस्कृत सम्बन्धी तुलना - संस्कृत धर्म से आशय उन धर्मों से है, जिनमें उत्पाद, स्थिति और भङ्ग ये तीन विशेषतायें विद्यमान हों। इन त्रिविध लक्षणों से रहित, संस्कृत का विपरीत असंस्कृत धर्म कहलाता है। वैभाषिक प्रतीत्यसमुत्पाद को संस्कृत धर्म मानते हैं, जबकि माध्यमिक प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ शून्यता करते हैं। उनके अनुसार प्रतीत्यसमुत्पाद न तो संस्कृत धर्म है और न ही असंस्कृत धर्म।

पर्यायद्वय निर्देश व नीतार्थ-नेयार्थ सम्बन्धी तुलना - तथागत द्वारा प्रतीत्यसमुत्पाद का निर्देश 'अस्मिन् सतीदं भवति, अस्योत्पादादिदमुत्पद्यते' इन दो पर्यायों से किया गया है। प्रथम पर्याय के अनुसार इसके होने पर यह होता है तथा द्वितीय के अनुसार उसकी उत्पत्ति से यह उत्पन्न होता है। इन दोनों वाक्यों का अर्थ वैभाषिक और माध्यमिक दर्शनों में भिन्न- भिन्न दृष्टिगत होता है। वैभाषिक जहाँ इसका अर्थ कार्यकारण भाव मान लेते हैं तथा उसे संस्कृत धर्ममात्र पर लागू करते हैं। वहीं माध्यमिक दर्शन इन दोनों वाक्यों से दो पृथक्-पृथक् अर्थ निकालते हैं। 'अस्मिन् सति इदं भवति' से सापेक्षता का सिद्धान्त निःसृत होता है, वहीं दूसरे वाक्य से कार्यकारण भाव सिद्धान्त उत्पन्न होता है। माध्यमिक मत में प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धान्त समस्त धर्मों पर लागू होता है।

वैभाषिक दर्शन द्वारा बुद्ध की देशनाओं को द्विविध पर्याय से युक्त माना जाता है। मध्यमिक दार्शनिक बुद्धवचनों को समझने के लिये पर्यायद्वय के स्थान पर नीतार्थ और नेयार्थ को ग्रहण करते हैं। उनके अनुसार नीतार्थ से आशय बुद्ध भाषित निःस्वभावता अथवा शून्यता से है तथा नेयार्थ का आशय सभी धर्मों से है। नेयार्थ की अपेक्षा नीतार्थ ही माध्यमिक को ग्राह्य है। बुद्धवचनों के नीतार्थ के लिये माध्यमिक आचार्य भगवान् की उत्पादादि देशनाओं को

मृषाभिप्रायिक कहते हैं। बुद्ध पर मृषावादी होने का आरोप न लगे, इसलिये लोकसंवृतिसत्य और परमार्थसत्य को स्वीकार करते हैं।

दर्शन के केन्द्रीभूत सिद्धान्त सम्बन्धी तुलना – वैभाषिक दर्शन का केन्द्रीय सिद्धान्त धर्मप्रविचय है। उनके अनुसार धर्मों के प्रविचय के बिना क्लेशों की शान्ति का कोई अन्य उपाय नहीं है। धर्म-प्रविचय से आशय पुष्पों के सदृश बिखरे हुये धर्मों को चुनने तथा उनके संस्कृत – असंस्कृत आदि में वर्गीकृत करने से है। वैभाषिकों के लिये प्रतीत्यसमुत्पाद हेतुप्रत्ययवाद है। संस्कृत धर्मों के उत्पादादि का ज्ञान प्रतीत्यसमुत्पाद से होता है।

माध्यमिक दर्शन का केन्द्रीय सिद्धान्त प्रतीत्यसमुत्पाद ही है। जिस प्रतीत्यसमुत्पाद को आचार्य नागार्जुन ने मूलमाध्यमिककारिका के प्रारम्भ में अनिरोध, अनुत्पाद, अनुच्छेद, अशाश्वत, अनेकार्थ, अनानार्थ, अनागम और अनिर्गम इन आठ विशेषताओं से युक्त कहा है, उसे ही माध्यमिक दर्शन में तत्त्व, शून्यता अथवा मध्यमप्रतिपदा शब्दों से भी अभिहित किया जाता है। माध्यमिक दर्शन में बीस प्रकार की शून्यता स्वीकार की गई है। इन बीस शून्यताओं में से अध्यात्मशून्यता से वैभाषिक भी सहमत हैं। अध्यात्मशून्यता से वैभाषिक पुद्गलनैरात्म्य अथवा अनात्मवाद की सिद्धि करते हैं। माध्यमिकों ने पुद्गलनैरात्म्य के साथ-साथ धर्मनैरात्म्य को भी स्वीकार किया है। इसके द्वारा माध्यमिक बाह्य जगत् के मूल में आत्मा की असिद्धि करते हैं।

4.3 द्वादशाङ्ग व्याख्या सम्बन्धी तुलना

विसुद्धिमग्ग से ज्ञात होता है कि द्वादशाङ्गों में कहीं गौतम बुद्ध ने अविद्या से अनुलोम क्रम में जरामरण तक, कहीं वेदना से अनुलोम क्रम में जरामरण तक, कहीं जरामरण से प्रतिलोम क्रम में अविद्या तक, कहीं तृष्णा से प्रतिलोम क्रम में अविद्या तक की देशना दी है। परवर्ती बौद्ध दार्शनिक ने द्वादशाङ्ग की इस चतुर्धा देशना का स्पष्टीकरण तथा विश्लेषण न करते हुये प्रतीत्यसमुत्पाद को अविद्यादि द्वादशाङ्गों से युक्त ही स्वीकार किया है। ये बारह अङ्ग हैं –

अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति और जरामरण।[639]

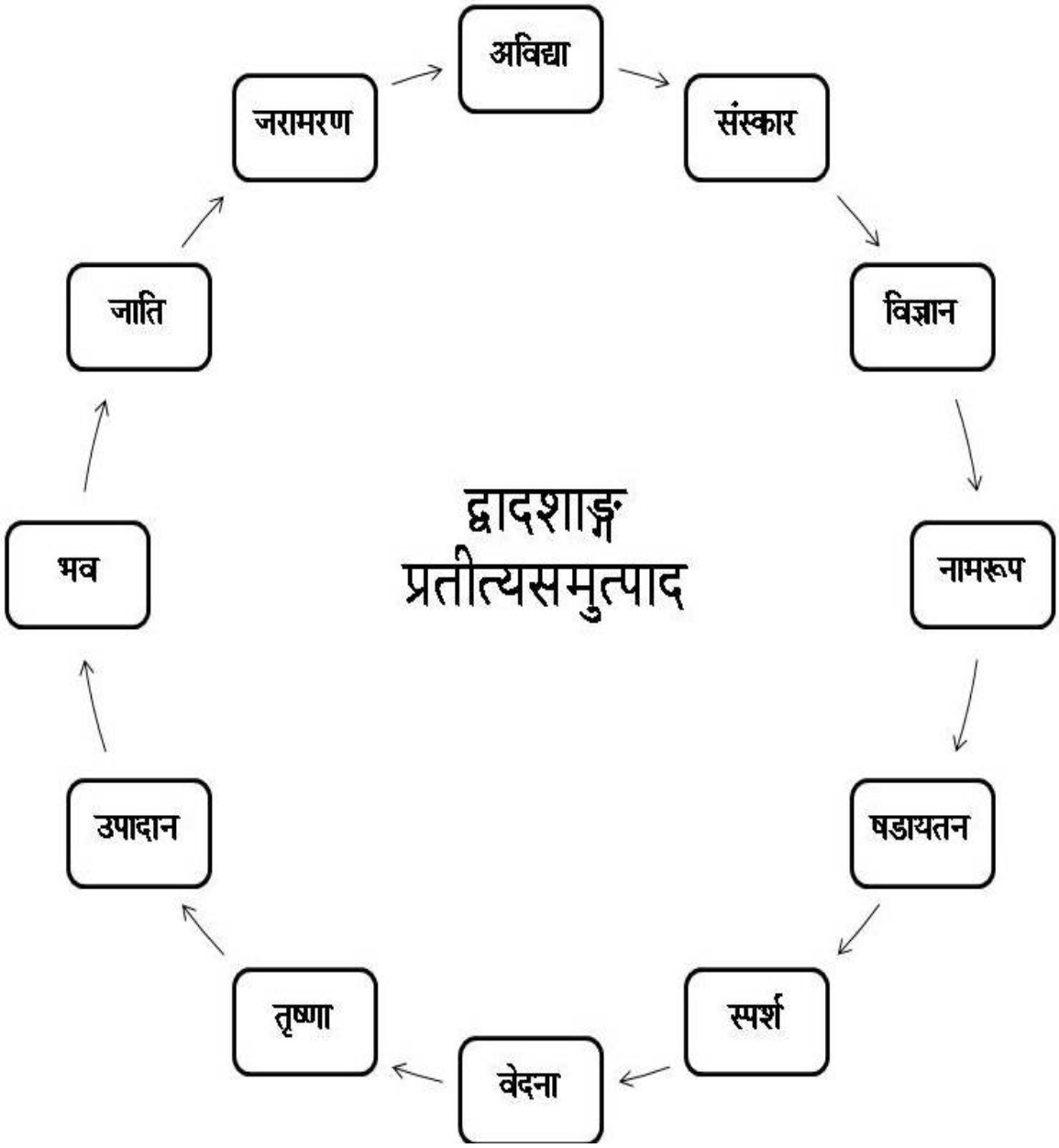

चित्र 4.2 (द्वादशाङ्ग प्रतीत्यसमुत्पाद)

[639] द्वादशाङ्गप्रतीत्यसमुत्पादः। अविद्या, संस्काराः, विज्ञानम्, नामरूपम्, षडायतनम्, स्पर्शः, वेदना, तृष्णा, उपादानम्, भवः, जातिः, जरामरणम्, शोकपरिदेवदुःखदौर्मनस्योपायासाश्चेति॥ *ध.सं.*, 42, पृ. 24

वैभाषिक और माध्यमिक दोनों दर्शनों में अविद्यादि द्वादशाङ्गों को क्लेश (अविद्या, तृष्णा और उपादान), कर्म (संस्कार तथा भव) और वस्तु अर्थात् फल (विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, जाति और जरामरण) के आधार पर तीन प्रकार से वर्गीकृत किया है। माध्यमिकों ने वस्तु को दुःख शब्द से अभिहित किया है। वैभाषिक क्लेश और कर्म से उत्पन्न फल को वस्तु कहते हैं, जो दुःख ही होता है। अतः एव माध्यमिकों ने इसे स्पष्ट शब्दों में दुःख कहा है।

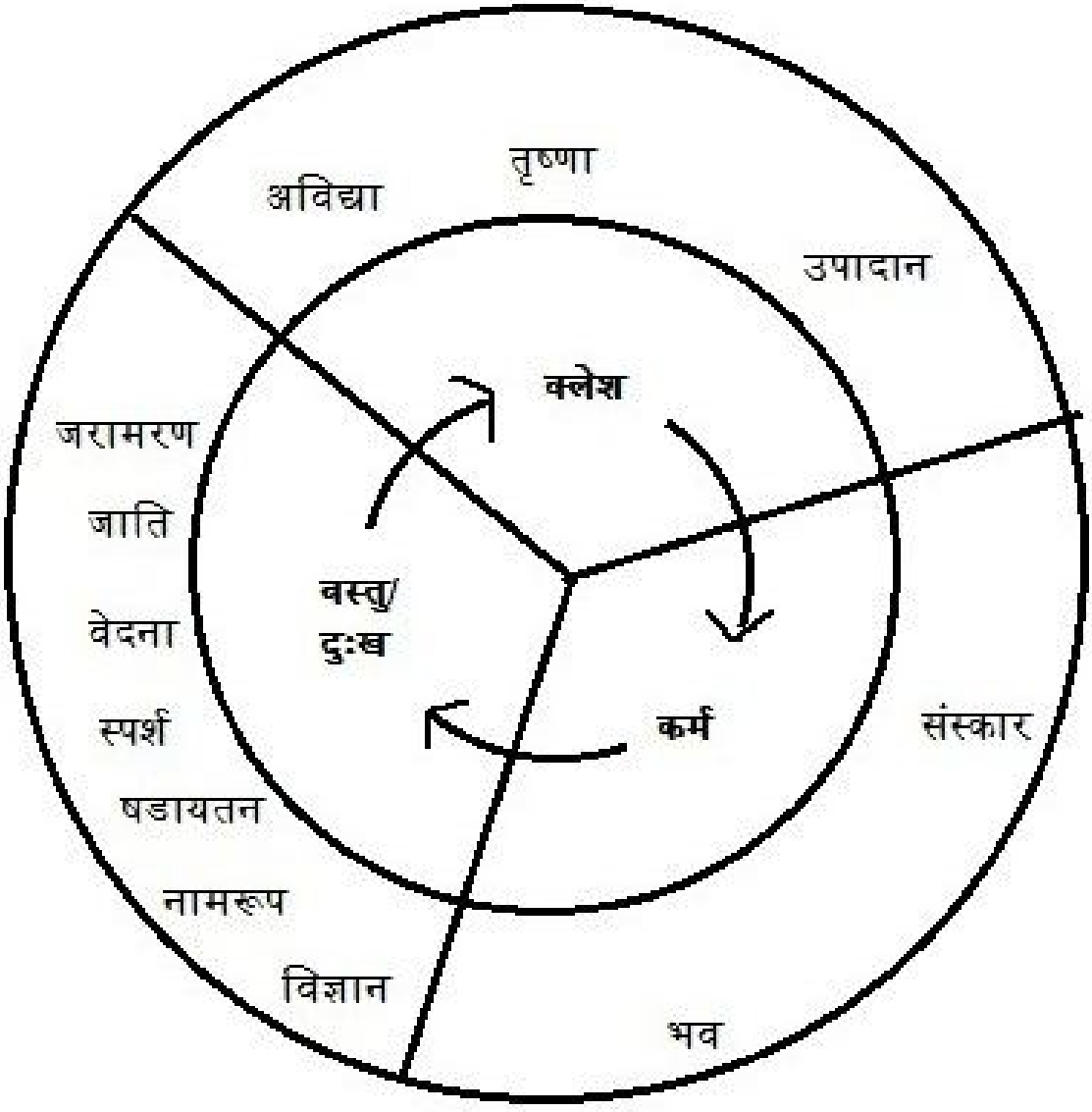

चित्र 4.3 (द्वादशाङ्ग का त्रिविध विभाजन)

अभिधर्मकोशभाष्य में द्वादशाङ्गों से सम्बन्धित एक समस्या का उल्लेख किया गया है। यदि यह मान लिया जाये कि प्रतीत्यसमुत्पाद के मात्र बारह अङ्ग हैं, तो हेतु निर्दिष्ट नहीं होने से अविद्या को संसरण की प्रथम कोटि स्वीकार करना होगा तथा फल निर्दिष्ट नहीं होने से जरामरण को संसरण की अन्तिम कोटि मानना पड़ेगा। यदि आदि और अन्तिम कोटि नहीं मानते हैं, तो नवीन अङ्गों को जोड़ने से अनन्तता आ जायेगी।[640]

वैभाषिक और माध्यमिक दोनों ही उपर्युक्त मत को स्वीकार नहीं करते हैं। दोनों ही द्वादशाङ्ग को भवचक्र के रूप में देखते हैं। अर्थात् अविद्यादि बारह अङ्ग चक्रवत् परिवर्तित होते है, न कि रेखीय। दोनों ही द्वादशाङ्गों को क्लेश, कर्म और वस्तु/दुःख के रूप में विभाजित करते हैं। दोनों का मानना है कि क्लेश से क्लेश और कर्म की उत्पत्ति होती है, कर्म से वस्तु की, वस्तु से पुनः वस्तु और क्लेश की उत्पत्ति होती है। अविद्या से संस्कार का, तृष्णा से उपादान का, उपादान से भव का उत्पाद होता है। संस्कार से विज्ञान, विज्ञान से नामरूप, नामरूप से षडायतन, षडायतन से स्पर्श, स्पर्श से वेदना, वेदना से भव, भव से जाति एवं जाति से जरामरण का उत्पाद होता है। विज्ञानादि सात दुःखों अथवा वस्तुओं से पुनः तीन क्लेशों का उत्पाद होता है तथा यह भवचक्र पुनः पुनः भ्रमण करता रहता है।

वैभाषिक और माध्यमिक दार्शनिकों ने द्वादशाङ्गों का जो विश्लेषण किया है, उनका तुलनात्मक अध्ययन निम्न प्रकार है –

अविद्या — अविद्या से आशय गौतम बुद्ध ने दुःख, दुःखसमुदय, दुःखनिरोध और दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदा - इन चार आर्यसत्यों के विषय में उत्पन्न अज्ञान से बताया है। वैभाषिकों ने पूर्वजन्म की क्लेशावस्था को अविद्या कहा है। जैसे अमित्र मित्र का अभाव मात्र न होकर मित्र का विपक्ष है, वैसे ही वैभाषिकों ने अविद्या को विद्याभाव न मानकर विद्या का विपक्ष स्वीकार किया है। माध्यमिक मत में अविद्या से आशय शून्यता अथवा तत्त्व में अविश्वास

[640] यदि खलु द्वादशाङ्ग एव प्रतीत्यसमुत्पादः, एवं सत्यविद्याया अनुपदिष्टहेतुकत्वादादिमान् संसारः प्राप्नोति, जरामरणस्य चानुपदिष्टफलत्वादन्तवान्। अङ्गान्तरं वा पुनरुपसङ्ख्यातव्यं तस्याप्यन्यस्मादित्यनवस्थाप्रसङ्गः? *अभि.को.भा.*, पृ. 350

और अज्ञान में विश्वास से किया गया है। वैभाषिक तथा माध्यमिक दोनों ही यह मानते हैं कि क्लेश से कर्म की उत्पत्ति होती है, अतः अविद्या से संस्कार की उत्पत्ति होती है।

संस्कार— वैभाषिक और माध्यमिक दोनों ही संस्कार को पूर्वजन्म की कर्मावस्था मानते हैं। दोनों मानते हैं कि अविद्या से आच्छादित पञ्चस्कन्ध पुनर्भव के लिये अभिसंस्कार करता है अर्थात् शरीर रूप में जन्म ग्रहण करने के लिये गर्भ में आते हैं। अविद्या और संस्कार दोनों ही पूर्वजन्म की अवस्थायें हैं। दोनों के अभाव में वर्तमान जन्म का विज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता। वैभाषिक और माध्यमिक दोनों ही संस्कार को कुशल, अकुशल और आनेञ्ज भेद से तीन प्रकार का स्वीकार करते हैं। दोनों ही कायिक, वाचिक और मानसिक त्रिविध भेद से संस्कार के अन्य भेद स्वीकार करते हैं। नागार्जुन ने सभी संस्कारों की तुलना गन्धर्वनगर, माया, मरीचि आदि के साथ करके उन्हें मिथ्या कहा है।

विज्ञान— वैभाषिक और माध्यमिक दोनों का मानना है कि वर्तमान भव का प्रारम्भ संस्कारानुरूप पञ्चस्कन्ध के माता की कुक्षि में स्थापित होने से होता है। पञ्चस्कन्ध से आशय रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान स्कन्ध से है। रूपादि इन पञ्चस्कन्धों का बीजारोपण ही विज्ञान कहलाता है।

नामरूप — विज्ञान से नामरूप की उत्पत्ति होती है। वैभाषिक आचार्य वसुबन्धु और माध्यमिक आचार्य चन्द्रकीर्ति दोनों ने ही नाम शब्द के दो अर्थ नमित और सञ्ज्ञा किये हैं। कर्म से क्लिष्ट होकर जो विभिन्न योनियों में विज्ञान को नमित करता है अथवा झुकाता है नाम कहलाता है। द्वितीय अर्थ सामान्यतः लोकप्रथित सञ्ज्ञा अर्थ में ही प्रयुक्त है। वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान ये चारों अरूपी स्कन्ध नाम कहलाते हैं। जो बाधा उपस्थित करता है, दोनों दर्शन ही उसे रूप कहते हैं।

माध्यमिक आचार्यों ने पाँचों स्कन्धों की उपमायें बताई हैं। दार्शनिक जगत् में चन्द्रकीर्ति की ये उपमायें प्रसिद्ध हैं। उन्होंने रूप की उपमा फेनपिण्ड से, वेदना की उपमा बुद्बुद् से, सञ्ज्ञा की

उपमा मरीचि से, संस्कार की उपमा केले के डण्ठल की परतों से तथा विज्ञान की उपमा माया से की है।[641]

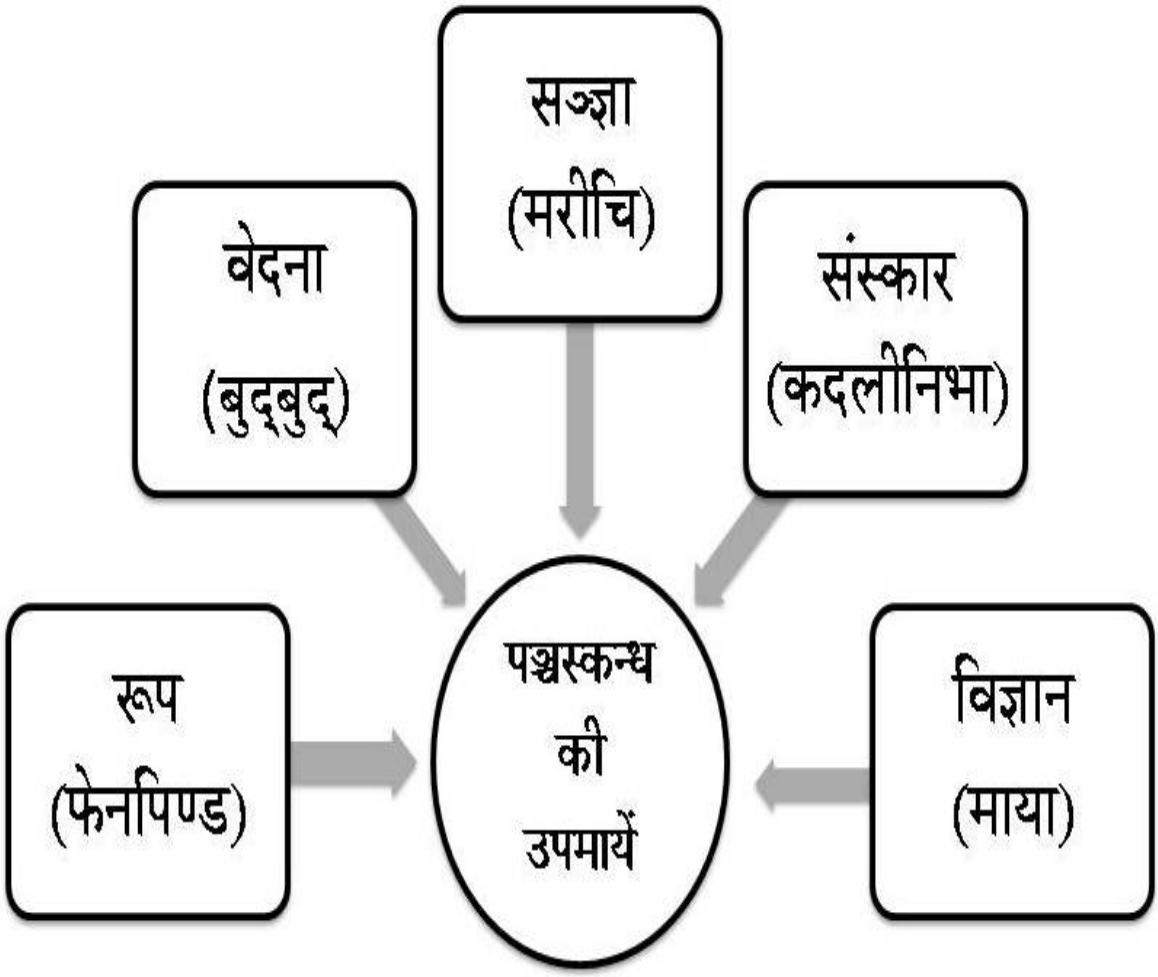

चित्र 4.4 (पञ्चस्कन्ध की उपमायें)

षडायतन— षडायतन से आशय चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना और मन नामक छः इन्द्रियों से है। वैभाषिक और माध्यमिक दोनों ही षडायतन को स्पर्श से पूर्व की अवस्था मानते है तथा इसकी उत्पत्ति नामरूप से मानते हैं।

[641] फेनपिण्डोपमं रूपं वेदना बुद्बुदोपमा। मरीचिसदृशी सञ्ज्ञा संस्काराः कदलीनिभाः। मायोपमं च विज्ञानमुक्तमादित्यबन्धुना॥ *प्र.प.*, I, पृ. 17; II, पृ. 246-47

नागार्जुन ने *माध्यमिककारिका* के तृतीयप्रकारण में चक्षुरादि षट् इन्द्रियों की परीक्षा की है। वैभाषिकों का मानना है कि देखना, सुनना, सूंघना, चखना, छूना और धर्म ये विषय क्रमशः चक्षुरादि इन्द्रियों के है। नागार्जुन के अनुसार चक्षुरादि इन्द्रियों को द्रष्टा और उनके विषयों को द्रष्टव्य मानकर इन भावों को निःस्वभाव अथवा शून्य सिद्ध किया गया है।

स्पर्श— षडायतन को प्राप्त करके स्पर्श का उत्पाद होता है। वैभाषिक और माध्यमिक दोनों ही त्रिकसन्निपात् अर्थात् रूप, विज्ञान और चक्षु इन तीनों के सन्निपात को स्पर्श कहते हैं। वस्तुतः द्वादशाङ्गों में वेदना के स्थूल अनुभव से पूर्व की अव्यक्तावस्था ही स्पर्श है।

वेदना— वैभाषिकों और माध्यमिक दोनों दर्शनों में वेदना के लिये 'वित्ति' शब्द का भी प्रयोग किया गया है। वैभाषिक दर्शन में मैथुन–राग के उदय से पूर्व की अवस्था वेदना है, जबकि माध्यमिक दर्शन में वेदन का ज्ञान वेदना है। वेदन से तात्पर्य इष्ट, अनिष्ट और उभय तथा अनुभय विषयों के प्रति अनुभूति और विषयों के अनुभव से है। दोनों ने ही वेदना को तीन प्रकार का माना है – सुखद वेदना, दुःखद वेदना और अनुभय वेदना। वैभाषिकों ने वेदना के अठारह प्रभेदों का वर्णन किया है।

तृष्णा— वैभाषिकों के अनुसार भोग और मैथुन की कामना करने की अवस्था तृष्णा है। जबकि माध्यमिक उसे ही अन्य शब्दों से सम्बोधित करते हैं। माध्यमिक के अनुसार वेदना के प्रति चाह होने से ही वेदना प्रत्यय से तृष्णा होती है। दोनों दर्शन ही वेदनात्रय से त्रिविध तृष्णा की उत्पत्ति स्वीकार करते है। सुखद वेदना के उत्पन्न होने से उसे प्राप्त करने की तृष्णा, दुःखद वेदना से विसंयोग की तृष्णा और अनुभय वेदना से आरुप्यतृष्णा की उत्पत्ति होती है।

उपादान— वैभाषिक के अनुसार भोगों की सम्प्राप्ति में सर्वत्र प्रधावन करने की अवस्था उपादान है। वैभाषिक एवं माध्यमिक दोनों दर्शनों के अनुसार त्रिविधा वेदनाओं में आसक्त तृष्णाप्रत्यय से कामादि चतुर्विध उपादानों का समुदाचार होता है। चार उपादान हैं- कामोपादान, दृष्टि उपादान, शीलवृतोपादान, आत्मवादोपादान। कामोपादान से आशय रूप, शब्द, गन्ध, रस एवं स्प्रष्टव्य इन पाँच कामगुणों से हैं। दृष्टि उपादान से आशय मिथ्या दृष्टियों से है। इन मिथ्यादृष्टियों का उल्लेख *दीघनिकाय* के ब्रह्मजालसूत्र में किया गया है। शील शब्द का आशय दौःशील्य के

प्रतिषेध से है तथा व्रत शब्द से आशय कुक्कुर–गोव्रतादि से है। इन नियमों का समादान शीलव्रतोपादान हैं। आत्मवादोपादान से आशय आत्मा की सत्ता को स्वीकार करने से है।

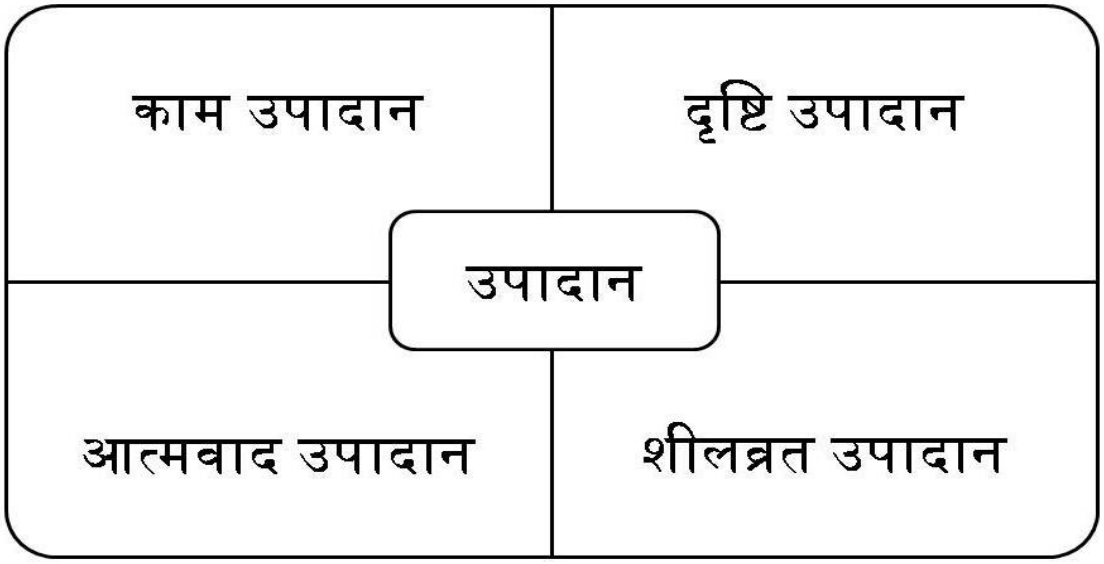

चित्र 4.5 (चतुर्विध उपादान)

भव— उपादान के होने पर भव होता है। भव वर्तमान तथा भविष्य जीवन का मध्य बिन्दु है। दोनों दर्शन इस पर एक मत हैं कि यदि उपादान का निरोध हो जाये, तो भव नहीं होगा उपादान के कारण ही भव होता है।

जाति— दोनों दर्शन मानते हैं कि भव तक एक जन्म सम्पूर्ण होता है। भव के अनन्तर पुनः प्रतिसन्धि होती है, जिसे जाति कहा जाता है। मरण के पशचात् प्रतिसन्धिकाल में पञ्चस्कन्धों की जो अवस्था होती है उसे जाति कहा जाता है। गर्भ के आरम्भ में जो विज्ञान है, वही अनागत अवस्था में जाति है।

जरामरण— जाति से जरा, मरण, शोक, परिदेव, दुःख, दौर्मनस्य, उपायास उत्पन्न होते हैं । जरामरणादि को ही तथागत ने दुःख स्कन्ध कहा है, जिसका समुदय जाति से होता है। वैभाषिकों के अनुसार प्रत्युत्पन्न भव के चार अङ्ग— नामरूप, षडायतन, स्पर्श और वेदना ये चारों अनागतभव के सम्बन्ध में ही जरामरण कहलाते हैं।

उपर्युक्त बारह अङ्गों को भवचक्र कहा जाता है। तीन जन्मों से इन्हें सम्बद्ध करते हुये अविद्या और संस्कार को अतीत जन्म से, जाति और जरामरण को अनागत जन्म से और शेष आठ को वर्तमान जन्म से वर्गीकृत किया जाता है।

4.4 भवचक्र और स्कन्ध

कर्म सिद्धान्त के अनुसार नैतिक जगत् में अनिश्चित एवं मनमाना कुछ नहीं है। हम वही काटते हैं जो बोते हैं। पुण्य के बीज से पुण्य की खेती फलेगी, पाप का फल भी पाप होगा।[642] कोई भी व्यक्ति क्षण मात्र भी बिना कर्म के नहीं रह सकता, क्योंकि समस्त जनसमुदाय प्रकृति जनित गुणों द्वारा कर्म करने को बाध्य होता है।[643] कर्म-फल के आधार पर पुनर्जन्म का निर्धारण होता है। पुनर्जन्म किसका होता है? कर्म कौन करता है? फल को प्राप्त कौन करता है? इन प्रश्नों का उत्तर *श्रीमद्भगवद्गीता* में आत्मा की स्वीकरोक्ति से दिया गया है। यह आत्मा जीर्ण शरीर को त्यागकर नवीन शरीर वैसे ही ग्रहण करती है जैसे मानव पुराने वस्त्रों को बदलकर नवीन वस्त्र ग्रहण करता है।[644] कर्म का कर्त्ता और फल का प्राप्ता अथवा भोक्ता आत्मा ही होती है। आत्मा ही एक भव से दूसरे भव में संसरण करती है।

बौद्ध दर्शन परम्परा आत्मा के सिद्धान्त को अस्वीकार करती है। गौतम बुद्ध के अनुसार कर्म तथा फल दोनों का अस्तित्व है, किन्तु कोई कारक अर्थात् कर्त्ता नहीं है।[645] तथागत का यह सङ्केत आत्मा के अनस्तित्व को बतलाता है। वैभाषिक आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। वे रूपादि पञ्चस्कन्ध को ही मानते हैं। इन स्कन्धों में से पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु- इन चार भौतिक तत्त्वों का परिणाम रूपस्कन्ध है, जिसे शरीर कहते हैं। वेदना, सञ्ज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान इन चारों को नामस्कन्ध कहा जाता है। वैभाषिकों का मानना है कि पञ्चस्कन्ध संसरण

---

[642] राधाकृष्णन, *भारतीय दर्शन*, अनुवादक - नन्दकिशोर गोभिल, दिल्ली: राजपाल, 2012, I, पृ. 200

[643] *श्रीमद्भगवद्गीता*, अनुवादक – श्रीहरिकृष्णदास गोयन्दका, गोरखपुर: गीताप्रेस, 2061 विक्रम सम्वत्, 3/5, पृ. 87

[644] वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि। तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥ वही, 2/22, पृ. 48

[645] अस्ति कर्मास्ति विपाकः, कारकास्तु नोपलभ्यते। *अभि.को.भा.*, पृ. 341

में असमर्थ हैं तथा क्षणिक हैं। ये स्कन्ध कर्म और क्लेश से अभिसंस्कृत होकर अन्तराभव सन्तति के द्वारा माता की कुक्षि में प्रवेश करते हैं। वहाँ कललादि गर्भावस्थाओं से क्रमशः गुजरते हुये जन्म तक पहुँचता है। यह स्कन्ध उपपत्तिभव से मरणभव तथा मरणभव से उपपत्तिभव तक गमन करते रहते हैं।

एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या मरणभव का पञ्चस्कन्ध ही जन्म ग्रहण करता है, या नवीन होता है, या उससे भिन्न होता है? इसे अनेक उदाहरणों से समझाया जा सकता है। यदि किसी अध्यापक ने शिष्य को एक कारिका सुनायी। सुनकर शिष्य ने वह कारिका याद की तथा पुनः अध्यापक को सुनायी। 'अध्यापक द्वारा शिष्य को सुनाई गई कारिका' तथा 'शिष्य द्वारा अध्यापक को सुनाई गई कारिका' इन दोनों स्थितियों में क्या एक ही कारिका है? क्या अध्यापक के मुख से निकलकर वही कारिका शिष्य के कानों से जाकर शिष्य मुख से बाहर आयी? क्या शिष्य द्वारा सुनाई गई कारिका भिन्न है? इस उदाहरण में आचार्य और शिष्य दोनों के द्वारा सुनायी गयी कारिका न भिन्न है, न अभिन्न है, न उभय है तथा न अनुभय है। वह शून्य वैसे ही मरणभव और उपपत्तिभव का पञ्चस्कन्ध न भिन्न है, न अभिन्न है, न उभय है तथा न अनुभय है। वह निःस्वभाव होने से शून्य है।

आत्मा के अस्तित्व पर प्रश्नचिह्न लगाते हुये गौतम बुद्ध ने नदी प्रवाह में स्नान तथा दीपक की लौ के उदाहरणों की देशना दी। क्या नदी के उसी प्रवाह में बार-बार स्नान सम्भव है, जहाँ कोई मनुष्य प्रथम बार स्नान करता है? क्या दीपक की लौ वही होती है, जो प्रारम्भ में होती है अथवा नवीन होती है?

माध्यमिक दार्शनिक वैभाषिकों की भाँति आत्मा को स्पष्ट शब्दों में अस्वीकार न करते हुये उसकी परीक्षा करते हैं। उनके अनुसार यदि स्कन्ध ही आत्मा है तो आत्मा की उत्पत्ति और विनाश भी मानना होगा। यदि आत्मा को स्कन्ध से इतर मानते हैं तो स्कन्ध के लक्षणों से रहित स्वीकार करना होगा।[646] आत्मा के अस्तित्व और अनस्तित्व को आधार बनाकर माध्यमिक

[646] आत्मा स्कन्धा यदि भवेदुदयव्ययभाग्भवेत्। स्कन्धेभ्योऽन्यो यदि भवेद्भवेदस्कन्धलक्षणः॥ *म.शा.*, 18/1, पृ. 17

आचार्य चन्द्रकीर्ति आत्मा को एक अन्त तथा नैरात्म्य को दूसरा अन्त मानते हैं।[647] इन दोनों के मध्य में स्थित ही तत्त्व है।

अन्तराभव के समय वाले पञ्चस्कन्ध ही जन्म लेते हैं अथवा अन्य। माध्यमिक आचार्यों के अनुसार रूपादि पञ्चस्कन्ध की प्रतिसन्धि के समय इनको हेतु बनाकर अन्य पञ्चस्कन्ध जन्म लेते हैं। वे ही पञ्चस्कन्ध जन्म नहीं लेते, जो हैं। आचार्य नागार्जुन ने स्वाध्याय, दीपक, मुद्रा, दर्पण, घोष, सूर्यकान्त मणि, बीज और अम्ल के उदाहरण से नागार्जुन प्रतिसन्धि को स्पष्ट करते हैं। इन उदाहरणों के द्वारा स्वभावतः आत्मा को असिद्ध किया है। मरणकालिक चित्त भी अपरिवर्तित रहते हुये परलोक में गमन नहीं करता। यदि ऐसा माना जायेगा तो शाश्वत होने का दोष उत्पन्न हो जायेगा। न ही परलोक भी किसी अन्य से होता है, क्योंकि ऐसा होने पर अहेतुकदोष उत्पन्न हो जायेगा।

वैभाषिकों ने भवचक्र का विशद् विश्लेषण किया है। उन्होंने सत्त्व की चार योनियों अण्डज, जरायुज, संस्वेदज तथा उपपादुक का वर्णन किया है। वैभाषिकों ने बताया है कि इन चारों योनियों में यद्यपि शुक्र-शोणित के अभाव वाली उपपादुक योनि श्रेष्ठ है, किन्तु फिर भी मनुष्यों के उत्साह हेतु बोधिसत्त्व जरायुज योनि में जन्म लेते हैं। वैभाषिक मरणभव और उपपत्तिभव के मध्य अन्तराभव को मानते हैं। अन्तराभव से जन्म, जन्म से जरामरणादि दुःखों का वर्णन वैभाषिकों ने किया है।

द्वादशाङ्गों में अविद्या और संस्कार गर्भस्थापन से पूर्व की अवस्थायें हैं। उनके बाद पाँचों स्कन्ध गर्भ में आते हैं। माता की कुक्षिगत अनुपजात दशा विज्ञान है। उसके बाद जन्म लेने तक दो अवस्थायें होती हैं, जिन्हें नामरूप और षडायतन कहा जाता है। जब षडायतन के रूप में यह सङ्घातमय शरीर जन्म ले लेता है, तो उसके बाद स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान और भव ये पाँच अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं। कर्म की वह शक्ति भव है, जो कृत और उपचित कार्यों के फलस्वरूप पुनर्भव का कारण बनती है। शरीर के रूप में संगठित पञ्चस्कन्ध जब बिखर जाते हैं तो अनागत जीवन में जाति और जरामरण ये दो अवस्थायें होती हैं। वर्तमान जीवन का विज्ञान अगले जीवन

---

[647] आत्मेति काश्यप अयमेकोऽन्तः। नैरात्म्यमित्ययं द्वितीयोऽन्तः। *प्र.प.*, II, पृ. 64

या पुनर्भव के लिए जाति के रूप में विद्यमान रहता है और वर्तमान जीवन के नामरूप, षडायतन, स्पर्श और वेदना ये अगले जीवन को उत्पन्न करने के लिए जरामरण के रूप में रहते हैं। वैभाषिक व माध्यमिक आचार्य आत्मा के सिद्धान्त में विश्वास नहीं करते हैं। वैभाषिकों और माध्यमिक दोनों का ही मानना है कि आत्मा का सिद्धान्त न केवल सम्यक् दृष्टि के विकास में बाधक है, वरन् तत्त्व के दर्शन में भी विरोधी है। माध्यमिक दर्शन का ध्येय भावों की निःस्वभावता सिद्ध करने में अधिक है। अतः उनके अनुसार शून्यता अथवा प्रतीत्यसमुत्पाद की भावना से ज्ञानी तत्त्व का दर्शन करता है, जिससे उसकी अविद्या का निरोध हो जाता है। अविद्या के निरोध होने से संस्कार का निरोध हो जाता है। संस्कार से विज्ञान, विज्ञान से नामरूप, नामरूप से षडायतन, षडायतन से स्पर्श, स्पर्श से वेदना, वेदना से तृष्णा, तृष्णा से उपादान, उपादान से भव, भव से जाति तथा जाति से जरामरण का निरोध हो जाता है।

4.5 प्रतीत्यसमुत्पाद के भेद-प्रभेद सम्बन्धी तुलना

अभिधर्मकोशभाष्य में विभिन्न व्याख्याओं को आधार बनाकर प्रतीत्यसमुत्पाद को चार प्रकार का माना गया है। ये चार प्रकार हैं - क्षणिक, प्राकृषिक, साम्बन्धिक तथा आवस्थिक। एक क्रिया की निष्पत्ति में द्वादशाङ्गों का एक क्षण में ही पूर्ण होना जो स्वीकार करते हैं, उनके प्रतीत्यसमुत्पाद को क्षणिक प्रतीत्यसमुत्पाद कहलाता है। प्रकर्षयुक्त होने से जो अनेक क्षणों एवं जन्मों से सम्बन्ध मानते हैं, उनका प्रतीत्यसमुत्पाद प्राकर्षिक कहलाता है। हेतुफल उभयक्षण सम्बन्धित होने के कारण साम्बन्धिक प्रतीत्यसमुत्पाद कहा जाता है। द्वादशाङ्गों की प्रत्येक अवस्था को पञ्चस्कन्धिक मानने वाले आवस्थिक कहलाते हैं। ये पञ्चस्कन्धिक अवस्थायें जन्मत्रय से सम्बन्धित हैं। अविद्या व संस्कार का सम्बन्ध अतीत जन्म से है। जाति व जरामरण का सम्बन्ध अनागत जन्म से है तथा शेष का प्रत्युत्पन्न जन्म से सम्बन्ध होता है। प्रतीत्यसमुत्पाद के उपर्युक्त चार भेदों में वैभाषिकों को आवस्थिक मत स्वीकार्य है। वैभाषिकों के अनुसार पञ्चस्कन्ध की अवस्था में जब अविद्या का प्राधान्य होता है, तो वह अवस्था अविद्या कहलाती है। जब संस्कार का प्राधान्य होता है, तो वह अवस्था संस्कार कहलाती है। इसी तरह विज्ञानादि अन्य अन्य अङ्गों की भी प्रधानता होने से तत्तत् अवस्था का नाम विज्ञानादि होता है।

माध्यमिक दार्शनिकों ने प्रतीत्यसमुत्पाद को आध्यात्मिक और बाह्य दो प्रकार का माना है। इन दोनों में से प्रत्येक को हेतूपनिबन्ध और प्रत्ययोपनिबन्ध भेद से दो-दो प्रकार का माना है। अतःएव माध्यमिक दर्शन के अनुसार प्रतीत्यसमुत्पाद के चार भेद बाह्यहेतूपनिबन्ध, बाह्यप्रत्ययोपनिबन्ध, आध्यात्मिक हेतूपनिबन्ध और आध्यात्मिक प्रत्ययोपनिबन्ध हो जाते हैं।

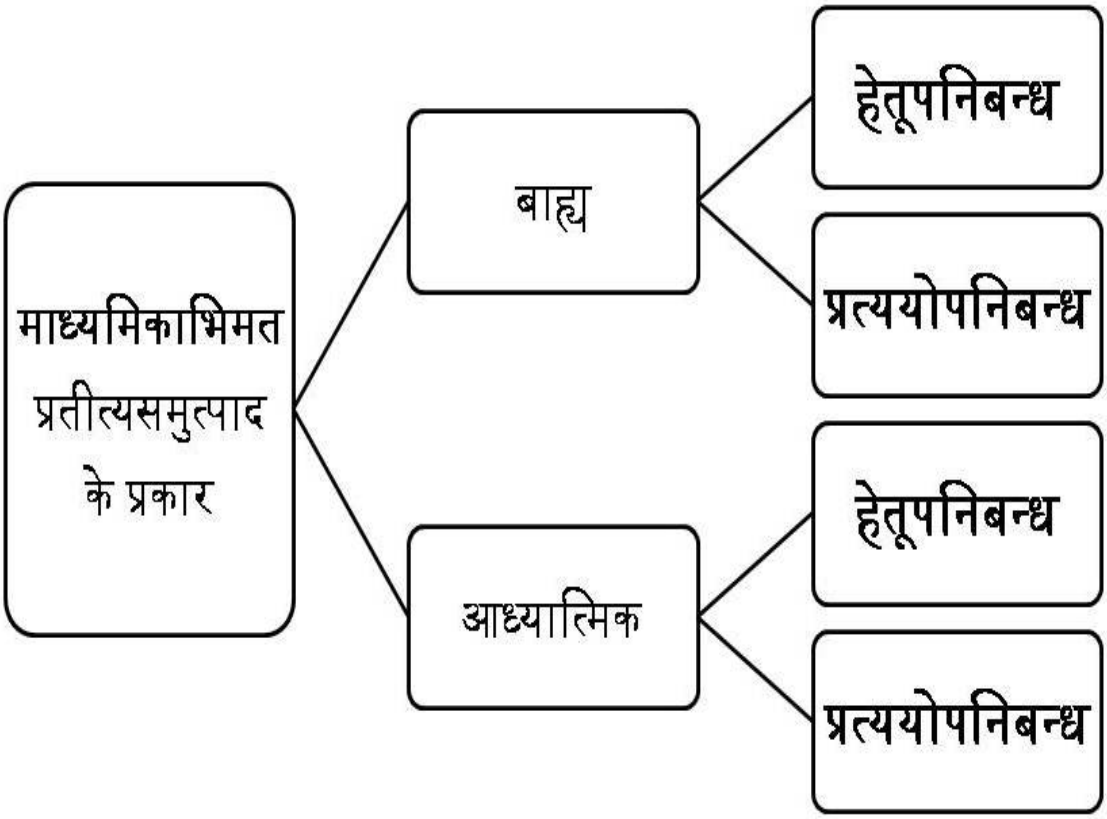

चित्र 4.6 (माध्यमिक दर्शन में प्रतीत्यसमुत्पाद का विभाजन)

बाह्य प्रतीत्यसमुत्पाद – जहाँ बाह्यहेतूपनिबन्ध में कार्यकारण का क्रम बिना किसी बाह्य कारण के अनवरत चलता रहता है, वहीं बाह्यप्रत्ययोनिबन्ध में बाह्य कारण भूमिका निभाते हैं। चित्र सङ्ख्या 4.7 में बीज से क्रमिक रूप से विकसित होते हुये पुनः बीज प्राप्ति के चक्र को समझाया गया है। बिना किसी ईश्वरादि बाह्य कारण के बीज से अङ्कुर, अङ्कुर से पत्र, पत्र से काण्ड, काण्ड से नाल, नाल से गण्ड, गण्ड से गर्भ, गर्भ से शुक, शुक से पुष्प, पुष्प से फल की प्राप्ति होती

है। फल से पुनः बीज की प्राप्ति होती है तथा यह क्रम पुनः प्रारम्भ हो जाता है। यह बाह्यहेतूपनिबन्ध प्रतीत्यसमुत्पाद है।

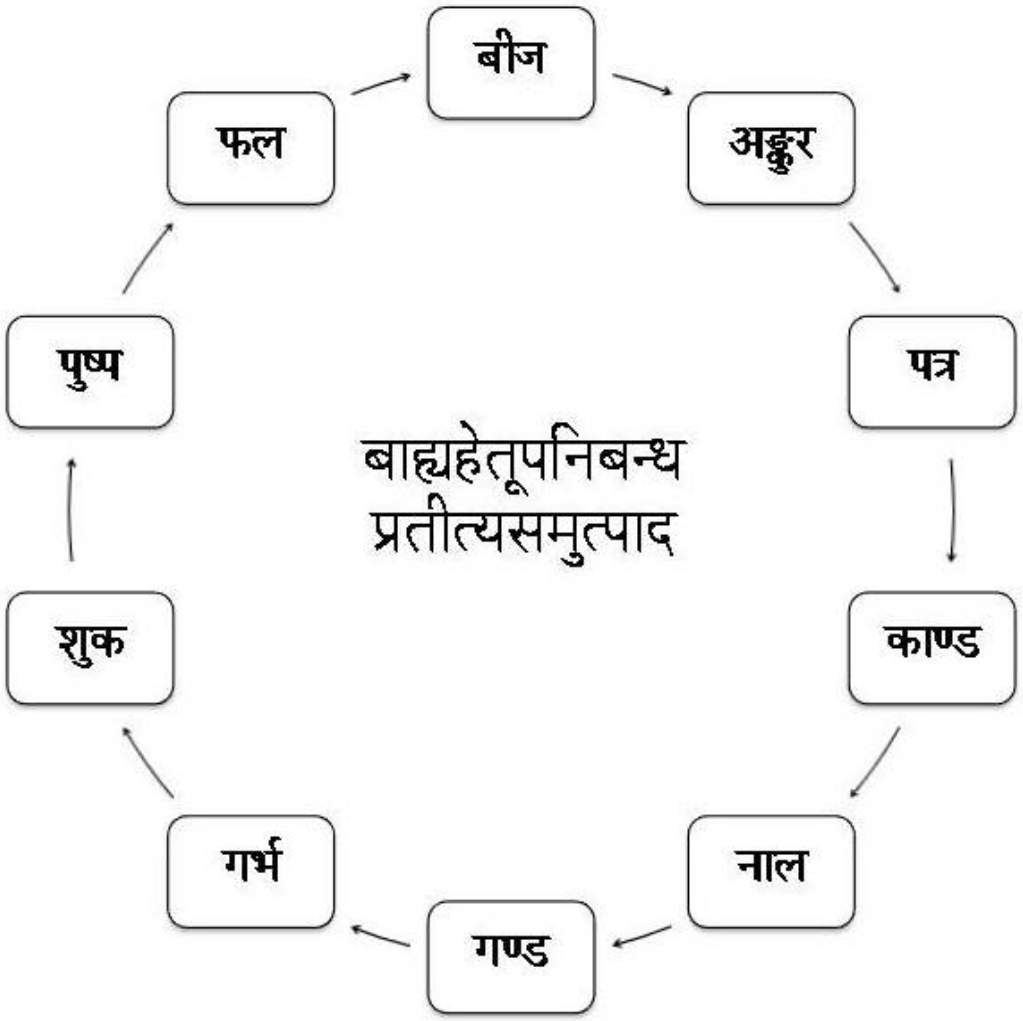

चित्र 4.7 (बाह्यहेतूपनिबन्ध प्रतीत्यसमुत्पाद)

चित्र सङ्ख्या 4.8 में बीज से अङ्कुर के उद्भव को प्रदर्शित किया गया है। इस अङ्कुर का उत्पाद पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश और ऋतु इन छः धातुओं से होता है। पृथ्वी बीज को धारण करती है, जल बीज को गीला करता है, तेज उसे पकाता है, वायु बीज का अभिनिर्हार करता है, आकाश बीज को अनावृत्त करता है और ऋतु बीज का परिगामन कार्य करती है। इन प्रत्ययों के अभाव में बीज से अङ्कुर नहीं हो सकता। यह बाह्यप्रत्योपनिबन्ध प्रतीत्यसमुत्पाद है।

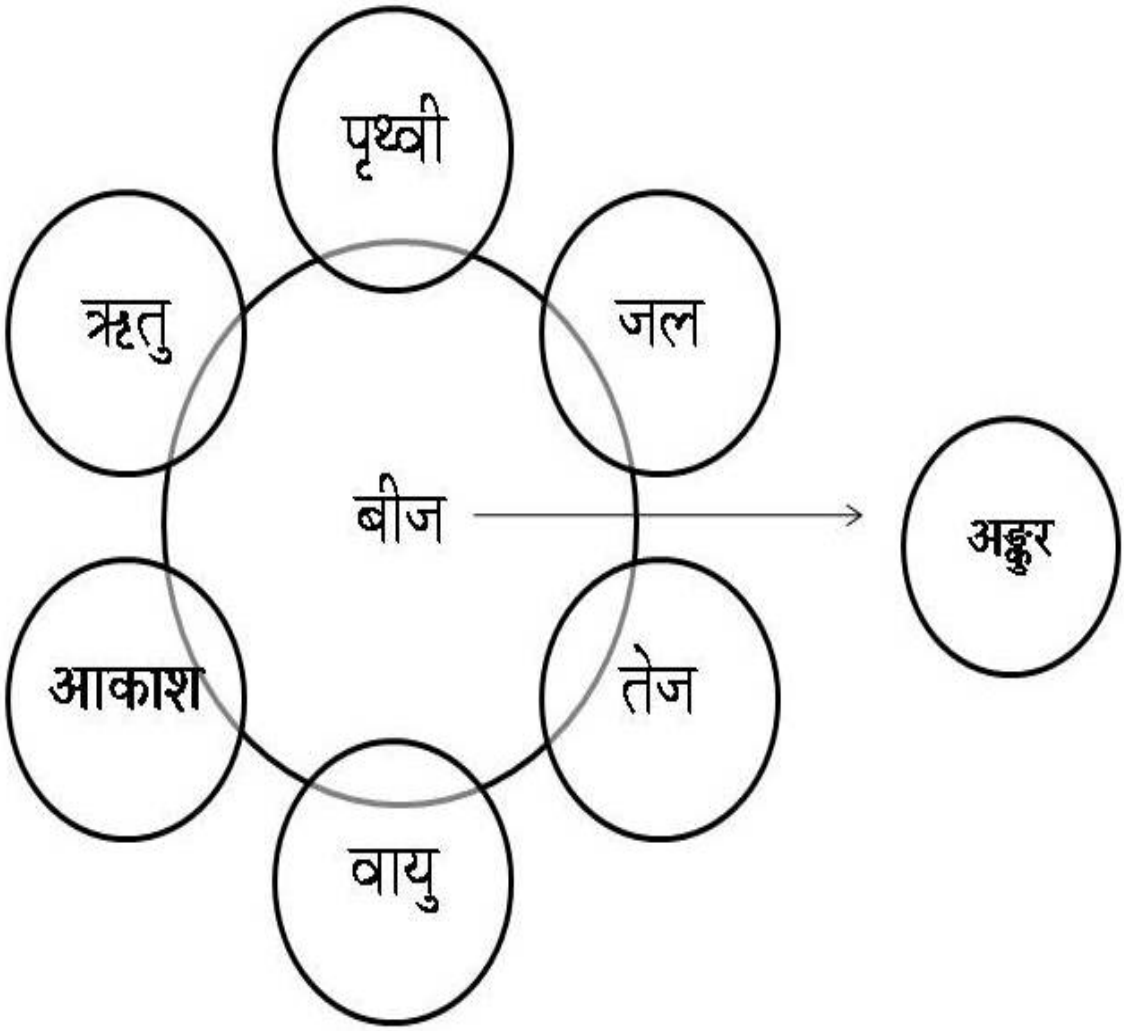

चित्र 4.8 (बाह्यप्रत्ययोपनिबन्ध प्रतीत्यसमुत्पाद)

आध्यात्मिक प्रतीत्यसमुत्पाद – आध्यात्मिक हेतूपनिबन्ध से आशय अविद्याप्रत्यय से संस्कार, संस्कार से विज्ञान, विज्ञान से नामरूप, नामरूप से षडायतन, षडायतन से स्पर्श, स्पर्श से वेदना, वेदना से तृष्णा, तृष्णा से उपादान, उपादान से भव, भव से जाति तथा जाति से जरामरण तक की द्वादशाङ्ग परम्परा से है। इन द्वादशाङ्गों में कोई भी अङ्ग यह नहीं जानता कि उसने उसे उत्पन्न किया है अथवा वह उससे जन्मा है।

आध्यात्मिक प्रत्ययोपनिबन्ध प्रतीत्यसमुत्पाद वह है, जो षड्धातुओं के समवाय से उत्पन्न होता है। पृथ्वीधातु से शरीर में काठिन्य, जलधातु से कार्य का अनुपरिग्रह, तेजधातु से काया के खाये-पीये का परिपाचन, वायुधातु से शरीर के श्वास-प्रश्वास, आकाशधातु से शरीर को आन्तरिक अवकाश और विज्ञानधातु से सभी अङ्ग एवं पञ्चविज्ञानकाय से संयुक्त सास्रव मनोविज्ञान उत्पन्न होता है। इस प्रकार कोई भी धातु एक दूसरे को बताये बिना ही उत्पन्न होती है और एक दूसरे का कारण भी है। इन प्रत्ययों के होने पर ही शरीर की उत्पत्ति होती है।

वैभाषिक और माध्यमिक दर्शनों द्वारा प्रतिपादित प्रतीत्यसमुत्पाद के तुलनात्मक अध्ययनोपरान्त यह कहा जा सकता है कि गौतम बुद्ध के प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त को दोनों ने ही स्व-स्व दर्शन परम्पराओं के अनुसार विश्लेषित किया है। बाह्यार्थवादी वैभाषिकों ने प्रतीत्यसमुत्पाद शब्द का अर्थ प्रत्ययों को प्राप्त करके समुत्पाद माना है। ये हेत्वादि चारों प्रत्ययों के माध्यम से अपने कार्य-कारणवाद की व्याख्या करते हैं। जबकि माध्यमिक दार्शनिक प्रतीत्यसमुत्पाद का हेतुप्रत्ययादि की अपेक्षा करके भावों का उत्पाद करते हैं। माध्यमिक दर्शन में हेत्वादि प्रत्ययों का खण्डन करते हुये कार्य-कारणवाद का खण्डन किया गया है।

जहाँ वैभाषिक प्रतीत्यसमुत्पाद को कारण-कार्यवाद मानकर व्याख्या करते हैं तथा समस्त संस्कृत धर्मों को प्रतीत्यसमुत्पन्न मानते हैं, वहीं माध्यमिक पारमार्थिक स्तर पर प्रतीत्यसमुत्पाद को शून्यता अथवा मध्यम मार्ग के रूप में स्थापित कर, कारणकार्यवाद का खण्डन करते हैं तथा व्यावहारिक स्तर पर इसे स्वीकार करते हैं। द्वादशाङ्गों की व्याख्या को लेकर दोनों दर्शनों में कुछ समतायें तथा कुछ विषमतायें हैं। वैभाषिक द्वारा आवस्थिक प्रतीत्यसमुत्पाद को स्वीकार

किया गया है, माध्यमिक बाह्य और आध्यात्मिक भेद से प्रतीत्यसमुत्पाद के दो भेद मानता है। दोनों ही पञ्चस्कन्धों को आत्मा नहीं मानते तथा न ही पञ्चस्कन्ध की व्याख्या एक स्थायी अथवा संसरणशील तत्त्व की तरह करते हैं। दोनों ही विभिन्न दृष्टान्तों से इसे स्पष्ट करते हैं।

पञ्चम अध्याय

प्रतीत्यसमुत्पाद का वैज्ञानिक वैशिष्ट्य

प्रतीत्यसमुत्पाद बौद्ध धर्म एवं दर्शन का आधारभूत सिद्धान्त है। क्या धर्म और दर्शन से इतर प्रतीत्यसमुत्पाद का वैज्ञानिक वैशिष्ट्य है? प्रस्तुत अध्याय में इस प्रश्न का उत्तर जानने का प्रयास किया जायेगा। धर्म और दर्शन का प्रयोजन मानवीय जीवन में व्याप्त सांसारिक दुःखों का निरोध कर, उसे सहज व सरल बनाना है। विज्ञान भी मानव जीवन के समुद्धारार्थ न केवल विभिन्न यन्त्रों एवं उपकरणों का निर्माण करता है, अपितु अपने शोधों और प्रयोगों से जीवन की उत्पत्ति और ब्रह्माण्ड की संरचना को समझने के साथ-साथ पर्यावरण तथा समाज को स्वस्थ रखने के विभिन्न सिद्धान्तों को जन्म देता है। धर्म और विज्ञान के अन्तर्सम्बन्धों को रेखाङ्कित करते हुये प्रसिद्ध भौतिकविद् अल्बर्ट आइंन्स्टाइन ने अपने लेख 'रिलीजन एण्ड साईंस' में कहा है कि बिना धर्म के विज्ञान पङ्गु है तथा बिना विज्ञान के धर्म अन्धा है।[648] *दीघनिकाय* के महापरिनिब्बानसुत्त में धम्म को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि भगवान् द्वारा भली प्रकार आख्यात किया गया यह धर्म सम्यक् दृष्टि वाला है, काल्पनिक नहीं है, प्रत्यक्षगम्य है, तत्काल फलदायक है, आओ और देखो कहलाने वाला है, निर्वाणगामी है, प्रत्येक समझदार के द्वारा ग्रहण करने योग्य है।[649]

धर्म की उपर्युक्त व्याख्या इसे वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान करती है। बुद्ध केवल धम्म को परिभाषित करके नहीं छोड़ते, वरन् अनुभूतियों के स्तर पर उतारने के लिये विपश्यना का मार्ग बतलाते हैं। अगर प्रत्येक मनुष्य धर्म का अभ्यास उचित रूप से अथवा सही अर्थों में करें तो धर्म कोई बाह्य वस्तु न होकर उनके हृदयों में स्थित है। गौतम बुद्ध प्रतिपादित तथा वैभाषिक व माध्यमिक

[648] Science without religion is lame, religion without science is blind. Einstein, Albert, "Religion and Science," *New York Times Magazine,* New York, 1930: pp 1-4; reprint in Einstein's book *The World as I See It,* New York: Philosophical Library, 1949, pp 24-28, retrived from http://www.sacred-texts.com/aor/einstein/einsci.htm (Access date 16 November, 2015)

[649] स्वाक्खातो भगवता धम्मो सन्दिट्ठिको अकालिको एहिपस्सिको ओपनेय्यिको पच्चतं वेदितब्बो विञ्ञूही'ति। *दी.नि.*, 2/3, पृ. 73

आचार्यों द्वारा विश्लेषित प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त का वैज्ञानिक वैशिष्ट्य इस अध्याय में भ्रूणविज्ञान, क्वाण्टम भौतिकी, गहन पारिस्थितिकी और गाया परिकल्पना के वैज्ञानिक सिद्धान्तों के साथ विश्लेषित किया गया है।

5.1. भ्रूणविज्ञान और प्रतीत्यसमुत्पाद

भ्रूणविज्ञान आधुनिक जीवविज्ञान की एक शाखा है। भ्रूणविज्ञान में भ्रूण के विकास का वैज्ञानिक अध्ययन किया जाता है।[650] अण्डाणु के निषेचन से लेकर गर्भावस्था से गुजरते हुये भ्रूण के विकास का अध्ययन भ्रूणविज्ञान कहलाता है।[651] भ्रूणविज्ञान के आरम्भिक सूत्र अरस्तू के साहित्य में विद्यमान हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में जीवविज्ञानियों ने सूक्ष्मदर्शी के माध्यम से भ्रूण का परीक्षण प्रारम्भ किया तथा भ्रूण के विभिन्न स्तरों में परिवर्तन का पता लगाया। भ्रूणविज्ञान के क्षेत्र में चार्ल्स डार्विन, वॉन बीर, अर्नेस्ट हेकल, जे.बी.एस. हल्दाने व जोसेफ नीदहम आदि के नाम प्रसिद्ध हैं।[652] भारत के सन्दर्भों में आयुर्वेद में मानवीय जीवन चक्र को स्पष्ट किया गया है। गौतम बुद्ध तथा उनके परवर्ती अनुयायियों ने भी द्वादशाङ्ग भवचक्र के आधार पर शुक्र और शोणित के संयोग से कललादि के माध्यम से भ्रूण के जन्म तथा गर्भस्थ भ्रूण के विकास को आनुभाविक व दार्शनिक स्तर पर स्पष्ट किया है, जो आधुनिक भ्रूणविज्ञान से अधिकतम साम्य रखता है।

समग्र प्रकृति में यह सबसे विचित्र घटना है कि मानव युग्म (zygote) की एकल कोशिका हजार खरब पूर्वविकसित कोशिकाओं में परिवर्तित हो जाती है। किसी वयस्क शरीर द्वारा किये जाने वाले दैनिक कार्य प्रसवकाल के दौरान ही, प्रायः जन्म से काफी पहले ही प्रतिष्ठापित हो जाते हैं। जन्म से पूर्व की अवधि जिसमें विकास होता है ज्यादातर ऐसे समय के रूप में समझी जाने लगी

---

[650] Embryology is the scientific study of the development of embryos. Hornby, A. S. *Oxford Advanced Learner's Dictionary*, New York: Oxford University Press, reprint 2005. p.498

[651] Embryology is the study of development of an embryo from the stage of ovum fertilization through to the fetal stage. Mandal, Ananya, *what is Embryology*, 2014, retrived from http://www.news-medical.net/health/what-is-Embryology.aspx (Access date 29 March, 2016)

[652] Mandal, Ananya, *Embryology History*, 2014, retrived from http://www.news-medical.net/health/Embryology-History.aspx (Access date 29 March, 2016)

है जिसके दौरान विकासशील मानव अनेक प्रकार की संरचनायें प्राप्त करता है तथा ऐसी अनेक दक्षता हासिल करता है जो जन्म के बाद जीने के लिए आवश्यक हैं।[653] मानव में भ्रूण के विकास को निम्न बिन्दुवार समझ सकते हैं-

गर्भाधान – स्त्री एवं पुरुष के संसर्ग के पश्चात् ही दोनों की प्रजनन कोशिकाओं के संयोग से गर्भाधान की प्रक्रिया आरम्भ होती है। स्त्री की प्रजनन कोशिका को सामान्यतः अण्डाणु (egg) या जननाणु (occyte) और पुरुष की प्रजनन कोशिका को शुक्राणु (sperm) या प्रशुक्राणु (spermatozoon) कहा जाता है। वैभाषिक दर्शन में स्त्री जनन कोशिका को शोणित तथा पुरुष जनन कोशिका को शुक्र कहा गया है। इन प्रजनन कोशिकाओं का जन्म गर्भाशय ट्यूब (uterine tubes) से होता है। स्त्री का गर्भाशय ट्यूब उसके डिम्बाशय (woman's overies) को गर्भाशय (uterus) से जोड़ता है। गर्भाधान के समय जननाणु और प्रशुक्राणु संयोग करते हुये अपने-अपने 23-23 गुणसूत्र देते हैं, जिससे एकल कोशिका भ्रूण का निर्माण होता है, जिसे युग्म (zygote) कहा जाता है। 46 क्रोमोसोम वाले इस युग्म को डी.एन.ए. कहा जाता है, जिससे एक नवीन जीवन की संरचना प्रारम्भ होती है।

गर्भारोपण – गर्भाधान के 24 से 30 घण्टों बाद युग्म में प्रथम कोशिका का विभाजन होता है।[654] यह समविभाजन होता है। इसके माध्यम से एक कोशिका से दो, सो से चार, चार से आठ क्रमशः विभाजन होता रहता है।[655] गर्भाधान के तीन से चार दिन पश्चात् भ्रूण की विभाजक कोशिकायें

---

[653] The dynamic process by which the single-cell human zygote becomes a 100 trillion (10^{14}) cell adult is perhaps the most remarkable phenomenon in all of nature. Many of the routine functions performed by the adult body become established during pregnancy – often long before birth. The developmental period before birth is increasingly understood as a time of preparation during which the developing human acquires the many structures, and practices the many skills, needed for survival after birth. Stillwell, Brian J., *The biology of Prenatal Development,* New Hampshire: The Endowment for Human Development, 2006, p.3

[654] Approximately 24 to 30 hours after fertilization, the zygote completes its first cell division. Hertig, A. T., *Human Trophoblast,* Springfield: Thomas, 1968, p. 26

[655] Through the process of mitosis, one cell splits into two, two into four, and so on. Guyton, A. C. & J. E. Hall, *Textbook of Medical Physiology,* Philadelphia: W.B. Saunders, 2000, p. 34

गोलाकार रूप धारण करती हैं, इस भ्रूण को बीजाणु कहा जाता है।[656] गर्भाशय ट्यूब में जाने के बाद प्रारम्भिक भ्रूण माता के गर्भाशय से चिपक जाता है, इस प्रक्रिया को गर्भारोपण कहते हैं।

इस बीजाणु को वैभाषिक दर्शन की शब्दावली में कलल कहा जा सकता है। प्रतिसन्धि के पश्चात् शुक्र एवं शोणित के संयोग से ही यह उत्पन्न होता है। वैभाषिक के अनुसार शुक्र और शोणित अनिन्द्रिय हैं तथा कलल सेन्द्रिय है। अन्तराभव के निरुद्ध होने पर शुक्र और शोणित भी निरुद्ध हो जाते हैं तथा युग्म अर्थात् कलल शेष रह जाता है, जो गर्भ की प्रथमावस्था है। जैसे बीज के निरोध के क्षण में अङ्कुर का उत्पाद होता है, ठीक वैसे ही शुक्र और शोणित के निरुद्ध होने से कलल की उत्पत्ति होती है।[657] यहाँ एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या कलल को युग्म कहा जा सकता है? प्रश्न के उत्तर में मात्र यह कहा जा सकता है कि युग्म एककोशिकीय होता है, किन्तु कलल नहीं। कलल को सेन्द्रिय कहा गया है, अतः बहुकोशिकीय अवस्था है। यह कलल ही माता के गर्भाशय में चिपक जाता है।

भ्रूणीय अवस्था – गर्भारोपण के पश्चात् प्रारम्भिक भ्रूण की कोशिकाओं की संरचना का विकास होता है जिसे प्लेसेन्टा कहते हैं। प्लेसेन्टा मातृक ऑक्सीजन, पोषक तत्त्वों हार्मोनों और औषधियों को बढ़ते हुए बच्चे तक पहुँचाता है। यह सभी व्यर्थ पदार्थों को हटाता है।[658] प्लेसेन्टा बढ़ते हुए बच्चे में नाभिनाल की धमनियों के माध्यम से सम्पर्क करता है। एक सप्ताह में ही यहाँ दो परतों हाइपोब्लास्ट और एपिब्लास्ट का निर्माण होता है। इनमें से प्रथम जहाँ अण्डाणु की झिल्ली का विकास करता है, जो प्रारम्भिक भ्रूण को पोषकतत्त्वों की आपूर्ति में समर्थ होता है। वहीं दूसरा गर्भावरण का निर्माण करता है, जिसमें जन्म लेने तक शिशु विकसित होता है।

---

[656] By 3 to 4 days after fertilization, the dividing cells of the embryo assume a spherical shape and the embryo is called a morula. Gasser, R. F., *Atlas of Human embryos,* Maryland: Harper & Row, 1975, p.1

[657] अनिन्द्रियं हि शुक्रशोणितमन्तराभवेन सार्धं निरुध्यते, सेन्द्रियं प्रादुर्भवति। बीजाङ्कुरनिरोधोत्पादन्यायेन यत्तत कललमित्याख्यायते। *अभि.को.भा.*, पृ. 338

[658] The placenta delivers maternal oxygen, nutrients, hormones, and medications to the developing human; removes all waste products; and prevents maternal blood from mixing with the blood of the embryo and fetus. *Human Trophoblast,* p. 16.

द्वितीय और तृतीय सप्ताह के मध्य ही एपिब्लास्ट में तीन उतकों एक्टोर्डम (मस्तिष्क, मेरुदण्ड, नाडिया, त्वचा, नख तथा केश का संरचनास्थल), एन्टोर्डम (श्वसन प्रणाली तन्त्र और आहारनाल का निर्माणस्थल) और मेसोडर्म (हृदय, गुर्दे, अस्थियों, उपास्थियों, मांसपेशियों एवं रक्तकोशिकाओं का संरचनास्थल) का निर्माण होता है।

तीसरे सप्ताह में मस्तिष्क तीन खण्डों अग्र मस्तिष्क, मध्य मस्तिष्क और पश्च मस्तिष्क में विभाजित हो जाता है। पूरे भ्रूण में रक्त धमनियों का निर्माण होता है तथा नलाकार दिल उभरने लगता है। उसके तुरन्त बाद तेजी से बदला हुआ हृदय अपने में सिमट जाता है और अलग अलग कोष्ठों का विकास होने लगता है। गर्भाधान के तीन सप्ताह और एक दिन के बाद हृदय धड़कने लगता है। ऊपरी और निचले अवयव विकास 4 सप्ताह में अङ्गों के पनपने से होता है। इस समय त्वचा पारदर्शी होती है। क्योंकि इसकी मोटाई केवल एक कोशिका की होती है। चतुर्थ सप्ताह पश्चात् त्वचा क्रमशः मोटी होती जाती है तथा इसकी पारदर्शिता समाप्त हो जाती है। चिकित्साविज्ञानी भ्रूण में अङ्गों का विकास लगभग दो मास तक देख पाते हैं।

चतुर्थ से पञ्चम सप्ताहों के मध्य मस्तिष्क में तेजी से वृद्धि होती रहती है। सिर भ्रूण के कुल आकार का लगभग एक तिहाई हिस्सा होता है। प्रमस्तिष्कीय गोलार्ध दिखाई देने लगता है और धीरे–धीरे यह मस्तिष्क का बड़ा भाग हो जाता है। अन्त में प्रमस्तिष्कीय गोलार्ध से नियन्त्रित होने वाले कार्यों में विचार, सीखने की क्षमता स्मृति, भाषा, दृष्टि, श्रवण, स्वैच्छिक गतिविधि तथा समस्या समाधान शामिल होते हैं। पाँचवें सप्ताह में स्थायी गुर्दे (kidneys) दिखाई देते हैं।[659] पेट में विशाल यकृत धड़कते हुए हृदय से लगा होता है। पीली झिल्ली में प्रारम्भिक प्रजनन कोशिकायें होती हैं। पाँचवें सप्ताह में ये कोशिकायें किडनी से लगे हुए प्रजनन अङ्गों में स्थानान्तरित होती है।[660]

---

[659] The permanent kidneys appear by 5 weeks. O'Rahilly, R. & F. Müller, *Human embryology and teratology*. 3rd edition, New York: Wiley-Liss, 2001, p. 301

[660] The yolk sac contains early reproductive cells called germ cells. By 5 weeks these germ cells migrate to the reproductive organs adjacent to the kidneys. *Human embryology and teratology*, p. 23

छठवें सप्ताह के पश्चात् ही मस्तिष्कीय तरङ्गों का प्रभाव अनुभूत होने लगता है। बाह्य श्रोत्रों का उभार स्पष्ट होने लगता है। यकृत में रक्त कोशिका का निर्माण शुरू हो जाता है जहाँ अभी लिम्फोसाइट मौजूद है, जो रोग निरोधक प्रणाली का मुख्य हिस्सा है। कटिप्रदेश के उभयतः स्तनाग्र दिखाई देने लगते हैं जो बाद में अपनी सही जगह उरप्रदेश अर्थात् छाती के सामने पहुँच जाते हैं। हाथों में कुहनियां दिखाई देती हैं, अङ्गुलियाँ पृथक् पृथक् ढंग से बननी शुरू होती हैं और हाथ की गतिविधि भी दिखाई देती हैं।

सप्तम सप्ताह में हिचकियाँ आने लगती हैं। पैर भी हिलते–डुलते दिखाई देते और इसके साथ चौंकाने वाली प्रतिक्रियायें देखने को मिलती हैं। चार कोष्ठीय दिल लगभग पूरा हो जाता है। अब दिल औसतन 167 बार प्रति मिनट धड़कता है। उसमें विद्युतीय गतिविधि भी देखने को मिलती हैं। बालिका में सातवें सप्ताह में अण्डाशय की पहचान होने लगती है।[661] सप्तम सप्ताह पश्चात् आँख की रञ्जित पुतली आसानी से दिखाई देती है। पलकों का तेजी से विकास होने लगता है। अङ्गुलियाँ अलग–अलग हो जाती हैं और पैर के अङ्गूठे केवल मूल हिस्से में मिले होते हैं।

छठे से आठवें सप्ताह के मध्य भ्रूण में स्वतः तथा प्रतिक्रियास्वरूप हलचल उत्पन्न होती है। इस हलचल से मस्तिष्कीय मांसपेशियों का सामान्य विकास होता है। इस समय गुर्दा मूत्र का निर्माण करता है, जिसे भ्रूण गर्भावरण के द्रव्य में ही छोड़ देता है। आठवें सप्ताह में एपिडर्मस या बाह्य त्वचा पर बहुपरतीय आवरण बन जाता है, जिससे उसकी पारदर्शिता समाप्त हो जाती है। आठवें सप्ताह में भ्रूणीय अवधि समाप्त होती है। एक कोशिका लगभग 10 अरब कोशिकाओं में परिवर्तित हो जाती हैं। जो लगभग 4000 से अधिक विशिष्ट शारीरिक रचनाओं का सृजन करती हैं। इस अवधि में ही भ्रूण का समग्र विकास हो जाता है। किसी भी प्रौढ व्यक्ति में पाये जाने वाली नब्बे प्रतिशत संरचना का विकास इसी अवधि में होता है।[662]

---

[661] *The biology of Prenatal Development,* p.10-11

[662] Eight weeks marks the end of the embryonic period. During this time, the human embryo has grown from a single cell into the nearly 1 billion cells which form over 4,000 distinct anatomic structures. The embryo now possesses more than 90 percent of the structures found in adults. Ibid, p. 13

गर्भस्थ शिशु अवस्था – गर्भाधान के नवें सप्ताह से लेकर जन्म तक की अवधि 'गर्भस्थ शिशु अवधि' कहलाती है। नवें सप्ताह से शिशु अङ्गूठा चूसना आरम्भ करता है तथा गर्भस्थ शिशु गर्भावरण द्रव्य को निगल सकता है। गर्भस्थ शिशु किसी वस्तु को पकड़ सकता है। अपने सिर को आगे पीछे कर सकता है। अपने जबड़े खोल और बन्द कर सकता है। वह श्वास भर सकता है तथा अपनी जिह्वा को हिला व तान भी सकता है। मुख की नस संग्राहक, हाथों की हथेलियां तथा पैरों के तलवे हल्का स्पर्श महसूस कर सकते हैं। पलके अब पूरी तरह बन्द होने लगती हैं। कण्ठ में वाक् स्नायु दिखाई देने से स्वरतन्त्र का विकास होने लगता है। बालिका शिशु में गर्भाशय की पहचान होने लगती है। बाह्य जननाङ्गों से शिशु के स्त्री-पुरुष की पहचान होने लगती है।[663]

नवें और दसवें सप्ताह के मध्य शिशु के शरीर के भार में वृद्धि होती है। यह वृद्धि 75 प्रतिशत से अधिक तक हो जाती है। दसवें सप्ताह में गर्भस्थ शिशु जम्हाई लेता है और प्रायः मुँह खोलता और बन्द करता है। नाभिनाल के भीतर आन्त का हिस्सा पेट के रन्ध्र में वापिस चला जाता है। अधिकांश हड्डियों का निर्माण शुरू हो जाता है। हाथ और पैर की अङ्गुलियों के नाखूनों का विकास आरम्भ होता है। बेब्लर के अनुसार गर्भाधान के दस सप्ताह पश्चात् अङ्गुलियों के अनूठे निशान (Finger Print) दिखाई देते हैं। इन निशानों को जीवनभर पहचान के लिए उपयोग में लाया जा सकता है।[664]

ग्यारवें सप्ताह में नासिका और ओठों का पूरी तरह निर्माण हो जाता है। गर्भस्थ शिशु द्वारा निगले गए ग्लूकोज और पानी को उसकी आन्त सोखने लगती है। यद्यपि गर्भाधान के बाद ही लिंग का पता चल जाता है लेकिन अब स्पष्ट तौर पर बाहरी लिङ्ग से लड़की या लड़के की पहचान हो सकती है।

---

[663] *The biology of Prenatal Development,* p. 13

[664] Unique fingerprints appear 10 weeks after fertilization. These patterns can be used for identification throughout life. Babler, W. J., "Embryologic development of epidermal ridges and their configurations" *Dermatoglyphics: science in transition,* Edited by C. C. Plato, et al, New York: Wiley-Liss, 1991, p. 95

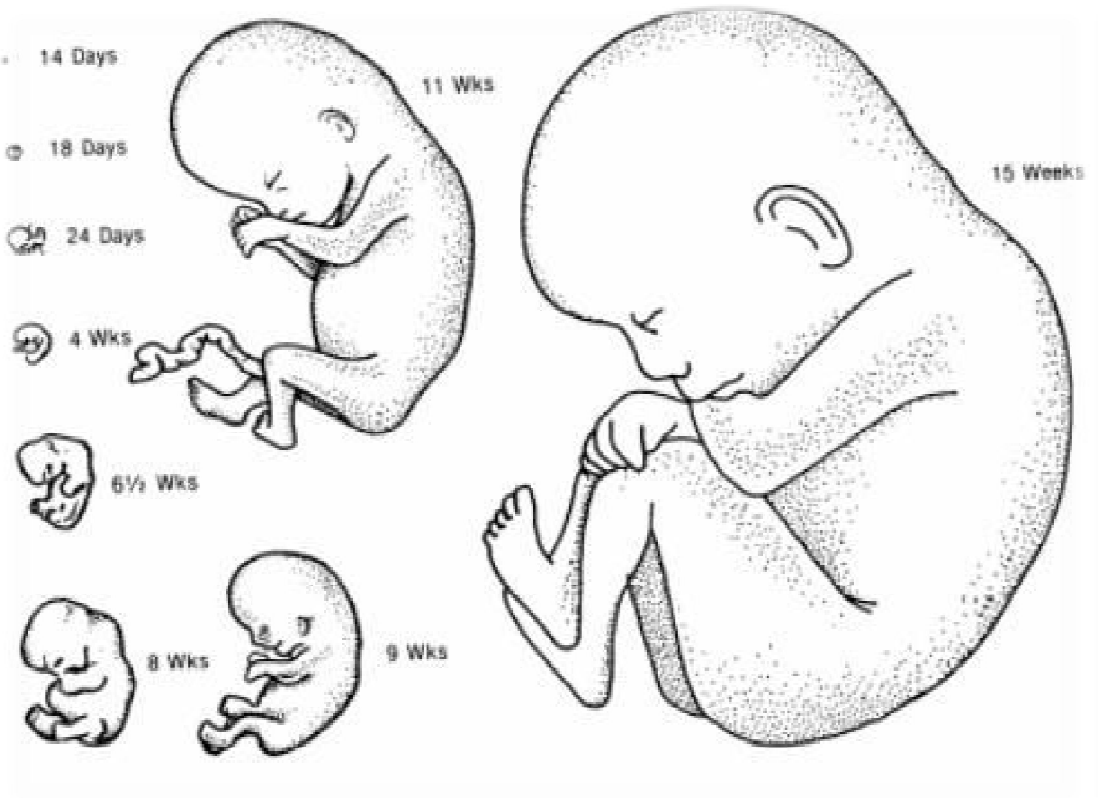

चित्र 5.1 (मानव-भ्रूण का विकास)[665]

तृतीय से चतुर्थ मास में गर्भस्थ शिशु के मुख के अन्तः प्रदेश में विभिन्न स्वाद के मुकुल विकसित होते हैं। ये स्वाद मुकुल जन्म से केवल जीभ और मुँह के तल पर रहते हैं। 12 सप्ताह से ही आन्त्र की गतिविधि शुरू हो जाती है और लगभग 6 सप्ताह तक जारी रहती है। गर्भस्थ शिशु और नवजात कोलम द्वारा निकाले गए पहले पदार्थ को मेकोनियम कहते हैं। यह पाचक एन्जाइमों प्रोटीन और मृत कोशिकाओं से बना होता है जो कि पाचक नाल द्वारा छोड़ी जाती हैं।

पीठ और सिर के ऊपरी हिस्से को छोड़कर गर्भस्थ शिशु का पूरा शरीर अब हल्के स्पर्श पर प्रतिक्रिया करता है। लिङ्ग के आधार पर विकास में अन्तर पहली बार दिखाई देता है। उदाहरण के लिए बालिका गर्भस्थ शिशु जबड़े को बालक शिशु से अधिक बार चलाता है। मुख में परिपक्वता एवं गालों में भराव होना शुरू होता है। रक्त सम्बन्धी कोशिकाओं का निर्माण शुरू हो

[665] http://www.iirrh.org/blog/embryology-training/ (Access date – 20 June, 2016)

जाता है और बौनमेरों में उनकी संख्या बढ़ती जाती है। यद्यपि छः सप्ताह के भ्रूण में ही हलचल होने लगती है, किन्तु एक गर्भवती महिला को 14 से 18 सप्ताह के बीच में ही गर्भस्थ शिशु की गतिविधि की वेदना अर्थात् अनुभूति होती है।

चतुर्थ से पञ्चम मास में गर्भस्थ शिशु की श्वसन प्रणाली में श्वसन नलिकायें पूरी बन जाती हैं। 19वे सप्ताह से गर्भस्थ शिशु का हिलना डुलना, उसकी श्वसन क्रिया और दिल की धड़कन दैनिक चक्र के अनुसार चलती है जिसे सरकैडिथन रिदम कहते हैं। पाँचवे से छठें मास में पूरी तरह आन्तरिक कान विकसित होते हैं। इसके बाद से गर्भस्थ शिशु ऊँची ध्वनि के प्रति प्रतिक्रिया व्यक्त करेगा। सिर में बाल उगने शुरू होते हैं। त्वचा की परतें और बालों के रोमकूपों तथा ग्रन्थियों सहित सभी संरचनायें प्रकट होने लगती हैं। फेफड़ों में सांस लेने की कुछ क्षमता आ जाती है।

छठे से सातवें मास में गर्भस्थ शिशु में पलक झपकने की अनूठी प्रतिक्रिया विकसित होती है। गर्भस्थ शिशु की श्वास-प्रश्वास की गति प्रति मिनट 44 बार तक पहुँच सकती है। मस्तिष्क में तेजी से अभिवृद्धि होने के कारण गर्भस्थ शिशु द्वारा प्रयोग की जाने वाली ऊर्जा का 50 प्रतिशत से अधिक भाग इसमें लग जाता है। 26 वें सप्ताह से आँखों में आँसू तैयार हो जाते हैं। पुतलियाँ 27 वें सप्ताह में प्रकाश की प्रतिक्रिया दिखाती हैं। यह प्रतिक्रिया जीवनभर दृष्टिपटल तक पहुचने वाले प्रकाश की मात्रा को नियमित करती है। गन्ध सूंघने की क्षमता विकसित हो जाती है। गर्भस्थ शिशु घूमने जैसे पैरों को चलाकर कलाबाजियां दिखाता है। गर्भस्थ शिशु में कम झुर्रियां दिखाई देती हैं चूंकि त्वचा के नीचे अतिरिक्त वसा भर जाती है। वसा शरीर के तापमान को बनाये रखने और जन्म के पश्चात् ऊर्जा भण्डारण में भूमिका अदा करती है।[666]

सातवें से आठवें मास में गर्भस्थ शिशु धीमी और ऊँची आवाज पहचानने लगता है। शिशु के द्वारा श्वास-प्रश्वास की गतिविधि सामान्य हो जाती है। आठवें से नवम मास में गर्भस्थ शिशु के हाथ की

[666] Stillwell, Brian J., *The biology of Prenatal Development*, New Hampshire: The Endowment for Human Development, 2006, retrieved from http://www.ehd.org/resources_bpd_documentation.php?language=34, (Access date 5 March, 2016)

जकड़ मजबूत होती है। गर्भस्थ शिशु को विभिन्न पदार्थों के सेवन से जन्म के बाद स्वाद के प्रति उसकी रुचि निर्धारित करता है।[667]

आचार्य वसुबन्धु कहते हैं कि माता की कुक्षि में सर्वप्रथम कलल, कलल से अर्बुद, अबुर्द से पेशिन्, पेशिन् से घन तथा घन से प्रशाखा, केश, लोम, नखादि और उनके साथ उनके अधिष्ठान, रूपीन्द्रिय उत्पन्न होते हैं।[668] नखादि से आशय गर्भारोपण के पश्चात् भ्रूणीय अवस्था में प्रारम्भिक भ्रूण के अङ्गावयवों से है। इस तरह वैभाषिक दर्शन में कललादि गर्भ की पाँच अवस्थायें हैं। इन्हीं अवस्थाओं के विकास से गर्भस्थ शिशु का आकार-प्रकार निर्धारित होता है तथा अङ्ग-प्रत्यङ्ग विकसित होते हैं। भ्रूणीयावस्था के तदनन्तर गर्भस्थ शिशु के आकार तथा इन्द्रियों का जन्म होता है, वैभाषिकों के अनुसार माता की कुक्षिगत या योनिगत अनुपजात दशा विज्ञान है, जिससे जन्म लेने तक की अवस्था नामरूप उत्पन्न होती है तथा इससे षडायतन उत्पन्न होता है। जब षडायतन के रूप में यह संघातमय शरीर जन्म ले लेता है, तो उसके बाद स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान और भव ये पाँच अवस्थायें उत्पन्न होती हैं। कर्म की वह शक्ति भव है, जो कृत और उपचित कार्यों के फलस्वरूप पुनर्भव का कारण बनती है। शरीर के रूप में संगठित पञ्चस्कन्ध जब बिखर जाते हैं तो अनागत जीवन में जाति और जरामरण ये दो अवस्थायें होती हैं। वर्तमान जीवन का विज्ञान अगले जीवन या पुनर्भव के लिए जाति के रूप में विद्यमान रहता है और वर्तमान जीवन के नामरूप, षडायतन, स्पर्श और वेदना ये अगले जीवन को उत्पन्न करने के लिए जरा–मरण के रूप में रहते हैं। इस तरह सृष्टिचक्र चलता रहता है।

गर्भस्थ शिशु का जन्म – नवम मास अथवा छत्तीसवें सप्ताह पश्चात् गर्भस्थ शिशु एस्ट्रोजन नामक हार्मोन का अधिक स्त्राव करके प्रसव दर्द शुरू करता है और इस प्रकार गर्भस्थ शिशु से नवजात शिशु तक की यात्रा तय होती है। प्रसव दर्द में गर्भाशय में अत्यधिक संकुचन होता है जिससे बच्चे

[667] At 35 weeks the fetus has a firm hand grasp. Fetal exposure to various substances appears to affect flavor preferences after birth. *The biology of Prenatal Development*, p. 18

[668] कललं प्रथमं भवति कललाज्जायतेऽर्बुदः। अर्बुदाज्जायते पेशी पेशीतो जायते घनः॥
घनात् प्रशाखा जायन्ते केशरोमनखादयः। इन्द्रियाणि च रूपीणि व्यञ्जनान्यनुपूर्वशः॥ *अभि.को.भा.*, पृ. 342

का जन्म होता है।[669] वैभाषिक दर्शन के अनुसार जब गर्भ के परिपक्व होने पर माता की कुक्षि में कर्मविपाक से वायु समुत्थित होती है, जो गर्भ को उत्पत्तिद्वार की ओर सञ्चालन करती है। इसका सञ्चालन कठिन है, क्योंकि वहाँ मलमूत्रादि अशुचि एकत्र रहती है। इस प्रकार गर्भस्थ शिशु बाहर आता है।

शुक्र-शोणित से युग्म, युग्म से भ्रूण, भ्रूण से अङ्ग-प्रत्यङ्ग से समन्वित शिशु के विकास के अध्ययनोपरान्त यह कहा जा सकता है कि मानव शरीर का क्रमशः विकास होता है। यदि शुक्र और शोणित का संयोग नहीं होगा, तो युग्म नहीं बनेगा। युग्म के अभाव में बीजाणु, बीजाणु के अभाव में भ्रूण, भ्रूण के अभाव में नेत्रादि अङ्ग-प्रत्यङ्गों से युक्त शिशु की उत्पत्ति नहीं होगी। ये सब क्रमशः एक-दूसरे पर आश्रित हैं।

माध्यमिक दर्शन में प्रतीत्यसमुत्पाद के चार प्रभेदों में से आध्यात्मिक प्रत्ययोपनिबन्ध प्रतीत्यसमुत्पाद में पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश और विज्ञान इन षड्धातुओं के समवाय से शरीर की उत्पत्ति स्वीकार की गई है। शरीर में पृथ्वी से काठिन्य, जल से अनुपरिग्रह, तेज से खाये-पीये का परिपाचन, वायु से श्वास-प्रश्वास सम्बन्धी क्रिया, आकाश से आन्तरिक अवकाश तथा विज्ञान से नामरूपात्मक अङ्कुर का उत्पाद होता है। इन प्रत्ययों के न रहने पर शरीर की उत्पत्ति नहीं होती किन्तु जब पृथ्वी आदि धातुयें अविकल होती है तब सभी के समवाय से शरीर की उत्पत्ति होती है।

जीवविज्ञान यह मानता है कि एक कोशिका से अन्य कोशिका के जन्म के समय प्रथम को यह ज्ञात नहीं होता कि उससे अन्य कोशिका जन्म ले रही है तथा न ही उत्पन्न कोशिका को यह ज्ञात होता है कि उसका जन्म अमुक कोशिका से हुआ है। ऐसे ही पृथ्वी आदि षड्धातुओं के अन्दर भी यह भाव उत्पन्न नहीं होता कि वे शरीर के अन्दर काठिन्यादि भावों को उत्पन्न कर रहे हैं तथा न ही शरीर को यह अनुभव होता है कि वह पृथ्वी आदि धातुओं से उत्पन्न है।

---

[669] Stillwell, Brian J., *The biology of Prenatal Development*, New Hampshire: The Endowment for Human Development, 2006, retrieved from http://www.ehd.org/resources_bpd_documentation.php?language=34, (Access date 5 March, 2016)

विज्ञान बीज संस्कार क्षेत्र में प्रतिष्ठित होकर, तृष्णा द्वारा सहलाते हुये, अविद्या द्वारा विभाजित होकर वृद्धि को प्राप्त होता है। प्रतिसन्धि में माता की कुक्षि में विज्ञान बीज से नामरूप अभिधेय अङ्कुर उत्पन्न होता है। यह नामरूप माता-पिता के संयोग एवं ऋतु समवाय से, हेतु प्रत्ययों के अवैकल्य होने पर ही विज्ञान से उत्पन्न होता है। यह नामरूप स्वतः, परतः, उभयतः, अनुभयतः, ईश्वरतः, प्रकृतितः, एककारणतः तथा अहेतुतः उत्पन्न नहीं होता। नामरूप से चक्षुरादि षडायतन, षडायतन से स्पर्श, स्पर्श से वेदना, वेदना से तृष्णा, तृष्णा से उपादान, उपादान से भव, भव से जाति और जाति से जरामरणादि दुःखस्कन्ध उत्पन्न होते हैं।
सुख-दुःखात्मक अनुभूतियों, मानवीय तृष्णाओं, भौतिक-अभौतिक द्वन्दों तथा अन्य विभिन्न सांसारिक पदार्थों के प्रति आकर्षण-विकर्षण से जन्म लेने वाला शिशु जरामरण पर्यन्त आवृत्त रहता है।

5.2. क्वाण्टम भौतिकी और प्रतीत्यसमुत्पाद

दर्शन और विज्ञान दोनों अन्तर्सम्बन्धित हैं। दोनों का ही लक्ष्य मानवीय जीवन को सुगम व सहज बनाना तथा मानव मस्तिष्क में उद्भूत विभिन्न जिज्ञासाओं का प्रशमन करना है। 16वीं-17वीं शताब्दी में यूरोप में कॉपर्निकस (1473-1543 ई.) तथा गैलीलियो (1564-1642 ई.) के शोधकार्यों ने जिस पारम्परिक भौतिकी का सूत्रपात किया, वह आइजेक न्यूटन (1642-1727 ई.) के गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त से चरमावस्था को प्राप्त हुई। कॉपर्निकस ने सूर्य को सौरमण्डल का केन्द्र बताते हुये, पृथ्वी द्वारा सूर्य की परिक्रमा करने का सिद्धान्त दिया। यद्यपि भारत में यह सिद्धान्त आर्यभट्ट[670] द्वारा कॉपर्निकस से लगभग हजार वर्ष पूर्व ही दिया जा चुका था, किन्तु वराहमिहिर की पारम्परिक आलोचनाओं[671] तथा *आर्यभटीय* के टीकाकारों यथा सूर्यदेव

[670] अनुलोमगतिर्नौस्थः पश्चत्यचलं विलोमगं यद्वत्। अचलानि भानि तद्वत् समपश्चिमानि लङ्कायाम्॥ *आर्यभटीयम् (परमेश्वराचार्यकृत भट्टदीपिका एवं सूर्यदेवयज्वकृत भट्टप्रकाशिका सहित'गंगा' भाषाभाष्योपेतम्)*, आर्यभट्ट, अनुवादक – सत्यदेव शर्मा, वाराणसी: चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2008, 4/6, पृ. 201

[671] वराहमिहिर के अनुसार यदि पृथ्वी घूमती तो पक्षी अपने घौंसलों में उड़कर वापिस नहीं आ सकते थे, क्योंकि इस बीच पृथ्वी के परिभ्रमण से उनके घौंसलों का स्थान बदल जायेगा। पृथ्वी को यदि गोल माना जायेगा तो उसके तल पर स्थित पर्वत, नदियाँ, नगरादि भूमि पर सपाट क्यों दिखाई देते हैं?

यज्वादि[672] द्वारा 'भू' को 'भं' लिखकर मूल श्लोकों में किये गये अर्थ परिवर्तन ने इस सिद्धान्त को काल कवलित कर दिया। जब आधुनिक विज्ञान पर शोध और अनुसन्धान हुये, तो विश्व का ध्यान आर्यभट्ट के सिद्धान्त पर गया। गैलीलियो ने खोजा की कि मुक्त रूप से गिरने वाली वस्तु का वेग उसके द्रव्यमान पर निर्भर नहीं होता। गैलीलियो ने घोषणा की कि भौतिकी के जो नियम पृथ्वी पर खोजे गये हैं, वे विश्व में अन्यत्र घटित होने वाली घटनाओं पर भी लागू होते हैं। गैलीलियो के इस विचार से प्रेरित होकर ही आइजेक न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण के नियम की खोज की। न्यूटन ने पार्थिव गुरुत्वाकर्षण को खगोलीय गुरुत्वाकर्षण के साथ एकीकृत कर, इसे समूचे विश्व में व्याप्त सिद्ध किया।[673]

आइजेक न्यूटन पर सत्रहवीं शताब्दी के फ्रेंच दार्शनिक रेने देकार्त (1596-1650 ई.) का प्रभाव था। रेने देकार्त के चिन्तन की पद्धति कार्टीसियन पद्धति (Cartesian Method) कहलाती है। इस पद्धति के अनुसार देकार्त सभी वस्तुओं के प्रति सन्देह प्रकट करता है। देकार्त की प्रसिद्ध उक्ति है कि "मैं चिन्तन करता हूँ, इसलिये मेरा अस्तित्त्व है।" इसे वह स्वयंसिद्ध वाक्य मानता है। कारण, जगत्, तत्त्व सम्बन्धी युक्तियों, स्पष्ट तथा विशिष्ट विचार युक्तियों से ईश्वर को सिद्ध करता है। वह चेतना और पदार्थ के द्वैत (Mind-Matter Dualism) को अपने दार्शनिक चिन्तन का आधार बनाता है।

फ्रित्जॉफ काप्रा के अनुसार चेतना और पदार्थ के इस कार्टेशियन विभाजन ने, वैज्ञानिकों को पदार्थ को निर्जीव और स्वयं से स्वन्त्र समझने के लिए प्रेरित किया। उन्हें इसके लिए भी प्रेरित किया कि वे भौतिक जगत् को अलग-अलग उपादनों या वस्तुओं के उस समूह के रूप में अवलोकित करे, जिसे एक विराट् यन्त्र या मशीन में संयोजित कर दिया गया है।[674] आइजेक

---

[672] आर्यभटीय के गीतिकापाद के श्लोक 6 में 'प्राणेनैति कलां भूः' के स्थान पर 'प्राणेनैति कलां भं' किया गया है। भं का अर्थ सूर्य कर उन्होंने पृथ्वी को स्थिर व सूर्य को गतिमान् कहा।

[673] मुळे, गुणाकर,*आइंस्टाइन और ब्रह्माण्ड (आ.ब्र.)*, दिल्ली: हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, प्रथम संस्करण, 2009, पृ. 287-88

[674] काप्रा, फ्रित्जॉफ, *भौतिकी का सतपथ (भौ.स.)*, अनुवादक – धर्मराज वाघेला, नई दिल्ली: न्यू एज बुक्स, प्रथम संस्करण, 2014, पृ. 30

न्यूटन ने रेने देकार्त की कार्टीसियन पद्धति को अपने शोध का आधार बनाया तथा इस जगत् की यान्त्रिक व्याख्या की। सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक, ब्रह्माण्ड का यह न्यूटनीय यान्त्रिक प्रादर्श सम्पूर्ण वैज्ञानिक चिन्तन का नियन्ता बना रहा। इस न्यूटनीय यान्त्रिक चिन्तन के समानान्तर एक ऐसे एकाधिपति ईश्वर की प्रतिमा गढ़ी गई, जो पारलौकिक सत्ता के रूप में, संसार का अपने नियमों के अनुरूप शासन करता था। वैज्ञानिकों ने प्रकृति के जिन आधारभूत नियमों का अन्वेषण किया, उन्हें अपरिवर्तनशील तथा सनातन ईश्वरीय नियमों के रूप में देखा गया, ऐसे नियम जिनके द्वारा विश्व नियन्त्रित होता है।[675]

न्यूटन से लगभग डेढ़ सौ साल बाद माइकेल फैराडे (1791-1867 ई.) ने विद्युत और चुम्बकत्व के बारे में कई महत्त्वपूर्ण तथ्य खोज निकाले। उन्होंने बताया कि चुम्बकों के गिर्द और विद्युत धारा प्रवाहित करने वाले तारों के गिर्द क्षेत्र होते हैं अर्थात् चुम्बकीय व विद्युत बलों की धारायें होती है।[676] जर्मन भौतिकविद हैनरिख हट्र्ज (1857-1894 ई.) ने विद्युत चुम्बकीय तरङ्गों के अस्तित्व को सिद्ध कर यह भी बताया कि ये तरङ्गें निर्वात में सञ्चरण करती है।[677] जेम्स क्लार्क मैक्सवेल (1831-1879 ई.) ने एक ओर फैराडे के विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र के सिद्धान्त की पुष्टि कर दी, तो दूसरी ओर अल्बर्ट आइंस्टाइन के अनुसन्धान के लिये मार्ग प्रशस्त किया।[678] मैक्सवेल ने यद्यपि यह सिद्ध कर दिया कि प्रकाश कणिकाओं से नहीं, वरन् तरङ्गों से निर्मित होता है तथापि इन तरङ्गों के आश्रयस्थल के रूप में एक अदृश्य माध्यम ईथर को स्वीकार किया।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में भौतिकी के क्षेत्र में व्यापक परिवर्तन दृष्टिगत होने लगे। माइकेल्सन और मॉर्ली ने 1887 ई. में सर्वव्याप्त ईथर को असिद्ध कर दिया।[679] रूंटगेन द्वारा

---

[675] *भौ.स.*, पृ. 30-31

[676] *आ.ब्र.*, पृ. 288

[677] वही, पृ. 289

[678] वही, पृ. 290

[679] मुळे, गुणाकर, *अल्बर्ट आइंस्टाइन (अ.आ.)*, दिल्ली: प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, प्रथम संस्करण, 2009, पृ. 74

1895 ई. में एक्स-रे की खोज, बेक्केरेल द्वारा 1896 ई. में यूरेनियम में रेडियोधर्मिता की खोज, जे.जे. टामसन द्वारा 1897 ई. में परमाणु के अन्दर इलेक्ट्रॉन की खोज, 1898 ई. में क्यूरी दम्पति द्वारा दो नये रेडियोधर्मी तत्त्व रेडियम और पोलोनियम की खोज आदि ने भौतिकी के क्षेत्र में नये युग का आरम्भ किया।

दिसम्बर 1900 में जर्मन वैज्ञानिक मैक्स प्लान्क (1858-1947 ई.) ने प्रकाश के स्वरूप का गहराई से अध्ययन करके **क्वाण्टम सिद्धान्त** की नींव रखी। प्लान्क निष्कर्ष पर पहुँचे कि तप्त पिण्डों से ऊर्जा का उत्सर्जन अखण्ड प्रवाह के रूप में नहीं, अपितु पृथक्-पृथक् पुञ्जों अथवा कणिकाओं में होता है, जिन्हें उन्होंने 'क्वाण्टा' का नाम दिया।[680] क्वाण्टा लैटिन भाषा का शब्द है, जो क्वाण्टम का बहुवचन है। क्वाण्टम ऊर्जा की मूलभूत ईकाई है तथा इसे विभाजित नहीं किया जा सकता। यह ऊर्जा का परमाणु है, जिसे फॉटोन के नाम से जाना जाता है। इसी क्वाण्टम के आधार पर आधुनिक भौतिकी को 'क्वाण्टम फिजिक्स' कहा गया। क्वाण्टम फिजिक्स का हिन्दी अनुवाद कणभौतिकी अथवा क्वाण्टम भौतिकी किया जा सकता है।

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के सम्मेलन केन्द्र में 'क्वाण्टम भौतिकी और माध्यमिक दार्शनिक दृष्टिकोण' विषय पर आयोजित सम्मेलन में (13 नवम्बर, 2015) प्रोफेसर सुन्दर सारूकाई ने क्वाण्टम भौतिकी और नागार्जुन के विचारों में समता स्थापित की। उन्होंने कण अथवा क्वाण्टम को नागार्जुन प्रोक्त चतुष्कोटिविनिर्मुक्त तत्त्व[681] के साथ संयुक्त करते हुये कहा कि क्या यह एक कण है? क्या यह एक कण नहीं है? क्या यह एक कण हैं और एक कण नहीं भी हैं? अथवा यह एक कण नहीं भी हैं और न ही कण हीन भी हैं?[682] क्वाण्टम की भाँति ही शून्य के सन्दर्भ में इन चारों वाक्यों को इस प्रकार देखा जा सकता है- क्या शून्य सत् है, क्या शून्य सत् नहीं है अर्थात् असत् है, क्या शून्य सत् है और सत् नहीं है, क्या शून्य सत् नहीं है और न ही असत्

---

[680] *अ.आ.*, पृ. 74-75

[681] न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्। चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः॥ *ज्ञा.स.*, 28, पृ. 100

[682] http://dalailamahindi.com/news/post/362---------- (Access date 26 January, 2016)

है। माध्यमिक सम्प्रदाय में शून्यता को ही प्रतीत्यसमुत्पाद कहा जाता है। अतः क्वाण्टम और प्रतीत्यसमुत्पाद एक जैसे अर्थों को ध्वनित करते हैं।

क्वाण्टम भौतिक शास्त्री जिसे क्वाण्टम कहते हैं, नागार्जुन की शब्दावली में उसे शून्य कहा जा सकता है। *माध्यमिककारिका* में नागार्जुन ने कहा है कि जिसके लिये शून्यता युक्तियुक्त है उसके लिये सब युक्तियुक्त है तथा जिसके लिये शून्य युक्तियुक्त नहीं उसके लिये कुछ भी युक्तियुक्त नहीं है।[683] आचार्य नागार्जुन समस्त दृष्टियों की अप्रवृत्ति को ही शून्यता कहा है। किन्तु जिनके लिये सत्, असत्, उभय अथवा अनुभय कोटि वाली शून्यता ही यदि दृष्टि बन जाये तथा बुद्धि की इन कोटियों के जाल में फँसे रहें, उनका कोई समाधान नहीं हो सकता।

नागार्जुन का यह कथन कि सत्य का मूल स्वभाव शून्यता है, एक नकारवादी के कथन से नितान्त भिन्न है। इसका आशय मात्र इतना है कि मानव मष्तिष्क द्वारा सत्य के सम्बन्ध में जो भी धारणायें अथवा सिद्धान्त रचे जाते हैं, वे अन्ततः शून्य हैं। सत्य या शून्यता स्वयं केवल कुछ नहीं होने की अवस्था न होकर सम्पूर्ण जीवन का मूल स्त्रोत और सभी रूपाकारों का सारतत्व है।[684]

आइंस्टाइन (1879-1955 ई.) ने 1905 में प्रकाश-विद्युत प्रभाव का सिद्धान्त (Theory of Photo-Electric Effect) प्रस्तुत किया, जिसने मैक्स प्लान्क की क्वाण्टम की अवधारणा को व्यापक एवं सुदृढ आधार प्रदान किया। आइंस्टाइन के अनुसार द्रव्य के साथ प्रतिक्रिया करते समय प्रकाश भी ऊर्जा के एक पुञ्ज या क्वाण्टम की तरह ही काम करता है और इसकी ऊर्जा इसकी आवृत्ति के अनुपात में रहती है। जब ऊर्जा का कोई क्वाण्टम किसी धातु के परमाणु से जा टकराता है, तो वह परमाणु एक निश्चित ऊर्जा के इलेक्ट्रॉन का उत्सर्जन करते हैं।[685] प्रकाश की तीव्रता का इलेक्ट्रॉनों की गतिज ऊर्जा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। प्रकाश की तीव्रता बढ़ाने से केवल उत्सर्जित इलेक्ट्रॉनों की संख्या बढ़ती है। प्रकाश विद्युत प्रभाव की व्याख्या प्रकाश को

---

[683] सर्वं च युज्यते तस्य शून्यता यस्य युज्यते। सर्वंन युज्यते तस्य शून्यं यस्य न युज्यते॥ *म.शा.*, 24/14, पृ. 25

[684] *भौ.स.*, पृ. 120

[685] वही, पृ. 76-77

तरङ्ग मानकर नहीं की जा सकती।[686] इस सिद्धान्त के अनुसार प्रकाश फॉटोन से बना है तथा प्रकाश का उत्सर्जन, अवशोषण एवं सञ्चरण क्वाण्टा में ही होता है। फोटोन प्रकाश अथवा विद्युत-चुम्बकीय विकिरण की ऊर्जा का सूक्ष्म कण अर्थात् क्वाण्टम है। इसी सिद्धान्त के लिये आइंस्टाइन को 1921 ई. का भौतिकी का नोबेल पुरस्कार मिला।

आइंस्टाइन ने 1905 में ही विशिष्ट आपेक्षिकता का सिद्धान्त (Special Theory of Relativity) भी प्रस्तुत किया। इसे विशिष्ट इसलिये कहा गया, क्योंकि इसमें आइंस्टाइन ने विशिष्ट स्थिति एक सीधी रेखा में एकसमान गति से दौड़ने वाली वस्तुओं का ही विवेचन किया है। आइंस्टाइन ने इसमें बताया है कि प्रकाश की सापेक्षिक गति एक-सी बनी रहती है, यह किसी अन्य वस्तु के सापेक्ष कभी नहीं बदलती। द्रव्यमान, आकाश (दिक्) और काल ये सभी गति के अनुसार बदलते हैं।[687] आइंस्टाइन ने द्रव्य तथा ऊर्जा को एक ही भौतिक सत्ता के दो पहलू स्वीकार किया। आइंस्टाइन ने द्रव्य और ऊर्जा के मध्य सम्बन्ध स्थापित करने वाला प्रसिद्ध समीकरण $\mathbf{E = MC^2}$ प्रस्तुत किया। इस समीकरण में ई (E) = ऊर्जा (Energy) है। एम (M) = पदार्थ अर्थात् द्रव्य (Matter) है तथा सी(C) = प्रकाश की गति (Speed of light = $3x10^8$) है। इस समीकरण से आइंस्टाइन ने सिद्ध किया कि यदि कोई तेज गति से गतिमान है, तो उसका द्रव्यमान ज्यादा होगा तथा कम आकाश घेरेगा। इसके साथ ही काल भी धीमा हो जायेगा। यदि यह गति प्रकाश की गति (3,00,000 किलोमीटर प्रति सेकेण्ड) के समीप होगी तो परिणाम उतने ही गहरे होंगे। अर्थात् प्रकाश की गति में गतिमान द्रव्य ऊर्जा में परिवर्तित हो जायेगा। 1916 ई. में आइंस्टाइन ने व्यापक आपेक्षिकता सिद्धान्त प्रस्तुत किया, जिसकी मूल धारणा यह है कि आकाश में निरपेक्ष गति (Absolute motion) जैसी कोई वस्तु नहीं है और एक तन्त्र के साथ दूसरे तन्त्र की केवल सापेक्षिक गति को ही भौतिक वास्तविकता माना जा सकता है।[688] आइंस्टाइन ने अपने जीवन के अन्तिम चरण में एकीकृत क्षेत्र सिद्धान्त (Unified Field Theory) जगत् के सम्मुख रखा। इस

---

[686] *भौ.स.*, पृ. 442

[687] *अ.आ.*, पृ. 80

[688] *आ.ब्र.*, पृ. 102

सिद्धान्त के अनुसार प्रकृति के सभी ज्ञात बलों यथा- गुरुत्वाकर्षण, विद्युत-चुम्बकीय, दृढ़ और क्षीण बलों को संयुक्त करने वाले समीकरण प्राप्त करने हेतु प्रयास करना था,[689] जिसमें आइंस्टाइन को आंशिक सफलता मिल पाई थी।

आइंस्टाइन द्वारा प्रयुक्त आपेक्षिकता का सिद्धान्त क्वाण्टम भौतिकी का प्रसिद्ध सिद्धान्त है। गौतम बुद्ध ने लगभग 2600 वर्ष पूर्व प्रतीत्यसमुत्पाद शब्द को लगभग इसी अर्थ में प्रयोग किया। कृष्णनाथ के अनुसार आपेक्षिकता को मानने से कुछ गम्भीर प्रश्न उठ खड़े होते हैं। अगर पाप–पुण्य एक दूसरे की अपेक्षा हैं, सत्य–असत्य, कुशल–अकुशल सापेक्षिक हैं, निरपेक्ष नहीं तो भी धर्म की व्यवस्था कैसे बन सकती है? यह प्रश्न आपेक्षिकता को स्वीकार करने पर उठते हैं।[690] इसका उत्तर नागार्जुन प्रतिपादित सत्यद्वय की अवधारणा में देखा जा सकता है। प्रतीत्यसमुत्पाद आपेक्षिकता का सिद्धान्त मात्र नहीं है। व्यवहारतः आपेक्षिकता है। परमार्थतः निःस्वभावता, तथता, शून्यता है। इस तरह माध्यमिक परम्परा में परमार्थ में सत्य–असत्य, पाप–पुण्य, कुशल–अकुशल, कुछ भी नहीं है किन्तु व्यवहार में इनकी व्यवस्था है।[691]

वर्नर हाइजनबर्ग (1901-1976 ई.) जर्मन भौतिकविद् थे, जिन्होंने अनिश्चितता का सिद्धान्त (Theory of Uncertainty) प्रस्तुत किया। इसके अनुसार यदि किसी मूल तत्त्व की स्थिति ज्ञात होती है तो उसका वेग अनिश्चित होगा और यदि उसका वेग ज्ञात होता है तो उसकी स्थिति अनिश्चित होगी। इसका मूल कारण ऊर्जा है क्योंकि इसी के कारण उसके वेग में अधिकता अथवा न्यूनता आ जाने पर उसकी स्थिति या वेग का निश्चित ज्ञान नहीं कर पाते।[692] क्वाण्टम भौतिकी ने आधारभूत रूप से पृथक् वस्तुओं की अवधारणा का उन्मूलन कर दिया है। प्रेक्षक के स्थान पर सहभागी की धारणा स्थापित कर दी है और वैश्विक वर्णन में मानवीय चेतना के समावेश को

---

[689] *आ.ब्र.,* पृ. 405

[690] *बौ.नि.*,पृ. 22

[691] वही, पृ. 22-23

[692] भटनागर, अनिल, *वेदांत व आईंस्टीन,* अनुवादक - देवेन्द्रकुमार अग्निहोत्री, वाराणसी: विश्वविद्यालय प्रकाशन, 1998, पृ. 37-38.

आवश्यक कर दिया है। इसने ब्रह्माण्ड को भौतिक तथा मानसिक सम्बन्धों के एक तानेबाने के रूप में देखा है, जिसके विभिन्न अंशों को सम्पूर्णता के साथ उनके सम्बन्धों के सन्दर्भ में ही परिभाषित किया जा सकता है।[693] डेविड बोम (1917-1992 ई.) ने यह बताया कि मनुष्य सर्वदा मानसिक, शारीरिक, सामाजिक और व्यक्तिगत पूर्णता को खोजता रहा है। इस सबसे यह इंगित होता है कि मनुष्य ने सदैव पूर्णता अथवा अखण्डता को अनुभूत किया है, जो जीवन को जीने योग्य बनाने के लिए परम आवश्यक है।[694] कण-भौतिकी ने यह सिद्ध कर दिया कि समग्र ब्रह्माण्ड में कोई भी तत्त्व स्वतन्त्र नहीं है, अपितु प्रत्येक तत्त्व एक-दूसरे से अन्तर्सम्बन्धित है। जब ब्रह्माण्ड के किसी एक तत्त्व अथवा परमाणु में हलचल होती है तो अखण्ड ब्रह्माण्ड उससे प्रभावित होता है। परमाणुओं का अन्तःसम्बन्ध ही समग्र जगत् का आधार है।[695]

क्वाण्टम भौतिकी का नकारात्मक पहलू यह है कि इसे सुगमता से किसी दूसरे को समझाया नहीं जा सकता। अनिश्चितताओं और विरोधाभासों से आपूर्ण इस सिद्धान्त का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बिन्दु यह है कि यह सिद्धान्त वस्तुनिष्ठ यथार्थ (Objective reality) पर ही प्रश्नचिन्ह लगाता है। प्रोफेसर एस. भट्टाचार्य ने दलाई लामा के साथ वार्तालाप करते हुये बताया कि क्वाण्टम भौतिकी के अनुसार किसी भी वस्तु का वस्तुनिष्ठ अस्तित्व नहीं है, जिसे सुनकर दलाई लामा ने क्वाण्टम भौतिकी और माध्यमिक दर्शन के बीच समानता देखी तथा नागार्जुन द्वारा दिये गये तर्क 'वस्तुओं का अस्तित्व मात्र उसके ज्ञापित रूप से है' को क्वाण्टम भौतिकी के साथ जोड़ा।[696] फ्रित्जॉफ काप्रा के शब्दों में क्वाण्टम थ्योरी में प्रेक्षणीय व्यवस्थाओं का वर्णन प्रायिकताओं द्वारा किया जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि हम सुनिश्चित रूप से कभी भी यह घोषित नहीं कर सकते हैं कि एक निश्चित समय पर अवपरमाणविक कण निश्चित रूप से कहाँ स्थित होगा या किस प्रकार

---

[693] *भौ.स.*, पृ. 167

[694] Man has always been seeking wholeness - mental, physical, social and individual. .....All of this indicates that man has sensed always that wholeness or integrity is an absolute necessity to make life worth living. Bohm, David, *Wholeness and the Implicate Order*, New York: Routledge, 1980, p. 3-4

[695] The movement of a single particle is connencted with the entire universe and therefore, the movement of any particle is a Holomovement. Hassija, B.K.Jagdish Chander, *Parallels between Science and Religion and Philosophy & science – A Critical Review*, Mount Abu: Brahma Kumaris World Spiritual University, First Edition, 1994.,P.10

[696] http://dalailamahindi.com/news/post/360---------- (Access date 26 January, 2016)

परमाणविक प्रक्रिया घटित होगी। हम सिर्फ सम्भावनायें ही दर्शा सकते हैं। उदाहरणार्थ आज ज्ञात अधिकांश अवपरमाणविक कण अस्थायी है अर्थात् कुछ समय पश्चात् ही वे अन्य कणों में विघटित या क्षरित हो जाते हैं। तथापि इस समय को निश्चित रूप से बतलाना सम्भव नहीं है।[697]

फ्रेंच विद्वान् मिशैल बितबॉल के अनुसार बौद्ध धर्म का उदय एक गम्भीर एवं मूलभूत अस्तित्वजनित चिन्ता से हुआ है तथा वे तत्त्वमीमांसीय कल्पना अथवा विचार में लिप्त नहीं होते। इसका उद्देश्य सिद्धान्तवादी न होकर चिकित्सीय (दुःख-मुक्ति) है। बौद्ध-दर्शन का ये संशयवादी झुकाव प्रासङ्गिक माध्यमिक दर्शन में प्रवर्धित हुआ, जहाँ शब्दों द्वारा व्यक्त किसी भी तात्त्विक दृष्टि को प्रासङ्गिक तर्कपद्धति से अपूर्ण अथवा रूढ़िगत प्रदर्शित करते हैं, जिससे परमार्थिक सत्य शब्दों की पकड़ से बाहर हो जाता है।[698] इसी प्रकार से क्वाण्टम भौतिकी भी तात्त्विक निर्वचन या तत्त्वमीमांसक व्याख्या में दृढ़तापूर्वक अनिच्छुक है। क्वाण्टम भौतिकी में अतिसूक्ष्म उपकरणों द्वारा अतिसूक्ष्म पैमाने पर प्रयोग होते है, जिससे अतिसूक्ष्म विश्व की वास्तविक सत्ता तथा उसके नियमों का पता चलता है।[699]

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि पारम्परिक भौतिकी (Classical Physics) ब्रह्माण्ड की व्याख्या यन्त्रवत् करता है। ये भारतीय न्याय दर्शन की भाँति ईश्वर और परमाणुओं में भेद करते हुये, परमाणुओं का आदि संयोग ईश्वर द्वारा स्वीकार करते हैं। एक बार ईश्वर द्वारा दो परमाणुओं का संयोग कराने के पश्चात् यह संसार निरन्तर गति करता रहता है। इसके विपरीत आइंस्टाइन व क्वाण्टम भौतिकी तथा गौतम बुद्ध एक पारम्परिक भौतिकी के समनन्तर विकल्प प्रस्तुत करते हैं। आइंस्टाइन और बुद्ध दोनों ही इस बात पर बल नहीं देते कि सृष्टि की उत्पत्ति

---

[697] *भौ.स.*, पृ. 156

[698] Bitbol, Michel. ``Quantum Entanglement and Interdependence: Examination of an Analogy.'' *Buddhism and Science.* Ed. Pabitrakumar Roy. Sarnath: Central University of Tibetan Studies, 2010. P. 54

[699] Ibid, P. 54

कैसे हुई, जैसा कि बेल्जियम के खगोलज्ञ एवं पादरी एडवर्ड जार्ज लैमित्रे (1894-1966 ई.) ने 1927 में 'बिग-बैंग सिद्धान्त[700]' देकर सृष्टि की उत्पत्ति को स्पष्ट किया।

आचार्य नागार्जुन पदार्थों की उत्पत्ति के स्थान पर उनकी निःस्वभावता को बतलाते हैं। उनके अनुसार कोई भी वस्तु न तो स्वतः अर्थात अपने कारण से उत्पन्न होती है, न ही परतः अर्थात् दूसरे कारण से उत्पन्न होती है। न ही उभय कारणों से उत्पन्न होती है तथा न ही बिना कारणों के उत्पन्न होती है।[701] आधुनिक भौतिकविदों की तरह बौद्ध भी, सभी वस्तुओं को एक ब्रह्माण्डीय प्रवाह में प्रक्रियाओं के रूप में देखते हैं और पदार्थीय तत्त्व के अस्तित्व को अस्वीकार करते हैं। यह अस्वीकृति बौद्ध दर्शन के सभी सम्प्रदायों की अत्यन्त महत्वपूर्ण विशेषता है।[702]

इस प्रकार क्वाण्टम भौतिकी के नवीन अनुसन्धानों ने कार्य-कारणवाद के परम्परागत सिद्धान्तों के स्थान पर आपेक्षिकता तथा अन्योन्याश्रयता जैसे शब्दों को स्वीकार किया है। वस्तु को ठोस एवं सगुण स्वरूप के स्थान पर प्रवाह अथवा घटना के रूप में देखा जा रहा है। क्वाण्टम भौतिकी के युग में भी विज्ञान अपनी मूल वस्तुवादी वासना से छूट नहीं पा रहा है। द्रव्य की अन्तिम इकाई की खोज की जा रही है। अणु के खण्डन के बाद भी और खण्डन चल रहा है। कृष्णनाथ के शब्दों में अन्ततः वस्तु जड़ और चेतन रूप न होकर नाममात्र है। व्यवहार मात्र की सत्ता है, किन्तु परमार्थतः निःस्वभावता, तथता अथवा शून्यता है। इस अद्वय से जगत् और जीवन की व्याख्या हो सकती है, यह पाश्चात्य विज्ञान और समाजविज्ञान की पकड़ में नहीं आ रहा है।

---

[700] इस सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति 15 अरब वर्ष पूर्व हुई। प्रारम्भ में यह विश्व अत्यन्त घनीभूत स्थिति में परमाणु से भी छोटा अतिसूक्ष्म कण था, जो बाद में ठण्डा होने पर फुटबॉल के समान रूप में परिवर्तित हो गया। इसमें अचानक एक महा विस्फोट हुआ जिससे अति सघन पिण्ड छिन्न-भिन्न हो गया और टूटे हुए अंश अन्तरिक्ष में दूर-दूर छिटक गये। वे वहाँ अभी तक हजारों किलोमीटर प्रति सेकण्ड की दर से गतिमान हैं। इन्ही गतिशील अंशों से आकाशगंगायें निर्मित हुई। यह सतत् सृष्टि सिद्धान्त है जिसके अनुसार पुरानी आकाशगङ्गाओं के एक दूसरे से दूर हो जाने के कारण उत्पन्न रिक्त स्थल में नई आकाशङ्गाओं का प्रादुर्भाव होता चलता है। ये नई आकाश गङ्गायें नये पदार्थों से पैदा होती चलती हैं।

[701] न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः। उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन॥ *म.शा.*, 1/3, पृ. 1

[702] *भौ.स.*, पृ. 238

दोनों अन्त नहीं; जड़-चेतन, मन-देह, देश-काल, मात्रा-ऊर्जा का द्वैत व्यवहारमात्र के लिए है। परमार्थतः नहीं है।[703]

प्रतीत्यसमुत्पाद समस्त प्रपञ्चों से रहित अद्वय तक पहुँचने का एक मार्ग है। कार्य-कारण के रूप में प्रतीत्यसमुत्पाद जगत् की व्याख्या करता है। इसके अनुलोमात्मक ज्ञान से क्रमशः अविद्या प्रत्यय से विज्ञान, विज्ञान प्रत्यय से संस्कार, संस्कार प्रत्यय से नामरूप, नामरूप प्रत्यय से चक्षुरादि षडायतन, षडायतन प्रत्यय से स्पर्श, स्पर्श प्रत्यय से वेदना, वेदना प्रत्यय से तृष्णा, तृष्णा प्रत्यय से उपादान, उपादान प्रत्यय से भव, भव प्रत्यय से जाति और जाति प्रत्यय से जरामरणादि दुःखस्कन्ध उत्पन्न होते हैं। इसे भवचक्र कहा जाता है। इस भवचक्र के सम्यक् ज्ञान से यह भवचक्र प्रतिलोमात्मक क्रम से निरोध को प्राप्त होता है अर्थात् रुक जाता है। प्रतीत्यसमुत्पाद सांसारिक प्राणियों के न केवल दुःखों के उत्पाद को दिखाता है, अपितु उनके निरोध को भी सूचित करता है। वस्तुओं के निःस्वभाव दर्शन से जरामरणादि दुःखों से मुक्ति सम्भव है।

5.3. गहन पारिस्थितिकी और प्रतीत्यसमुत्पाद

क्वाण्टम भौतिकी के सिद्धान्त के फलीभूत जीव-वैज्ञानिकों ने भी ये निष्कर्ष निकाला कि मनुष्य और प्रकृति का अन्तर्सम्बन्ध केवल दोहक-दोहित, उपभोगक-उपभोग्य का नहीं हो सकता, अपितु परस्पर अन्योन्याश्रितता का है। फ्रित्जाफ काप्रा के अनुसार स्वयं वस्तुओं की अपनी कोई इयत्ता नहीं है। अपने अस्तित्त्व और प्रकृति को वे पारस्परिक निर्भरता से ग्रहण करती है।[704]

वैज्ञानिक स्तर पर मानव तथा पर्यावरण के अन्तर्सम्बन्धों का अध्ययन करने के लिये क्वाण्टम भौतिकी से पूर्व ही 'पारिस्थितिकी (Ecology)' का जन्म हो चुका था। इसे 'एन्वायरनमेंटल बायोलॉजी (Environmental Biology)' भी कहा जाता है। पारिस्थितिकी एक ऐसा विज्ञान है,

---

[703] *बौ.नि.*, पृ. 16

[704] *भौ.स.*, पृ. 163

जिसमें एक तरफ प्राकृतिक पारिस्थितिकी तन्त्र के जैविक और अजैविक घटकों के अन्तर्सम्बन्धों तथा दूसरी ओर जीवों के परस्पर सम्बन्धों का अध्ययन किया जाता है।[705] सरल शब्दों में कहे तो इसमें जीवों और वातावरण के पारस्परिक सम्बन्धों, वातावरण के जीवों पर पड़ने वाले प्रभावों तथा जीवों की गतिविधियों के वातावरण पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन किया जाता है।

इकोलॉजी अर्थात् पारिस्थितिकी शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम 1866 ई. में जर्मन के जीवविज्ञानी अर्नेस्ट हैकल (1834-1919 ई.) ने किया। बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पारिस्थितिकी में भी जीव की भाँति प्रकृति के स्वाभाविक प्रवाह को समझने तथा प्रकृति के स्वच्छन्द परिवेश को जानने का अध्ययन भी प्रारम्भ हुआ।

नॉर्वे के जीवविज्ञानी अर्ने नैस (1912-2009 ई.) ने 1973 में ओस्लो की शोध-पत्रिका 'इन्क्वायरी (Inquiry)' में प्रकाशित अपने शोध-पत्र 'द शैलो एण्ड द डीप, लांग रेंज इकोलॉजी मूवमेन्ट्स: ए समरी (The Shallow and the Deep, Long-Range Ecology Movement: A Summary)' में पारिस्थितिकी को अध्ययन की अपेक्षा आन्दोलन का रूप प्रदान किया तथा इसे दो भागों 'सतही पारिस्थितिकीय आन्दोलन (The Shallow Ecology Movement)' और 'गहन पारिस्थितिकीय आन्दोलन (The Deep Ecology Movement)' में विभक्त किया।[706]

जहाँ सतही पारिस्थितिकी मानव के हित को पर्यावरणीय विमर्श के केन्द्र में रखकर अध्ययन की ओर अग्रसर होता है, वहीं गहन पारिस्थितिकी के पर्यावरणीय विमर्श का आधार मानव हित की अपेक्षा समग्र पारिस्थिकी तन्त्र है, जिसमें मानव भी सम्मिलित है। सतही पारिस्थितिकी आन्दोलन में जहाँ हम प्रदूषण और संसाधनों की कमी से संघर्ष करते हैं तथा हमारा मुख्य उद्देश्य

[705] Ecology is a science that studies interrelationship between biotic and abiotic components of a natural ecosystem on one hand and among organisms on the other hand. Singh, Savindra, *Environmental Geography*, Allahabad: Prayag Pustak Bhawan, 1991, p. 47

[706] Naess, Arne "The Shallow and the Deep, Long-Range Ecology Movement: A Summary", 1973, (Original Published in Inquiry from Oslo) *The Deep Ecology Movement: An Introductory Anthology* edited by Alan Drengson and Yuichi Inoue, Berkeley: North Atllantic Books, 1995, p. 3

स्वास्थ्य और विकसित देशों के लोगों की समृद्धि है,[707] वहीं अर्ने नैस द्वारा गहन पारिस्थितिकी आन्दोलन को 7 बिन्दुओं में वर्गीकृत किया है[708], जो निम्न हैं-

- पर्यावरण में मनुष्य सम्बन्धित छवि की अस्वीकृति और समग्र-क्षेत्र की छवि (Rejection of the human-in-environment image in favor the relational, total-field image.)
- सिद्धान्त में जीवमण्डलीय समतावाद (Biospherical egalitarianism-in principle.)
- विविधता और सहजीविता का सिद्धान्त (Principles of diversity and of symbiosis.)
- वर्गीय दिखावे का विरोध (Anti-class posture.)
- प्रदूषण और संसाधनाभाव के विरुद्ध संघर्ष (Fight against pollution and resource depletion.)
- सम्मिश्रतता, जटिलता का अभाव (Complexity, not complication.)
- स्थानीय स्वायत्तता और विकेन्द्रीकरण (Local autonomy and decentralization.)

अर्ने नैस द्वारा गहन पारिस्थिकीय आन्दोलन की जो रूपरेखा दी गई है, उसमें मानव की परम्परागत पर्यावरण के केन्द्र की छवि के स्थान पर उसे भी समग्र-क्षेत्र के अवयव की तरह प्रस्तुत करने को कहा गया है। जीव मण्डल में कोई भी जीव छोटा-बड़ा नहीं है। सभी समान हैं। इस जीवमण्डल में चींटी भी उतनी समान है, जितना हाथी। मानव भी इस समतावाद से परे नहीं हैं। वह भी इस जीवमण्डल का एक घटक है। इस जीवमण्डल में विविधता है, अतः सभी सहजीविता के सिद्धान्त के साथ ही इसमें रहते हैं। विभिन्न जीवविज्ञानियों ने जो पशु-पक्षियों के वर्ग बनायें हैं, वे व्यावहारिक स्तर पर वर्गवाद को बढ़ावा देते हैं। मनुष्य स्वयं को उनसे उच्च समझने लगता है। यह आन्दोलन प्रदूषण और संसाधनों की कमी के विरुद्ध संघर्ष की भी बात करता है। गहन पारिस्थितिकीय चिन्तन समग्र पर्यावरण के साथ सम्मिश्रतता को स्वीकार करते हुये उसकी सरल व्याख्या करता है। यह आन्दोलन स्थानीय स्वायत्तता और विकेन्द्रीकरण की मांग करता है, जिससे स्थानीय स्तर पर भी पर्यावरणीय सजगता विकसित हो।

---

[707] The Shallow Ecology movement: Fight against pollution and resource depletion. Central objective: the health and affluence of people in the developed countries. *The Deep Ecology Movement: An Introductory*, p. 3

[708] Ibid, p. 3-8

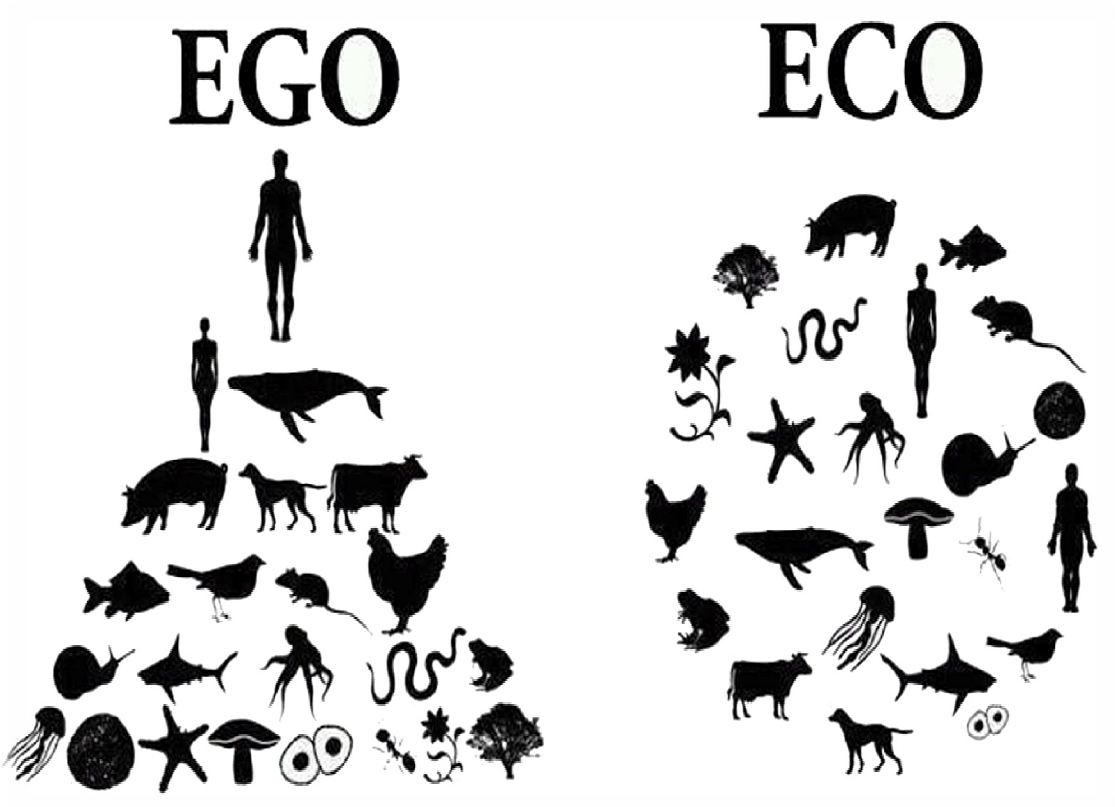

चित्र 5.2 (पर्यावरण के द्विविध रूप)[709]

चित्र सङ्ख्या 5.2 में दो अवस्थायें 'इगो' और 'इको' दर्शायी गई हैं। दोनों ही पर्यावरण के दो भिन्न-भिन्न पहलुओं को बतलाते हैं। इगो में पुरुष को सबसे ऊपर तथा स्त्री एवं अन्य जीवों को उसके नीचे दिखाया गया है। इगो अर्थात् अहम् की अवस्था न केवल पर्यावरण के लिये, अपितु समस्त मानव समुदाय के लिये भी खतरनाक है। क्योंकि इससे मानव प्रकृति का दोहन शुरू कर देता है, जिससे न केवल पारिस्थितिकी तन्त्र प्रभावित होता है, वरन् वह स्वयं भी प्रदूषण व तापमान जैसी समस्याओं से ग्रसित होता है। इगो के समनन्तर इको का चित्र है। इस चित्र में सभी जीव-जन्तुओं, मनुष्यों और वृक्षों को चक्र के रूप में दिखाया गया है। यह सिद्धान्त सहजीविता को पुष्ट करता है। यही गहन पारिस्थितिकीय चिन्तन का आधार है।

[709] http://www.ecohustler.co.uk/wp-content/uploads/2011/06/Ego-2-Eco.jpg (Access date – 23 June, 2015)

बौद्ध धर्म की शिक्षा के अनुसार प्राकृतिक पर्यावरण और उसमें रहने वाले जीवों के बीच एक निकट की अन्योन्याश्रितता है। प्रतीत्यसमुत्पाद के माध्यम से भी तथागत बुद्ध ने प्रत्येक प्राणी को एक-दूसरे से अन्तर्सम्बन्धित माना है। निरञ्जना नदी के किनारे तथा पीपल वृक्ष के नीचे सिद्धार्थ सम्यक् सम्बुद्ध हुये। प्रतीत्यसमुत्पाद का प्रथम उपदेश सारनाथ में दुःखादि चार आर्यसत्यों के माध्यम से बुद्ध ने सारनाथ के मृगदाय वन में पाँच भिक्षुओं को दिया। बुद्ध जीवन के विभिन्न पक्ष यथा जन्म, ज्ञान, धम्मचक्रप्रवर्तन, महापरिनिर्वाणादि का चित्रण प्रकृति के मध्य में ही किया गया है। प्राकृतिक सहजीविता के आधार पर बुद्ध ने सभी के साथ मैत्री की देशना की है।

चित्र 5.3 (बुद्ध जीवन के चित्र और पर्यावरण)[710]

[710] http://4.bp.blogspot.com/-qd6cI7AnZy0/Tciqm8z-NOI/AAAAAAAAAOk/vwzEdPoioDE/s1600/Birth-Enlightenment-Parinirvana.jpg (Access date – 01 July, 2016)

दलाई लामा अपनी पुस्तक *माई टिबेत* में कहते हैं कि मानवों की प्रवृत्ति अहिंसक है। जहाँ तक मनुष्य के जीवित रहने का प्रश्न है, तो मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। जीवित रहने के लिए उसे साथी की आवश्यकता होती है। अन्य मनुष्यों के अभाव में जीवित रहने की सम्भावना हो ही नहीं सकती, यह प्रकृति का नियम है।[711] यही कारण है कि मनुष्य समाज में रहते हुए, न केवल मानवों के बारें में अपितु अपने पर्यावरण के बारें में भी चिन्तन-मनन करता है। जब प्रज्ञावान् मानव पशु, पक्षी, कृमि, चींटी, मधुमक्खी इत्यादि अनगिनत जीवों को प्राकृतिक नियमों से जीवन-यापन करते हुए तथा वृक्ष, पादपादि को अवरोधरहित बढते हुए, विकसित होते हुए, पुष्पित एवं पल्लवित होते हुए देखता है तो उसका हृदय सद्भाव से गद्गद हो जाता है। सभी सामान्य मनुष्यों के पास बुद्धि और मानवीय प्रज्ञा होते हुए भी वह करुणावान और समदर्शी क्यों नहीं होता? ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा है कि मानव प्रायः मानवीय प्रज्ञा का उपयोग गलत तरीके से या गलत दिशा में करते हैं। जिसके परिणाम स्वरूप मनुष्य कुछ ऐसे कार्य कर रहे हैं जो मूल मानवीय स्वभाव के विपरीत हैं। इन सबके केन्द्र में तृष्णा है।

तथागत बुद्ध का कहना है कि प्रमादी मनुष्य की तृष्णा लता (मालुव) की भाँति बढ़ती है तथा फल की इच्छा करता हुआ वह वन में वानर की भाँति विचरण करता है।[712] भौतिक वस्तुओं के प्रति स्नेह तथा अत्यधिक सङ्ग्रह रूपी लाभ आदि की तृष्णाओं के कारण लोक अर्थात् हृदयस्थ सांसारिक वासनाओं तथा इच्छाओं का परित्याग नहीं हो पाता।[713] सुख से मोहित मन की जिस-जिसमें आसक्ति अर्थात् रति होती है, वह-वह सहस्रगुणित दुःख से पूरित होकर उपस्थित होता है।[714] भौतिक वस्तुओं के प्रति आकर्षित मानवीय तृष्णा की अभिवृद्धि ने निरन्तर पर्यावरण प्रदूषण को बढ़ाया है। 'एक से दो', 'दो से चार', 'चार से आठ' की चाह ने मानवीय लोलुपता को

---

[711] Lama, H.H.14th Dalai. *My Tibet.* Berkeley: University of California Press, 1995, p. 53

[712] मनुजस्स पमत्तचारिनो तण्हा वड्ढति मालुवा विय। सो फलवती हुराहुरं फलमिच्छं व वनस्मि वानरो॥ *ध.प.*, 334, पृ. 55

[713] स्नेहान्न त्यज्यते लोको लाभादिषु च तृष्णया। *बोधि.*, 8.3, पृ. 162

[714] यत्र यत्र रतिं याति मनः सुखविमोहितं। तत्तत् सहस्रगुणितं दुःखं भूत्वोपतिष्ठति॥ वही, 8.18, पृ. 166

गलत दिशा में मोड़ दिया है। भौतिक वस्तुओं के संकलन को हम विकास की सञ्ज्ञा देने लगे हैं। किसी भी देश की आर्थिक उन्नति उसके उत्पादन तथा वितरण पर निर्भर होने लगी है। इस प्रकार के विकास तथा इससे उत्पन्न प्रदूषण से न केवल पर्यावरणीय जीव-जन्तुओं और वनस्पतियों की कई नस्लें विलुप्त हुई हैं, अपितु कई मानवीय नस्लें भी समाप्त हो चुकी हैं। अण्डमान की जारबा आदिवासी जाति इसका उदाहरण है।

यदि प्रतीत्यसमुत्पाद के सन्दर्भों में तृष्णा के बारे में बात की जाये, तो इसका जन्म वेदना प्रत्यय से होता है। वेदना तीन प्रकार की होती है- सुखद वेदना, दुःखद वेदना और अनुभय अर्थात् न सुखद एवं न दुःखद वेदना। यदि सुखद वेदना उत्पन्न होती है, तो उसके प्रति प्राप्ति की तृष्णा बढती जाती है। ऐसे ही दुःखद वेदना के अभिवृद्धि किसी से असम्पृक्त होने की तृष्णा में अभिवृद्धि करती है। अनुभय वेदना से भी आरुप्यतृष्णा में वृद्धि होती है। वेदना जन्य तृष्णा को रोकने का एक ही उपाय है, इस वेदना का निरोध करना, क्योंकि वेदनाओं का जन्म स्पर्श से होता है। चक्षुरादि इन्द्रियों के द्वारा रूपादि विषयों को स्पर्श करने की भावना उत्पन्न होती है। इस स्पर्श को चक्षुरादि इन्द्रियों के निरोध से रोका जा सकता है। इस प्रकार षडायतन को नामरूप के निरोध से, नामरूप को विज्ञान के निरोध से, विज्ञान को संस्कार के निरोध से और संस्कार को अविद्या के निरोध से रोका जा सकता है।

गहन पारिस्थितिकी आन्दोलन के जनक अर्ने नैस ने जो सात बिन्दु इस आन्दोलन की दिशा में बतायें हैं, आज वे प्रासङ्गिक ही नहीं, वरन् आवश्यक है। मानव तथा पर्यावरण को समग्रता के सन्दर्भों में देखना आवश्यक है। आज जीवमण्डलीय समानता, विविधता, सहजीविता, सम्मिश्रतता, स्थानीय स्वायत्तता, विकेन्द्रीकरण जैसे सिद्धान्तों को न केवल अङ्गीकार करने की, अपितु क्रियान्वयन की आवश्यकता है। प्रदूषण से पर्यावरण के संरक्षण के लिये एवं संसाधनों को भविष्य की पीढियों के लिये उपलब्ध कराने के लिये एक संघर्ष की आवश्यकता है, जिसका आरम्भ प्रत्येक मनुष्य को स्वयं से करना पड़ेगा। एक से दो, दो से चार, चार से आठ आदि इस प्रकार सतत परिवर्तन का विकास होगा। बौद्ध इस सतत परिवर्तन को संसार शब्द से अभिहित

करते हैं जिसका शाब्दिक अर्थ अनवरत रूप से गतिशील रहना है। उनकी यह मान्यता है कि इस संसार में ऐसा कुछ भी नहीं है जो आसक्ति योग्य है। बौद्धों के अनुसार जो जीवन प्रवाह का प्रतिकार न करते हुए उसके साथ गति करता है वही ज्ञानी है।[715]

क्या हम अपनी आने वाली पीढ़ी को एक ऐसा जगत् छोड़कर जायेंगे, जहाँ वे उन्मुक्त ढंग से अपने परिवेश और पर्यावरण के बारें में चिन्तन-मनन कर सकेंगे, बहती हवा से उड़ते हुए पत्तों को देख सकेंगे, पुष्पों के कुसुमन तथा फलों के आगमन को अपनी नजरों से निहार सकेंगे, सूर्यातप के कारण उष्ण होते तथा चन्द्रमा की चन्द्रिका में शीतल होते जल को अनुभूत कर सकेंगे, झरनों के गिरने से तथा नदियों के बहने से उत्पन्न जल की कलकल ध्वनि को सुन सकेंगे, भालू, बन्दर, शेर, चीता इत्यादि पशुओं, तितलियों, मधुमक्खियों जैसे कृमियों गौरेया, मोर, तोता इत्यादि पक्षियों को देख सकेंगे अथवा अपने हाथों से लगाये गये नन्हें पादपों को बढते हुए देख सकेंगे या नहीं - यह प्रश्न आज विचारणीय है। यदि जीवन में हमने 'प्रकृति के न्यूनतम दोहन अधिकतम सरंक्षण' को शीघ्रातिशीघ्र स्वीकार नहीं किया तो आने वाले समय में हमारी पीढ़ीयों को डायनासोर की भाँति कई जीवों को केवल पुस्तकों में पढ़ने में ही मिलेगा।

5.4. गाया परिकल्पना और प्रतीत्यसमुत्पाद

ब्रिटिश वैज्ञानिक जेम्स लवलॉक ने नासा (NASA – National Aeronautics and space Adminstration) के लिये शोध कार्य करते हुये 1960 ई. के दशक में गाया परिकल्पना (Gaia Hypothesis) को जन्म दिया। '*एटमॉस्फेरिक एन्वायरमेंट पत्रिका*' में 1972 ई. में जेम्स लवलॉक का "वातावरण के द्वारा दृश्य गाया" (Gaia as seen through the atmosphere) विषयक लघु लेख प्रकाशित हुआ, जिसने विश्व के सम्मुख एक नवीन गाया अवधारणा को चर्चा का विषय बनाया। 1974 ई. में अपनी सहयोगी लिन मारगुलिस के साथ '*टेलअस*' में एटमॉस्फेरिक होम्योस्टेसिस बाइ एण्ड फॉर द बायस्फेर – द गाया हाइपोथिसिस (Atmospheric homeostasis by and for the biosphere- The Gaia hypothesis) के नाम से एक नवीन पत्र

[715] *भौ.स.*, पृ. 224

प्रकाशित किया, जिसके पश्चात् गाया परिकल्पना एक वैज्ञानिक सिद्धान्त के रूप में स्थापित होने लगी। इसे व्यवस्थित रूप तथा वैज्ञानिक जगत् में सैद्धान्तिक स्वीकृति 1979 ई. में जेम्स लवलॉक की पुस्तक *गाया: ए न्यू लुक एट लाइफ ऑन अर्थ* के प्रकाशित होने पर ही मिली।

जेम्स लवलॉक के पृथ्वी सम्बन्धी निष्कर्षों को उनके उपन्यासकार मित्र विलियम गोल्डिन्ग ने 'गाया' शब्द से अभिहित करने का सुझाव दिया, जिसे पृथ्वी की प्राचीन ग्रीक देवी से सम्बन्धित माना गया।[716] जेम्स लवलॉक ने पृथ्वी को जीवित ग्रह के रूप में सिद्ध किया। उन्होंने बताया कि भौतिक, रासायनिक, जैविक और मानव घटकों से संयुक्त पृथ्वी एक आत्म विनियमन व्यवस्था के तौर पर व्यवहार करती है।[717]

चित्र 5.4 (गाया परिकल्पना में पृथ्वी)[718]

गाया परिकल्पना के अनुसार अखण्ड विश्व एक-दूसरे से अन्तर्सम्बन्धित है। यह परिकल्पना मानव की आवश्यकता व विकास और वातावरण की गुणवत्ता के मध्य सन्तुलन स्थापित करने

[716] Lovelock, James. *Gaia: A new look at life on earth*. Oxford: Oxford University Press, 1979. p. vii

[717] The Earth System behaves as a single, self-regulating system with physical, chemical, biological, and human components. Lovelock, J.E. "Gaia as seen through the atmosphere". *Atmospheric Environment* **6** (8) 1979: p. 579–580. retrieved from http://www.jameslovelock.org, (Access date 23 march, 2016)

[718] https://infosdunouveaumonde.files.wordpress.com/2015/09/vague.jpeg (Access date – 01 July, 2016)

की आवश्यकता पर बल देती है। गाया परिकल्पना के अनुसार पृथ्वी की पारिस्थितिकी में समस्त जीव-जन्तु, वृक्ष-वनस्पतियाँ, नदी, पर्वत, मनुष्य इत्यादि समान हैं तथा एक तन्त्र के रूप में गुम्फित हैं। पृथ्वी पर घटित होने वाली कोई भी घटना जितना स्वयं पृथ्वी को प्रभावित करती है, उतना ही वह अन्य जीव-जन्तुओं आदि को भी प्रभावित करती है। इस प्रकार पृथ्वी तथा पारिस्थितिकी के अन्य अवयव परस्पर अन्तर्सम्बन्धित है।

सामान्य जीवन में मनुष्य संसार को पृथक् - पृथक् वस्तुओं और घटनाओं के रूप में विभाजित करके देखता हैं। यद्यपि यह विभाजन मानवीय दैनिक जीवन में उपयोगी और आवश्यक है, तथापि यह 'यथार्थ' का मूलभूत लक्षण नहीं है। यह मानव की विभेदकारी तथा वर्गीकरण करने वाली बुद्धि की अमूर्तता है और यह विश्वास करना कि पृथक् - पृथक् वस्तुओं और घटनाओं सम्बन्धी अमूर्त्त अवधारणायें ही प्रकृति की वास्तविकतायें हैं, एक सम्भ्रम है।[719] गौतम बुद्ध ने द्वादशाङ्ग सिद्धान्त में इस प्रकार की विभेदकारी बुद्धि को अविद्या कहा है।

गाया परिकल्पना से पूर्व जैविक और भौतिक पर्यावरण को पृथक् – पृथक् माना जाता था। किन्तु गाया परिकल्पना के पश्चात् जैविक व भौतिक पर्यावरण में अन्तर्सम्बन्ध स्थापित हुआ। समकालीन सन्दर्भों में यदि पर्यावरण को देखा जाये, तो मानव ने जैविक और भौतिक दोनों को ही क्षत-विक्षत किया है। तापमान की वृद्धि, ग्रीनहाउस गैसों के उत्सर्जन, महासागरों की परिवर्तनशील संरचनाओं, वनों और हरित-प्रदेशों के क्षरण तथा हिम के द्रवित होने से पृथ्वी निरन्तर प्रभावित हो रही है। जेम्स लवलॉक का मत है कि यदि हम पृथ्वी की सुरक्षा करने में असफल हैं, तो पृथ्वी भी हमारी रक्षा अधिक समय तक नहीं कर सकती।[720]

आचार्य नागार्जुन ने *मूलमाध्यमिककारिका* में कर्त्ता और कर्म के अन्योन्य सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुये कहा है कि कर्त्ता कर्म पर निर्भर है और कर्म उसी कर्त्ता पर निर्भर है। इन दोनों की सिद्धि

---

[719] *भौ.स.*, पृ. 154

[720] If we fail to take care of the Earth, it surely will take care of itself by making us no longer welcome. Lovelock, J.E. *The Revenge of Gaia: Earth's Climate Crisis and the Fate of Humanity*, New York: Basic Books, 2007. p.3

किसी अन्य कारण से नहीं हो सकती।[721] कर्त्ता और कर्म परस्पर सापेक्ष हैं। ये दोनों एक-दूसरे से उसी प्रकार अन्योन्य ढंग से सम्बन्धित हैं, जैसे लवलॉक की गाया परिकल्पना में पृथ्वी तथा अन्य जैविक और भौतिक पदार्थ।

पारम्परिक भौतिकी तथा रेने देकार्त की कार्टीसियन पद्धति का परिणाम यह हुआ कि शरीर से पृथक् स्वयं को एक अलग ईकाई के रूप में देखने लगे। फ्रित्जाफ काप्रा के शब्दों में प्रत्येक व्यक्ति का उसके कार्यकलापों, प्रतिभा, भावनाओं, विश्वासों इत्यादि के अनुसार भागों-प्रभागों में विभाजन कर दिया गया। कार्यकलाप, प्रतिभा, भावना और विश्वास आधारित इस विभाजन से एक अन्तहीन संघर्ष अनवरत रूप से व्याप्त है जो आधिभौतिक ऊहापोह और नैराश्य को जन्म देता है।[722] मनुष्य के आन्तरिक मनोभावों का प्रभाव उसके बाह्य जगत् पर भी प्रतिबिम्बित होता है। मानव ने संसार को अलग-अलग वस्तुओं और घटनाओं के एक समूह के रूप में प्रस्तुत किया। मनुष्य की इस तरह की चिन्तन पद्धति ने न केवल प्राकृतिक पर्यावरण को हानि पहुँचाई, अपितु मानव समाज को राष्ट्रों, जातियों, धार्मिक और राजनैतिक समूहों में वर्गीकृत कर दिया।

'क्वाण्टम भौतिकी और माध्यमिक दार्शनिक दृष्टिकोण' विषयक सम्मेलन में (13 नवम्बर, 2015) प्रोफेसर आर्थर ज़ाजोंक ने कहा कि इस समय जब हम विश्व में हो रही दुःखभरी घटनाओं को देखते हैं, तो रोने लगते हैं और प्रार्थना करते हैं। इनसे कुछ बहुत अधिक प्राप्त न होगा। इन समस्याओं में से अधिकांश मानव निर्मित थीं। इसलिये स्वाभाविक रूप से उन्हें मानव समाधान की आवश्यकता है।[723] प्रतीत्यसमुत्पाद की दृष्टि से इस प्रकार की अवस्था को अविद्या कहा जाता है। माध्यमिक मत में तत्त्व के प्रति मिथ्या प्रतिपत्ति ही अविद्या कहलाता है। रेने देकार्त की भाँति चिन्तन करने वाला व्यक्ति माध्यमिक की शब्दावली में अज्ञानी ही कहा जा सकता है, क्योंकि वह भी अनात्म को आत्म, क्षणिक को स्थाई, अभाव को भाव समझता है तथा स्वयं द्वारा समझे गये ज्ञान से गर्भित होता रहता है। वह सत्य को नहीं देख पाता है। जैसे अविद्या के नाश होने पर

---

[721] प्रतीत्य कारकः कर्म तं प्रतीत्य च कारकम्। कर्म प्रवर्तते, नान्यत्पश्यामः सिद्धिकारणम्॥*म.शा.*, 8/12, पृ. 9

[722] *भौ.स.*, पृ. 31

[723] http://dalailamahindi.com/news/post/362---------- (Access date 26 January, 2016)

ही कोई सत्य का दर्शन कर सकता है, वैसे ब्रह्माण्ड के बारें में क्वाण्टम भौतिकी की खोजों, गहन पारिस्थितिकी, गाया परिकल्पना की संकल्पनाओं ने देकार्त की चिन्तन पद्धति को हटाकर अन्योन्याश्रितता का विकल्प प्रस्तुत किया। मनुष्य पर्यावरण से पृथक् नहीं है, अपितु जैविक और भौतिक पर्यावरण की भाँति वह भी सहजीवी है। पर्यावरण और मानव के क्रियाकलापों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध होता है तथा प्रभाव भी उभयविध होता है।

प्रतीत्यसमुत्पाद से युक्त चित्त ही समग्र जगत् के लोगों के लिये यह कामना कर सकता है कि इस जगत् में कोई भी जीव दुःखी न हो, न पापी हो, न रोगी हो, न हीन हो, न तिरस्कृत हो और न ही दुष्टचित्त हो।[724] सबका कल्याण तथा सबका विकास ही मानव जीवन का ध्येय है। समाज के प्रत्येक स्तर पर चाहें वह परिवार हो, कुटुम्ब हो, राष्ट्र हो अथवा विश्व या समग्र ब्रह्माण्ड हो, इन सब स्तर पर मानव को वैज्ञानिक दृष्टिकोण के साथ निःस्वभावता एवं मानवीय करुणा को बढाते हुए सहजीविता व समावेशी की अवधारणाओं से संयुक्त विचारों को अग्रसर करना चाहिये।

[724] मा कश्चिद् दुःखितः सत्त्वो मा पापी मा च रोगितः। मा हीनः परिभूतो वा मा भूत् कश्चिच्च दुर्मनाः॥ *बोधि.*, 10/41, पृ. 335

निष्कर्ष

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध में वैभाषिक एवं माध्यमिक दर्शनों में प्रतिपादित प्रतीत्यसमुत्पाद का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। इस शोधप्रबन्ध को पाँच अध्यायों में विभाजित किया गया है। प्रथम अध्याय में पालि साहित्य के विभिन्न सन्दर्भों के आधार पर प्रतीत्यसमुत्पाद का विश्लेषण किया गया है। द्वितीय अध्याय में *अभिधर्मकोश* तथा *अभिधर्मकोशभाष्य* आदि के आधार पर वैभाषिक दर्शन में प्रतीत्यसमुत्पाद का विश्लेषण किया गया है। तृतीय अध्याय में *मध्यमकशास्त्र, प्रसन्नपदा* तथा नागार्जुन के अन्य उपलब्ध दार्शनिक ग्रन्थों के आधार पर प्रतीत्यसमुत्पाद का विश्लेषण किया गया है। चतुर्थ अध्याय में वैभाषिक एवं माध्यमिक दर्शनों द्वारा विश्लेषित प्रतीत्यसमुत्पाद का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। पञ्चम अध्याय में प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त के वैज्ञानिक पक्ष को भ्रूणविज्ञान, क्वाण्टम भौतिकी, गहन पारिस्थितिकी एवं गाया परिकल्पना के आधार पर अध्ययन किया गया है।

"वैभाषिक एवं माध्यमिक दर्शनों में प्रतिपादित प्रतीत्यसमुत्पाद का तुलनात्मक अध्ययन" विषयक शोध-प्रबन्ध का निष्कर्ष निम्न बिन्दुओं में समाहित किया जा सकता है –

→प्रतीत्यसमुत्पाद बुद्ध की शिक्षाओं का केन्द्रीय स्तम्भ है। गौतम बुद्ध ने अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति तथा जरामरण इन द्वादशाङ्गों के द्वारा प्रतीत्यसमुत्पाद की अनुलोम-प्रतिलोम देशना की है। इन द्वादशाङ्गों में अविद्या एवं जरामरण आदि और अन्तिम कोटि नहीं हैं। गौतम बुद्ध इस द्वादश निदान को चक्र के रूप में विश्लेषित करते हैं। वैभाषिक एवं माध्यमिक दार्शनिक भी द्वादशाङ्ग की चक्रीय व्याख्या करते हैं। अविद्यादि द्वादशाङ्गों के अनुलोमात्मक क्रम से जहाँ उत्पाद का ज्ञान होता है, वहीं प्रतिलोमात्मक क्रम से निरोधात्मक भाव का ज्ञान होता है। प्रतीत्यसमुत्पाद केवल उत्पत्ति को ही इंगित नहीं करता, अपितु निरोध को भी बतलाता है।

→ प्रतीत्यसमुत्पाद का मुख्य उद्देश्य कार्य-कारणभाव का प्रतिपादन करना है। प्रतीत्यसमुत्पाद के माध्यम से गौतम बुद्ध ने जरामरणादि दुःखों के कारण को विश्लेषित किया है। इन दुःखों का कारण जाति अर्थात् जन्म है। जन्म का कारण भव है, भव का उपादान, उपादान का तृष्णा, तृष्णा का वेदना, वेदना का स्पर्श, स्पर्श का षडायतन, षडायतन का नामरूप, नामरूप का विज्ञान, विज्ञान का संस्कार तथा संस्कार का कारण अविद्या है। बुद्ध केवल दुःखों का कारण बताकर नहीं छोड़ते, अपितु दुःखों के निरोध का उपाय भी बताते हैं। जरामरणादि दुःखों का कारण जाति है, यदि जाति का निरोध होगा तो दुःख भी नहीं होंगे। इसी तरह अन्य-अन्य अङ्गों के निरोध से पूर्व-पूर्व अङ्गों का निरोध होता है। वैभाषिक दर्शन प्रभासहित प्रदीप तथा छायासहित अङ्कुर की एककालिक उत्पत्ति के उदाहरणों से कार्य और कारण की एककालिकता को सिद्ध करते हैं। माध्यमिकों के अनुसार व्यावहारिक स्तर पर हेतु-सामग्री को प्राप्त करके अथवा अपेक्षा करके उत्पाद प्रतीत्यसमुत्पाद है, किन्तु पारमार्थिक स्तर पर परीक्षा करने पर प्रतीत्यसमुत्पाद में कारणता नहीं है।

→ प्रतीत्यसमुत्पाद हेतुप्रत्यय के आधार पर उत्पाद और निरोध को स्पष्ट करता है। हेतु से आशय मुख्य कारण से है तथा प्रत्यय से आशय सहायक कारण से है। पालि साहित्य में हेतु, आलम्बन, अधिपति आदि चौबीस प्रत्ययों का उल्लेख मिलता है। वैभाषिक दर्शन में हेतु, समनन्तर, आलम्बन एवं अधिपति इन चार प्रत्ययों को स्वीकार किया गया है। वैभाषिक दर्शन हेतु तथा प्रत्यय में कोई अन्तर नहीं मानता। हेत्वादि प्रत्ययों को स्वीकार करने से वैभाषिक बाह्य परतः उत्पाद में विश्वास करते हैं। माध्यमिक दर्शन हेतुप्रत्ययवाद को अस्वीकार करते हैं। उनके अनुसार हेतु प्रत्ययों से जो उत्पन्न है, वह सब अनुत्पन्न है। क्योंकि वह स्वभाव से उत्पन्न नहीं है, अतः उसे शून्य से प्रकाशित किया गया है। हेत्वादि प्रत्ययों का उत्पाद न स्वतः होता है, न परतः, न उभय तथा न अनुभय। ये निःस्वभाव होने से शून्य हैं।

→ 'अस्मिन् सतीदं भवति, अस्योत्पादादिदमुत्पद्यते' अर्थात् इसके होने पर यह होता है, उसकी उत्पत्ति से यह उत्पन्न होता है। वैभाषिक और माध्यमिक दार्शनिक भिन्न- भिन्न ढंग से इस

सूत्रवचन की व्याख्या करते हैं। वैभाषिक जहाँ इसे मात्र कार्यकारण भाव मान लेते हैं तथा उसे संस्कृत धर्ममात्र पर लागू करते हैं। वहीं माध्यमिक इसे दो भागों में बांटते हैं। 'अस्मिन् सति इदं भवति' से सापेक्षता का सिद्धान्त तथा दूसरे वाक्य से कार्यकारण भाव सिद्धान्त को ग्रहण करते हुये, माध्यमिक प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त को समस्त धर्मों पर लागू करते हैं।

→ प्रतीत्यसमुत्पाद को अविद्यादि द्वादशाङ्गों के द्वारा व्याख्यायित किया जाता है, अतः यह द्वादशाङ्ग प्रतीत्यसमुत्पाद भी कहलाता है। पालि साहित्य के विभिन्न सन्दर्भों से ज्ञात होता है कि गौतम बुद्ध ने लोक कल्याण के लिये इन द्वादशाङ्गों की नानाविध देशना दी है। कहीं अविद्या से प्रतिलोम क्रम में जरामरण तक, कहीं जरामरण से अविद्या तक, कहीं वेदना से जाति तक, कहीं तृष्णा से अविद्या तक तथा अन्यत्र पृथक्-पृथक् अङ्गों का उल्लेख किया है। यद्यपि द्वादशाङ्गों की देशना किसी भी प्रकार से की गई हो, किन्तु द्वादशाङ्ग ही प्रथित है। वैभाषिक एवं माध्यमिक दर्शनों ने द्वादशाङ्ग से समन्वित प्रतीत्यसमुत्पाद का विश्लेषण किया है।

→ अविद्यादि द्वादशाङ्गों का त्रिविध विभाजन क्लेश, कर्म और वस्तु के रूप में वैभाषिक और माध्यमिक दोनों दर्शनों ने स्वीकार किया है। क्लेश में अविद्या, तृष्णा और उपादान; कर्म में संस्कार तथा भव; वस्तु में विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, जाति और जरामरण को विभाजित किया गया है। माध्यमिक वस्तु को दुःख कहते हैं। क्लेश से क्लेश व कर्म की, कर्म से वस्तु की, वस्तु से वस्तु और क्लेश की उत्पत्ति होती है।

→ 'प्रति प्रति इत्यानां विनाशिनां समुत्पाद इति प्रतीत्यसमुत्पादः' अर्थात् 'पुनः पुनः विनाशशील भावों का उत्पाद' प्रतीत्य शब्द की इस वीप्सार्थक व्युत्पत्ति से वैभाषिक एवं माध्यमिक दोनों दर्शन असहमत हैं। जो विनाशशील है (प्रतीत्य), उसका उत्पाद कैसे हो सकता है? वैभाषिक प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ हेतुप्रत्ययों को प्राप्त कर उत्पाद करते हैं

(हेतुप्रत्ययान् प्राप्य समुत्पादः प्रतीत्यसमुत्पादः), जबकि माध्यमिक हेतुप्रत्ययों की अपेक्षा करके उत्पाद मानते हैं (हेतुप्रत्ययापेक्षो भावानामुत्पादः प्रतीत्यसमुत्पादार्थः)।

→ माध्यमिक दार्शनिकों ने प्रतीत्यसमुत्पाद, शून्यता तथा मध्यम प्रतिपदा को समानार्थी कहा है। शून्य तत्त्व न सत् है, न असत् है, न उभय है और न ही अनुभय है। सदसदादि चारों कोटियों से रहित ही शून्यतत्त्व कहलाता है। माध्यमिक दर्शन ने बीस प्रकार की शून्यता स्वीकार की है, जिनमें से अध्यात्मशून्यता से वैभाषिक भी सहमत हैं। अध्यात्मशून्यता से वैभाषिक पुद्गलनैरात्म्य अथवा अनात्मवाद की सिद्धि करते हैं। माध्यमिकों ने पुद्गलनैरात्म्य के साथ-साथ धर्मनैरात्म्य को भी स्वीकार किया है। इसके द्वारा माध्यमिक बाह्य जगत् के मूल में आत्मा की असिद्धि करते हैं। वैभाषिक व माध्यमिक आचार्य आत्मा के सिद्धान्त में विश्वास नहीं करते हैं। दोनों ही आत्मा के सिद्धान्त को सम्यक् दृष्टि के विकास में बाधक मानते हैं।

→ *मूलमाध्यमिककारिका* के प्रारम्भ में प्रतीत्यसमुत्पाद को अनिरोध, अनुत्पाद, अनुच्छेद, अशाश्वत, अनेकार्थ, अनानार्थ, अनागम और अनिर्गम इन आठ विशेषताओं से युक्त कहा गया है। *शालिस्तम्बसूत्र* में द्वादशाङ्ग प्रतीत्यसमुत्पाद को अन्योन्यहेतुक, अन्योन्यप्रत्यय, न नित्य न अनित्य, न संस्कृत न असंस्कृत, न अहेतुक न अप्रत्ययक, न वेदयिता न अवेदियता, न प्रतीत्यसमुत्पन्न न अप्रतीत्यसमुत्पन्न, न अक्षयधर्म न क्षयधर्म, न विनाशधर्म न अविनाशधर्म, न निरोधधर्म न अनिरोधधर्म स्वरूप अनादि काल से नदीस्रोत की भाँति प्रवाहमान् होने से अवच्छिन्न कहा गया है।

→ गौतम बुद्ध ने प्रतीत्यसमुत्पाद को गम्भीर, दुर्दर्शनीय, दुर्ज्ञेय, शान्त, उत्तम, तर्क से अप्राप्य, निपुण पण्डितों के द्वारा ज्ञेय कहा है। वैभाषिक और माध्यमिक दार्शनिकों ने प्रतीत्यसमुत्पाद की इसी गम्भीरता को सहज बनाने के लिये विपुल साहित्य का सृजन किया सर्वास्तिवादियों के क्षणिक, प्राकृषिक, साम्बन्धिक तथा आवस्थिक चतुर्विध प्रतीत्यसमुत्पाद

के भेदों में से वैभाषिकों ने आवस्थिक मत को स्वीकार कर अपनी विवेचना का आधार बनाया। माध्यमिक दार्शनिकों ने प्रतीत्यसमुत्पाद को आध्यात्मिक और बाह्य दो प्रकार का माना है। इन दोनों में से प्रत्येक को हेतूपनिबन्ध और प्रत्ययोपनिबन्ध भेद से दो-दो प्रकार का माना है। अतःएव माध्यमिक दर्शन के अनुसार प्रतीत्यसमुत्पाद के चार भेद बाह्यहेतूपनिबन्ध, बाह्यप्रत्ययोपनिबन्ध, आध्यात्मिक हेतूपनिबन्ध और आध्यात्मिक प्रत्ययोपनिबन्ध हो जाते हैं।

→ द्वादशाङ्ग की व्याख्या भवचक्र के रूप में की जाती है। भवचक्र आदि और अन्त से रहित है। शुक्र-शोणित के संयोग से उत्पन्न कललादि अवस्थाओं तथा भ्रूण से शिशु के जन्म की प्रक्रिया का जो वर्णन वैभाषिकों ने किया है, आधुनिक भ्रूणविज्ञान के निष्कर्ष भी उससे अधिकांशतः साम्य रखते हैं। शुक्र-शोणित के संयोग से उत्पन्न एकल कोशिकीय (युग्म) भ्रूण से समविभाजन होकर बीजाणु की उत्पत्ति द्वारा गर्भारोपण होता है। यह बीजाणु सेन्द्रिय है। कलल भी सेन्द्रिय होने से इसके समतुल्य माना जा सकता है। इस भ्रूण से अङ्ग-प्रत्यङ्ग विकसित हो शिशु का जन्म होता है। मानव शरीर का क्रमशः विकास होता है। यदि शुक्र और शोणित का संयोग नहीं होगा, तो युग्म नहीं बनेगा। युग्म के अभाव में बीजाणु, बीजाणु के अभाव में भ्रूण, भ्रूण के अभाव में नेत्रादि अङ्ग-प्रत्यङ्गों से युक्त शिशु की उत्पत्ति नहीं होगी। ये सब क्रमशः एक-दूसरे पर आश्रित हैं। माध्यमिक दर्शन ने आध्यात्मिक प्रत्ययोपनिबन्ध प्रतीत्यसमुत्पाद के द्वारा पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश और विज्ञान इन षड्धातुओं के समवाय से शरीर का उत्पाद माना है। शरीर में पृथ्वी से काठिन्य, जल से अनुपरिग्रह, तेज से खाये-पीये का परिपाचन, वायु से श्वास-प्रश्वास सम्बन्धी क्रिया, आकाश से आन्तरिक अवकाश तथा विज्ञान से नामरूपात्मक अङ्कुर का उत्पाद होता है। जीवविज्ञान मानता है कि एक कोशिका से अन्य कोशिका के जन्म के समय प्रथम को ज्ञात नहीं होता कि उससे अन्य कोशिका जन्म ले रही है तथा न ही उत्पन्न कोशिका को यह ज्ञात होता है कि उसका जन्म अमुक कोशिका से हुआ है। ऐसे ही पृथ्वी आदि षड्धातुओं के अन्दर

भी यह भाव उत्पन्न नहीं होता कि वे शरीर के अन्दर काठिन्यादि भावों को उत्पन्न कर रहे हैं तथा न ही शरीर को यह अनुभव होता है कि वह पृथ्वी आदि धातुओं से उत्पन्न है।

→ प्रतीत्यसमुत्पाद की क्वाण्टम भौतिकी के साथ तुलनात्मक अध्ययन करने पर यह कहा जा सकता है कि जैसे क्वाण्टम भौतिकी तत्त्वमींमासीय व्याख्या पर बल नहीं देता, वैसे ही प्रतीत्यसमुत्पाद के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि किसी प्रकार के तत्त्व का अस्तित्व नहीं है तथा सभी वस्तुओं को एक ब्रह्माण्डीय प्रवाह में प्रक्रियाओं के रूप में देखा जाना चाहिये। क्वाण्टम भौतिकी और प्रतीत्यसमुत्पाद दोनों ही सृष्टि की उत्पत्ति पर ध्यान केन्द्रित करने की अपेक्षा सृष्टि के स्वरूप की व्याख्या करते हैं। क्वाण्टम और माध्यमिकों का प्रतीत्यसमुत्पाद अथवा शून्य समानार्थी प्रतीत होते हैं।

→ प्रतीत्यसमुत्पाद की भावना करने से व्यक्तिमात्र से विभिन्न जीव-अजीव, भौतिक-अभौतिक, जैविक-अजैविक, स्व व पर आदि के भेद मिट जाते हैं। वह समत्व भाव में स्थित होकर प्रत्येक वस्तु को तन्त्र की भाँति अन्तर्सम्बन्धित समझता है। उसके लिये पृथ्वी, पर्यावरण, जीव-जन्तु अथवा समग्र पारिस्थितिकी तन्त्र भी उतना ही महत्त्वपूर्ण हो जाता है, जितना वह स्वयं को समझता है। आधुनिक विज्ञान ने गहन पारिस्थितिकी और गाया परिकल्पना के माध्यम से पर्यावरण तथा पृथ्वी सम्बन्धी नवीन धारणाओं को जन्म दिया है। गहन पारिस्थितिकी चिन्तन सहजीविता व सम्मिश्रतता को आन्दोलन का रूप देकर विश्लेषण करता है। गाया परिकल्पना के अनुसार पृथ्वी पर होने वाली घटनाओं का प्रभाव पृथ्वी सहित समस्त जैविक-अजैविक जगत् पर पड़ता है। प्रतीत्यसमुत्पाद का विश्लेषण इन दोनों सिद्धान्तों के साथ करने पर कई प्रकार की समतायें दिखाई देती हैं। जैसे द्वादशाङ्गों में प्रत्येक अङ्ग एक-दूसरे की अपेक्षा से विद्यमान हैं, वैसे ही पर्यावरण में सभी जीव-अजीवों का अस्तित्व है।

इस प्रकार उक्त विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि गौतम बुद्ध द्वारा बोधि के रूप में साक्षात्कार किया गया कार्यकारण भाव रूपी धर्म प्रतीत्यसमुत्पाद है। बुद्ध ने इसके माध्यम से संसार में व्याप्त जरामरणादि दुःखों के समुदय और निरोध को समझाया है। अविद्यादि द्वादशाङ्गों की प्रत्येक अवस्था में पञ्चस्कन्धों को स्वीकार करते हुये वैभाषिक हेतु और प्रत्यय की अभिन्नता तथा कार्य और कारण की एककालिकता में प्रत्युत्पन्नमति हैं। पारमार्थिक स्तर पर शून्यता के रूप में स्थापित करते हुये, माध्यमिक दर्शन ने प्रतीत्यसमुत्पाद को अखिल बौद्ध दर्शन की आधारशिला के रूप में व्याख्यायित किया है।

वैभाषिक एवं माध्यमिक दर्शनों में प्रतिपादित प्रतीत्यसमुत्पाद के तुलनात्मक अध्ययन के पश्चात् यह कहा जा सकता है कि वैभाषिक दर्शन द्वारा प्रतीत्यसमुत्पाद का जो विश्लेषण किया गया है, वह गौतम बुद्ध के द्वारा उपदेशित प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त के सन्निकट है, किन्तु माध्यमिक दार्शनिकों ने प्रतीत्यसमुत्पाद की जो शून्यतावादी अथवा निःस्वभाववादी व्याख्या की है, वह गौतम बुद्ध की देशनाओं से भिन्न प्रतीत होती है। यदि माध्यमिक आचार्य नागार्जुन अपने मत में परमार्थसत्य के साथ लोकसंवृतिसत्य की व्यवस्था नहीं करते, तो माध्यमिक दर्शन द्वारा विश्लेषित प्रतीत्यसमुत्पाद गौतम बुद्ध के विचारों से अत्यन्त दूर हो जाता।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची (Bibliography)

प्राथमिक स्रोत (Primary Sources)

अभिधम्मत्थसङ्गहो (सुमङ्गलसामी प्रणीत अभिधम्मत्थविभाविनीटीका सहित), अनुरुद्ध, धम्मगिरि-पालि-ग्रन्थमाला, इगतपुरी: विपश्यना विशोधन विन्यास, प्रथम आवृत्ति, 1998.

अभिधर्मकोशः, वसुबन्धु, सम्पादक – संघसेन सिंह, दिल्ली: राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, 2012.

अभिधर्मकोशम् (स्वोपज्ञभाष्यसहितं स्फुटार्थव्याख्योपेतं च) (दो खण्ड), वसुबन्धु, सम्पादक – द्वारिकादास शास्त्री, वाराणसी: बौद्धभारती, द्वितीय संस्करण, 2008.

अभिसमयालङ्कारवृत्तिः स्फुटार्था, हरिभद्र, सम्पादक – रामशङ्कर त्रिपाठी, सारनाथ: केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, द्वितीय संस्करण, 1993.

अष्टाध्यायी, पाणिनि, अनुवादक- नरेश झा, वाराणसी: चौखम्बा सुरभारती, प्रथम संस्करण, 2006.

आर्यभटीयम् (परमेश्वराचार्यकृत भट्टदीपिका एवं सूर्यदेवयज्वकृत भट्टप्रकाशिका सहित गङ्गाभाषाभाष्योपेतम्), आर्यभट्ट, अनुवादक – सत्यदेव शर्मा, वाराणसी: चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2008.

कथावत्थुपाळि, धम्मगिरि-पालि-ग्रन्थमाला, इगतपुरी: विपश्यना विशोधन विन्यास, प्रथम आवृत्ति, 1998.

खुद्दकपाठ-धम्मपद-उदानपाळि, धम्मगिरि-पालि-ग्रन्थमाला, इगतपुरी: विपश्यना विशोधन विन्यास, प्रथम आवृत्ति, 1998.

चतुःस्तवः, नागार्जुन, अनुवादक – ज्ञलछेन नमडोल, सारनाथ: केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, प्रथम संस्करण, 2001.

ज्ञानसारसमुच्चयः (बोधिभद्र प्रणीत निबन्धनटीका सहित), आर्यदेव, सम्पादक व अनुवादक - पेन्मा दोर्जे, सारनाथ: केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, प्रथम संस्करण, 2008.

दीघनिकायो (दुतियो भागो - महावग्गपाळि), धम्मगिरि-पालि-ग्रन्थमाला, इगतपुरी: विपश्यना विशोधन विन्यास, प्रथम आवृत्ति, 1998.

दीघनिकायो (पठमो भागो - सीलक्खन्धवग्गपाळि), धम्मगिरि-पालि-ग्रन्थमाला, इगतपुरी: विपश्यना विशोधन विन्यास, प्रथम आवृत्ति, 1998.

धम्मपद, अनुवादक – आनन्द कौशल्यायन, नागपुर: बुद्धभूमि प्रकाशन, छठा संस्करण, 1993.

धम्मसङ्गणीपाळि, धम्मगिरि-पालि-ग्रन्थमाला, इगतपुरी: विपश्यना विशोधन विन्यास, प्रथम आवृत्ति, 1998.

धर्मसंग्रहः, नागार्जुन, अनुवादक - तशी जांग्मो एवं देचेन चीमे, सारनाथ: केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, 2013.

पटिसम्भिदामग्गपाळि, धम्मगिरि-पालि-ग्रन्थमाला, इगतपुरी: विपश्यना विशोधन विन्यास, प्रथम आवृत्ति, 1998.

पट्ठानपाळि, धम्मगिरि-पालि-ग्रन्थमाला, इगतपुरी: विपश्यना विशोधन विन्यास, प्रथम आवृत्ति, 1998.

प्रतीत्यसमुत्पादस्तुतिसुभाषितहृदयम्, चोंखापा, सम्पादक – ज्ञलछेन नमडोल, सारनाथ: केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, द्वितीय संस्करण, 1994.

प्रतीत्यसमुत्पादहृदय (स्वोपज्ञव्याख्यासहिता), नागार्जुन, सम्पादक व अनुवादक - ज्ञलछेन नमडोल, सारनाथ: केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, प्रथम संस्करण, 1997.

बुद्धचरित, अश्वघोष, अनुवादक - सूर्यनारायण चौधरी, दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास, 2008.

बोधिचर्यावतार (प्रज्ञाकरमतिकृतपञ्जिकासहिता), शान्तिदेव, सम्पादक व अनुवादक - द्वारिकादास शास्त्री, वाराणसी: बौद्धभारती, 2001.

बोधिचर्यावतार, शान्तिदेव, अनुवादक - शान्तिभिक्षु शास्त्री, दिल्ली: गौतम बुक सेन्टर, द्वितीय आवृत्ति, 2010.

बौद्ध - तर्कभाषा, मोक्षाकर गुप्त, सम्पादक – रघुनाथगिरि, वाराणसी: प्राच्य प्रकाशन,1969.

ब्रह्मसूत्र-शाङ्करभाष्यम् (वाचस्पतिमिश्रप्रणीतभामतीसहिता), (दो भाग), व्याख्याकार - योगीन्द्रानन्द, वाराणसी: चौखम्बा विद्याभवन, 2010.

मज्झिमनिकायपाळि (तियो भागो - उपरिपण्णासपाळि), धम्मगिरि-पालि-ग्रन्थमाला, इगतपुरी: विपश्यना विशोधन विन्यास, प्रथम आवृत्ति, 1998.

मज्झिमनिकायपाळि (दुतियो भागो - मज्झिमपण्णासपाळि), धम्मगिरि-पालि-ग्रन्थमाला, इगतपुरी: विपश्यना विशोधन विन्यास, प्रथम आवृत्ति, 1998.

मज्झिमनिकायपाळि (पठमो भागो - मूलपण्णासपाळि), धम्मगिरि-पालि-ग्रन्थमाला, इगतपुरी: विपश्यना विशोधन विन्यास, प्रथम आवृत्ति, 1998.

मध्यमकशास्त्रम् (चन्द्रकीर्तिप्रणीताप्रसन्नपदावृत्तिसहिता), नागार्जुन, सम्पादक – द्वारिकादास शास्त्री, भावानुवादक – नरेन्द्र देव, वाराणसी: बौद्धभारती, प्रथम संस्करण, 1983.

मध्यमकशास्त्रम् (नागार्जुनकृताकुतोभया-बुद्धपालितकृतमाध्यमिकवृत्ति-भाववि‌वेककृतप्रज्ञाप्रदीप-चन्द्रकीर्तिकृतप्रसन्नपदासहितम्) (दो भाग), नागार्जुन, सम्पादक – रघुनाथ पाण्डेय, दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास, प्रथम संस्करण, 1989.

मध्यमकालोक, कमलशील, सम्पादक – पेन्पा दोर्जे, सारनाथ: केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, प्रथम संस्करण, 2001.

महायान-सूत्र-सङ्ग्रह, सम्पादक – पी. एल. वैद्य, दरभंगा: द मिथिला इन्स्टिट्यूट ऑफ पोस्ट-ग्रेजुयेट स्टडीज एण्ड रिसर्च इन संस्कृत लर्निंग, 1961.

माध्यमिक वृत्ति, चन्द्रकीर्ति, कलकत्ता: बुद्धिस्ट टेक्स्ट सोसायटी ऑफ इण्डिया, 1897.

मिलिन्दपञ्हपाळि, धम्मगिरि-पालि-ग्रन्थमाला, इगतपुरी: विपश्यना विशोधन विन्यास, प्रथम आवृत्ति, 1998.

मिलिन्दपञ्हो, सम्पादक – द्वारिकादास शास्त्री, वाराणसी: बौद्धभारती, 1979.

ललितविस्तर, सम्पादक - पी. एल. वैद्य, दरभंगा: मिथिला विद्यापीठ, 1958.

विग्रहव्यावर्तनी (स्वोपज्ञवृत्तिसहिता), नागार्जुन, सम्पादक व अनुवादक – द्वारिकादास शास्त्री, वाराणसी: बौद्धभारती, प्रथम संस्करण, 1994,

विनयपिटके महावग्गपाळि, धम्मगिरि-पालि-ग्रन्थमाला, इगतपुरी: विपश्यना विशोधन विन्यास, प्रथम आवृत्ति, 1998.

विभङ्गपाळि, धम्मगिरि-पालि-ग्रन्थमाला, इगतपुरी: विपश्यना विशोधन विन्यास, प्रथम आवृत्ति, 1998.

विसुद्धिमग्गो (दुतियो भागो), धम्मगिरि-पालि-ग्रन्थमाला, इगतपुरी: विपश्यना विशोधन विन्यास, प्रथम आवृत्ति, 1998.

विसुद्धिमग्गो (पठमो भागो), धम्मगिरि-पालि-ग्रन्थमाला, इगतपुरी: विपश्यना विशोधन विन्यास, प्रथम आवृत्ति, 1998.

शून्यतासप्तति (स्वोपज्ञवृत्तिसहिता), नागार्जुन, अनुवादक व सम्पादक – सेम्पा दोर्जे, सारनाथ: केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, द्वितीय संस्करण, 1996.

संयुत्तनिकायो (ततियो भागो दुतियो खन्धो - महावग्गपाळि), धम्मगिरि-पालि-ग्रन्थमाला, इगतपुरी: विपश्यना विशोधन विन्यास, प्रथम आवृत्ति, 1998.

संयुत्तनिकायो (पठमो भागो दुतियो खन्धो - निदानवग्गपाळि), धम्मगिरि-पालि-ग्रन्थमाला, इगतपुरी: विपश्यना विशोधन विन्यास, प्रथम आवृत्ति, 1998.

सर्वदर्शनसङ्ग्रह, मध्वाचार्य, अनुवादक - उमाशंकर शर्मा ऋषि, वाराणसी: चौखम्बा विद्याभवन, 2006.

सुहृल्लेखः, (आचार्यमहामतिविरचिताव्यक्तपदाटीकासहिता), नागार्जुन, सम्पादक – पेमा तेनजिन, सारनाथ: केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, प्रथम संस्करण, 2002.

Abhidharmakośabhāṣyam, Vasubhandhu, Edited by P. Pradhan, Patna: K.P. Jayaswal Research Institute, 2009.

Abhisamayālaṃkārāloka (Analysis of Abhisamayālaṃkāra), Haribhadra, Edited & Translated by E. Obermiller, London: Luzac & Co., 1936.

Mūlamadhyamakakārikā, Nāgārjuna, Translated by David. J. Kalupahana, Delhi: Motilal Banarsidass, 2012.

Sāṁkhyakārikā, Īśvarakṛṣṇa, Translated by Swami Virupakshananda, Chennai: Sri Ramkrishna Math, 1995.

द्वितीयक स्रोत (Secondary Sources)

- हिन्दी

आर्नाल्ड, एडविन, *एशिया की ज्योति,* संस्कारक – हृषीकेश शरण, दिल्ली: हृषीकेश शरण, प्रथम संस्करण, 2009.

उपाध्याय, बलदेव, *बौद्ध दर्शन मीमांसा,* वाराणसी: चौखम्बा विद्याभवन, पञ्चम संस्करण, 1999.

उपाध्याय, भरतसिंह, *पालि साहित्य का इतिहास,* प्रयाग: हिन्दी साहित्य सम्मेलन, छठा संस्करण, 2000.

उपाध्याय, भरतसिंह, *बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन (दो भाग),* दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास, 1996.

काप्रा, फ्रित्जॉफ, *भौतिकी का सतपथ,* अनुवादक – धर्मराज वाघेला, नई दिल्ली: न्यू एज बुक्स, प्रथम संस्करण, 2014.

काश्यप, जगदीश (अनुवादक), *मिलिन्द प्रश्न,* नागपुर: सुगत प्रकाशन, चतुर्थावृत्ति, 1995.

कोसम्बी, धर्मानन्द, *भगवान् बुद्ध का जीवन और दर्शन,* दिल्ली: साहित्य अकादमी-लोकभारती पेपरबैक्स, द्वितीय संस्करण, 2009.

कौसल्यायन, आनन्द, *बौद्ध धर्म: एक बुद्धिवादी अध्ययन,* दिल्ली: सिद्धार्थ बुक्स, प्रथम संस्करण, 2007.

गोयन्का, सत्यनारायण, *क्या बुद्ध दुक्खवादी थे?,* इगतपुरी: विपश्यना विशोधन विन्यास, चतुर्थ संस्करण, 2005.

गोयन्का, सत्यनारायण, *धारण करे तो धर्म,* इगतपुरी: विपश्यना विशोधन विन्यास, 2010.

गौतम, एस. एस., *भारतीय संस्कृति को बौद्धधर्म की देन,* दिल्ली: गौतम बुक सेन्टर, 2009.

जाटव, डी. आर., *प्रमुख पाश्चात्य दार्शनिक,* जयपुर: राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, दसवां संस्करण, 2010.

जैन, धर्मचन्द, *बौद्धदर्शन में प्रमाण मीमांसा,* जोधपुर: बौद्ध अध्ययन केन्द्र, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, प्रथम संस्करण, 2009.

जैन, धर्मचन्द्र, *अभिधर्मदेशना: बौद्धसिद्धान्तों का विवेचन,* कुरुक्षेत्र: कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, 1982.

झा, रामनाथ (सम्पादक), *योग एवं चैतन्य विज्ञान,* दिल्ली: विद्यानिधि प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2015.

तारानाथ, *भारत में बौद्धधर्म का इतिहास,* अनुवादक – लामा रिगजिन लुण्डुप, पटना: काशी प्रसाद जायसवाल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, 1971.

त्रिपाठी, रामशङ्कर, *सौत्रान्तिक दर्शन,* सारनाथ: केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, प्रथम संस्करण, 2008.

थापर, रोमिला, *भारत का इतिहास,* दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, 22 वीं आवृत्ति, 2007.

दत्त, नलिनाक्ष (सम्पादक), *बौद्ध संग्रह,* अनुवादक - राममूर्ति त्रिपाठी, नई दिल्ली: साहित्य अकादमी, प्रथम संस्करण, 1993.

दासगुप्ता, एस. एन., *भारतीय दर्शन का इतिहास (पाँच भाग),* अनुवादक – कलानाथ शास्त्री व सुधीर कुमार, जयपुर: राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, चतुर्थ संस्करण, 2011.

दुबे, अखिलेश्वर प्रसाद (सम्पादक), *प्रतीत्यसमुत्पाद,* नई दिल्ली, नार्दर्न बुक सेंटर, 2005.

देव, नरेन्द्र (अनुवादक), *आचार्य वसुबन्धु कृत अभिधर्म कोश (चार खण्ड),* इलाहाबाद: हिन्दुस्तानी एकेडमी, द्वितीय संस्करण, 2008.

देव, नरेन्द्र, *बौद्धधर्म-दर्शन,* दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास, 2011.

धर्मकीर्ति, *बौद्ध धर्म में शून्यवाद,* नई दिल्ली: सम्यक प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, 2011.

धर्मरक्षित (अनुवादक), *आचार्य बुद्धघोष कृत विशुद्धि मार्ग (दो भाग),* दिल्ली: गौतम बुक सेन्टर, 2010.

धर्मरक्षित, *पालि साहित्य का इतिहास,* वाराणसी: ज्ञानमण्डल लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1971.

नरसु, पी. लक्ष्मी, *बौद्ध धर्म का सार,* अनुवादक - आनन्द कौसल्यायन, नागपुर: बुद्धभूमि प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, 1998.

पाण्डेय, गोविन्द चन्द्र, *बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास,* लखनऊ: उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, पञ्चम संस्करण, 2010.

पाण्डेय, रामचन्द्र, *आचार्य नागार्जुन का निःस्वभावता-दर्शनः मूलमाध्यमिककारिका, शून्यतासप्तति एवं विग्रहव्यावर्तनी के रूपान्तरणों सहित,* दिल्ली: ईस्टर्न बुक लिंकर्स, प्रथम संस्करण, 1990.

बंदिष्टे, डी.डी. और रमाशंकर शर्मा (सम्पादक), *भारतीय दार्शनिक निबन्ध,* भोपाल: मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, षष्ठ संस्करण, 2008.

बापट, पी.वी., *बौद्ध धर्म के 2500 वर्ष,* दिल्ली: प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मन्त्रालय, भारत सरकार, तृतीय संस्करण, 2008.

बाशम, ए.एल., *अद्‌भुत भारत,* अनुवादक - वेंकटेशचन्द्र पाण्डेय, आगरा: शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, 2002.

भटनागर, अनिल, *वेदांत व आईंस्टीन,* अनुवादक - देवेन्द्रकुमार अग्निहोत्री, वाराणसी: विश्वविद्यालय प्रकाशन, 1998, पृ. 37-38.

मुळे, गुणाकर, *अल्बर्ट आइंस्टाइन,* दिल्ली: प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, प्रथम संस्करण, 2009.

मुळे, गुणाकर,*आइंस्टाइन और ब्रह्माण्ड,* दिल्ली: हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, प्रथम संस्करण, 2009.

राधाकृष्णन, *भारतीय दर्शन (दो भाग)*, अनुवादक – नन्दकिशोर गोभिल, दिल्ली: राजपाल एण्ड सन्ज, 2012.

राव, चौडूरि उपेन्द्र, *बौद्धधर्म,* नई दिल्ली: शेरब जांग्पो सोसायटी, प्रथम संस्करण, 2013.

रीस डेविड्स, टी. डबल्यु., *बौद्ध धर्म का इतिहास और साहित्य,* अनुवादक - ताराराम, नई दिल्ली: सम्यक प्रकाशन, 2009.

लाल, अँगने, *संस्कृत बौद्ध साहित्य में इतिहास और संस्कृति,* लखनऊ: उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, प्रथम संस्करण, 2006.

शर्मा, चन्द्रधर, *भारतीय दर्शन,* दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास, 2013

शर्मा, नन्द किशोर, *भारतीय दार्शनिक समस्याएं,* जयपुर: राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, दसवां संस्करण, 2011.

शर्मा, ब्रह्मदेव नारायण, *विभज्यवाद,* वाराणसी: अरुण प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1988.

शर्मा, राममूर्ति, *भारतीय दर्शन की चिन्तनधारा,* दिल्ली: मणिद्वीप, द्वितीय संस्करण, 2001.

शेरबात्स्की, एफ. टी., *बौद्ध न्याय,* अनुवादक - रामकुमार राय, दिल्ली: चौखम्बा प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1969.

संघरक्षित, उर्गेन, *आर्य अष्टांगिक मार्ग,* अनुवादक – ज्ञानसागर, सारनाथ: धम्मालोक ट्रस्ट, प्रथम संस्करण, 2005.

संघरक्षित, उर्गेन, *बोधिसत्व आदर्श,* अनुवादक – पी. जी. दुग्गल, सम्पादक – बोधिसागर, सारनाथ: धम्मालोक ट्रस्ट, प्रथम संस्करण, 2008.

सांकृत्यायन, राहुल (अनुवादक), *मज्झिमनिकाय,* सारनाथ : महाबोधि सभा, द्वितीय संस्करण, 1964.

सांकृत्यायन, राहुल (अनुवादक), *विनय पिटक,* दिल्ली: गौतम बुक सेन्टर, द्वितीय आवृत्ति, 2010.

सांकृत्यायन, राहुल और जगदीश काश्यप (अनुवादक), *दीघनिकाय,* नई दिल्ली: सम्यक प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2010.

सांकृत्यायन, राहुल, *दर्शन दिग्दर्शन,* इलाहाबाद : किताब महल, 2009.

सांकृत्यायन, राहुल, *पाँच बौद्ध दार्शनिक,* नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन, 2012.

सांकृत्यायन, राहुल, *पालि साहित्य का इतिहास,* लखनऊ: उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, चतुर्थ संस्करण, 2011.

सांकृत्यायन, राहुल, *बौद्ध दर्शन,* इलाहाबाद : किताब महल, 2001.

सांकृत्यायन, राहुल, *महामानव बुद्ध,* दिल्ली: गौतम बुक सेन्टर, 2010.

सिंह, अनामिका, *वेदान्त में बौद्ध सन्दर्भ,* सम्पादक – सूर्य प्रकाश व्यास, वाराणसी: आर्य भाषा संस्थान, 2004.

सिंह, आनन्द, *प्राचीन भारतीय धर्म उद्भव एवं स्वरूप,* दिल्ली: हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, प्रथम संस्करण, 2010.

सिन्हा, हरेन्द्र प्रसाद, *भारतीय दर्शन की रूपरेखा,* दिल्ली,मोतीलाल बनारसीदास, 2007.

सुजुकि, डी. टी., *महायान बौद्धधर्म की रूपरेखा,* अनुवादक – तुलसीराम शर्मा, दिल्ली: ईस्ट्रन बुक लिंकर्स, प्रथम संस्करण, 2007.

हिरियन्ना, एम., *भारतीय दर्शन की रूपरेखा,* अनुवादक – गोवर्धन भट्ट, मंजु गुप्त व सुखवीर चौधरी, नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, 2011.

- अंग्रेजी

Bapat, P. V., *2500 Years of Buddhism*, Delhi: Publications Division (Ministry of Information), 1956.

Bary, Theodore De (Editor), *Sources of Indian Tradition*, New York: Columbia University Press, 1958.

Bohm, David, *Wholeness and the Implicate Order,* New York: Routledge, 1980.

Chattopadhyaya, Debiprasad, *Indian Philosophy*, Delhi: People & Publishing House, 1969.

Dasgupta, S.N., *History of Indian Philosophy (Vol. 1),* Delhi: Motilal Banarsidass, 1975.

Dhammananda, K., *The Dhammapada*, Taiwan: The Corporate Body of the Buddha Educational Foundation, 1998.

Drengson, Alan and Yuichi Inoue, (Editors) *The Deep Ecology Movement: An Introductory Anthology*, Berkeley: North Atllantic Books, 1995.

Einstein, Albert & Leopold Infeld, *The Evolution of Physics,* Cambridge: Cambridge University Press, First Edition, 1938, reprint Edition, 1978.

Garbe, Richard, *The Philosophy of Ancient India*, Chicago: The open court publishing co., 1897.

Gasser, R. F., *Atlas of Human embryos,* Maryland: Harper & Row, 1975.

Guyton, A. C. & J. E. Hall, *Textbook of Medical Physiology,* Philadelphia: W.B. Saunders, 2000.

Haldar, Aruna, *Some Psychological Aspect of Early Buddhist Philosophy Based on Abhidharmakośa of Vasubandhu,* Kolkata: The Asiatic Society, 2001.

Hassija, B.K. Jagdish Chander, *Parallels between Science and Religion and Philosophy & science – A Critical Review,* Mount Abu: Brahma Kumaris World Spiritual University, First Edition, 1994.

Hazra, Kanai Lal, *Pāli Language and Literature: A Systematic Survey and Historical Study (Volume-1),* New Delhi: D.K. Printworld (P) Ltd., First Edition, 1994.

Hertig, A.T., *Human Trophoblast,* Springfield: Thomas, 1968.

Kalupahana, David J., *A History of Buddhist Philosophy: Continuities and Discontinuities,* Delhi: Motilal Banarsidass, 2006.

Kaul, P.K., *Nāgasena of Milindapañho,* Delhi: Eastern Book Linkers, First Edition, 1996.

Keith, A.B., *Buddhist Philosophy in India and Ceylon,* Oxford: Clerendon Press, 1923.

Lama, Dalai, *My Tibet,* Berkeley: University of California Press, 1995.

Law, Bimla Charan (Editor), *Buddhistic Studies,* Delhi: Low Price Publications, 2004.

Law, Bimla Charan, *A History of Pāli Literature,* Delhi: Abhisekh Prakashan, 2007.

Lovelock, J. E., *The Revenge of Gaia: Earth's Climate Crisis and the Fate of Humanity,* New York: Basic Books, 2007.

Lovelock, James, *Gaia: A new look at life on earth,* Oxford: Oxford University Press, 1979.

Max Müller, F. & V. Fausboll, *Dhammapada and Sutta-Nipata,* Delhi: Motilal Banarsidas, 2003.

O'Rahilly, R. & F. Müller, *Human embryology and teratology,* Third Edition, New York: Wiley-Liss, 2001.

Pesala, Bhikkhu, *The Debate of King Milinda,* Penang: Inward Path, First Edition, 1991.

Radhakrishnan, S., *The Dhammapada,* New Delhi: Oxford University Press, 2006.

Rahula, Walpola, *What the Buddha taught,* London: The Gordon Fraser Gallery Ltd., 1978.

Rao, C. Upender (Editor), *Śāntideva and Bodhicaryāvatāra,* New Delhi: Eastern Book Linkers, 2012.

Rao, C. Upender (Editor), *World Peace through Indian Wisdom,* Delhi: Eastern Book Linkers, 2016.

Rao, C. Upender, *Relevance of Buddha's Teachings in Present Society,* Puri: Buddha Bharthi Research Institute, 2000.

Rhys Davids, T. W., *Buddhism Its History and Literature,* Delhi: Low Price Publication, Third Edition, 2010.

Rhys Davids, T. W., *Buddhist India*, Delhi: Low Price Publication, 2010.

Rhys Davids, T. W., *The Questions of King Milind (Two Volumes),* The Sacred Books of The East-XXXV, Oxford: The Clarendon Press, 1890.

Roy, Pabitrakumar (Editor), *Buddhism and Science,* Sarnath: Central University of Tibetan Studies, First Edition, 2010.

Santina, Peter Della, *Madhyamaka Schools in India,* Delhi: Motilal Banarsidass, 2008.

Sarao, K.T. S., *Origin and Nature of Ancient Indian Buddhism*, Fourth Edition, Taipei: Corporate Body of the Buddha Education Foundation, 2004.

Singh, Savindra, *Environmental Geography,* Allahabad: Prayag Pustak Bhawan, 1991.

Singh, Upinder, *A History of Ancient and Early Medieval India (From the Stone Age to the 12th Century),* New Delhi: Longman Pearson, 2009.

Stillwell, Brian J., *The biology of Prenatal Development,* New Hampshire: The Endowment for Human Development, 2006.

Tachibana, S., *The Ethics of Buddhism,* London: Oxford University Press, 1920.

Webb, Russell, *Analysis of the Pāli Canon*, Kandy: Buddhist Publication Society, 1991.

Winternitz, Maurice, *A History of Indian Literature* (*Vol. II),* Translated by Subhadra Jha, Delhi: Motilal Banarasidas, 1966.

Xing, Guang (Translater), *Nagsena Bhiksu Sutra (2 Volumes),* Taiwan: Buddha's Light Publishing, First Edition, 2008.

कोश- ग्रन्थ (Dictionaries & Encyclopedias)

A Popular Dictionary of Buddhism, Christmas Humphreys, London: Curzon Press, Second Edition, 1976.

Buddhist Dictionary, Nyantiloka, Taipei: The Corporate Body of the Buddha Educational Foundation, Third Edition, 1970.

Buddhist Hybrid Sanskrit Grammar and Dictionary (Vol. –II), Franklin Edgerton, New Delhi: Munshiram Manoharlal Publishers Pvt. Ltd., 2011.

Dictionary of Early Buddhist Monastic terms, C.S. Upasak, Varanasi: Bharati Prakashan, First Edition, 1975.

Encyclopedia of Indian Philosophies (Vol.-II), Editor - Karl H. Potter, Delhi: Motilal Banarasidas, Third Edition, 1995.

English-Sanskrit Dictionary, Monier Williams, Delhi: Munsi Ram Manohar Lal, 1976.

Oxford Advanced Learner's Dictionary, A. S. Hornby, New York: Oxford University Press, reprint 2005.

Pali-English Dictionary, T. W. Rhys Davids & William Stede, Delhi: Motilal Banarsidass, 2007.

The Student's Sanskrit-English Dictionary, Vaman Shivram Apte, Delhi: Ministry of Education, India Government, 1965.

दार्शनिक सम्प्रत्यय कोश, सम्पादक - शशिप्रभा कुमार, सन्तोष कुमार शुक्ल और रामनाथ झा, नई दिल्ली: विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र व डी. के. प्रिण्टवर्ल्ड (प्रा.) लि., प्रथम संस्करण, 2014.

पालि-भाष्यकोश, सविता कांबळे, नई दिल्ली: सम्यक प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2010.

पालि-हिन्दी कोश, आनन्द कौसल्यायन, दिल्ली: सिद्धार्थ बुक्स, 2012.

शब्दकल्पद्रुमः, राधाकान्त देव, वाराणसी: चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, पञ्चम भाग, तृतीय संस्करण, 1967.

संस्कृत-हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे, दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास, 2012.

शोध पत्र (Research Articles)

Babler W. J., "Embryologic development of epidermal ridges and their configurations" *Dermatoglyphics: science in transition*, Edited by C. C. Plato, et al, New York: Wiley-Liss, 1991, 95-112

Barua, Benimadhab, "Pratītya-Samutpad: As Basic Concept of Buddhist Thought" *Paṭicca-Samuppād-Naya: Its History, Ethics and Philosophy (Proceeding of International Seminar on Buddha's Law of Dependent Origination)*, Calcutta: Indian Institute of Chemical Biology, 1989, vii-xx.

Chatterjee, Heramba, "A critical study of the theory of pratītyasamutpāda", *Prabuddha Bharata, 60*, Calcutta, 1955, 485-488.

Chattopadhyaya, Madhumita "Pratītyasamutpāda, śūnyatā and human actions", *Jadavpur Journal of Philosophy*, 3.2, 1991, 73-80

Chen, N. Wang, "The superiority of the Prāsaṅgika Mādhyamika from the point of view of its full understanding of interdependent origination", *Pratītyasamutpāda*, Sarnath 1986, 315-320.

Dutt, Nalinaksha, "Place of the Āryasatyas and the pratītyasamutpāda in Hīnayāna and Mahāyāna", *Annals of the Bhandarkar Oriental Institute*, 11, Poona, 1930, 101-127.

Einstein, Albert, "Religion and Science", *New York Times Magazine*, New York, 1930, 1-4; reprint in Einstein's book *The World as I See It*, New York: Philosophical Library, 1949, 24-28, retrived from http://www.sacred-texts.com/aor/einstein/einsci.htm (Access date 16 November, 2015)

Hunter, Murray, "Dependent Origination as a Natural Governing Law", *Contemporary Readings In Law And Social Justice 2*, 2012, 116-177, retrived from http://www.heinonline.org/HOL/Page?handle=hein.journals/conreadlsj4&div=74 (Access date - 3 May, 2016)

Law, Bimal Charan, "Formulation of pratītyasamutpāda", *Journal of the Royal Asiatic Society of Great Britain and Ireland*, London, 1937, 287-292.

Lovelock, J. E., "Gaia as seen through the atmosphere", *Atmospheric Environment* **6** (8) 1979, 579–580, retrieved from http://www.jameslovelock.org, (Access date 23 march, 2016)

Naess, Arne, "The Shallow and the Deep, Long-Range Ecology Movement: A Summary", 1973, (Original Published in Inquiry from Oslo) *The Deep Ecology Movement: An Introductory Anthology,* edited by Alan Drengson and Yuichi Inoue, Berkeley: North Atllantic Books, 1995, 3-9.

Nayak, G.C., "Pratītya-samutpāda: the Mādhyamika approach", *Pratītyasamutpāda*, Sarnath, 1986, 306-314.

Puligandla, R., "Pratītyasamutpāda of the Mādhyamika and the impossibility of transcendental deductions", *Mahābodhi - 80*, Colombo, 1972, 390-395.

Rao, C.V.S., "Doctrine of pratītyasamutpāda", *Journal of the Śrī Veṅkaṭeśvara Rao Institute,* Tirupati, 1941, 46.

Rita Gupta, "Mādhyamika interpretation of the doctrine of *pratītyasamutpāda*", *Essays on Dependent Origination and Momentariness,* Calcutta, 1990, 95-115.

Sarma, Sibnath, "*Pratītyasamutpāda*: the Buddhist theory of causality", *Journal of the University of Gauhati,* 34, 1988, 180-187.

Sharma, T.R., "The relation between pratītyasamutpāda and śūnyatā", *Saṃskṛta-Saṅgīta-Vaijayanti,* Smt. Kamlesh Kumari Kulshresthrea Commemoration Volume, Edited by Sushma Kulshreshtra and Satya Pal Narang, Delhi, 1992, 186-191.

Sopa, Geshe Lhundub, "The special theory of *pratītyasamutpāda*: the cycle of dependent origination", *Journal of the International Association of Buddhist Studies*, Madison, Wisconsin, 1986, 105-120.

Sorokin Y. & L. J. Dierker, "Fetal movement", *Clin Obstet Gynecol.* 25(4), 1982, 719-734.

Verhagen, Peter C., "Tibetan expertise on Sanskrit grammar–a case-study: grammatical analysis of the term pratītyasamutpāda", *Journal of the Tibet Society*, 1985, 21-48.

Vidyabhusana, Satischandra, "Pratītyasamutpāda", *Journal of the Buddhist Text Society of India,* Calcutta, 1899, 1-19.

तेलूराम, "बौद्ध धर्म-दर्शन में प्रतीत्यसमुत्पाद", *पद्मपराग,* सम्पादक – सत्यभामा राजधान, श्रीनगर: पोस्ट ग्रेजुयेट डिपार्टमेण्ट ऑफ संस्कृत, कश्मीर विश्वविद्यालय, 2010, 61-73.

सिंह, विकास, "बौद्ध दर्शन में निर्वाण का स्वरूप: नागसेन से नागार्जुन तक", *सङ्गायन : बौद्ध अध्ययन की अन्तर्राष्ट्रिय शोध पत्रिका,* सम्पादक – सुरजीत कुमार सिंह, नई दिल्ली: पालि लैंग्वेज एण्ड लिटरेचर रिसर्च कॉन्सिल, छठा भाग, नवम्बर, 2014 - अप्रैल, 2015, 97-101.

सिंह, विकास, "भगवान् बुद्ध और गज़ाली के कार्यकारण-सिद्धान्त सम्बन्धी विचार", *शोध प्रेरक,* सम्पादक – शशि भूषण पोद्दार, लखनऊ: वीर बहादुर सेवा संस्थान, 3.3, जुलाई, 2013, 134-139.

सिंह, विकास, "महायान बौद्ध धर्म में प्रज्ञापारमिता का अध्ययन", *दर्शन: दर्शनशास्त्र एवं योग विषयों से सम्बन्धित अन्तर्राष्ट्रिय त्रैमासिक शोध पत्रिका,* सम्पादक – शीलक राम, रोहतक: आचार्य अकादमी, 1.1, जनवरी, 2013 – जून, 2013, 47-53.

अप्रकाशित शोधप्रबन्ध और लघु शोध प्रबन्ध (Unpublished Thesis & Dissertations)

Dattatreya, Indumati, *Nāgārjuna Philosophy of Causality based on his works Akutobhaya and Śūnyatāsaptati, restored in Sanskrit (Ph.D. Thesis),* Bombay: University of Bombay, 1949.

Jha, Minni Mishra, *Study of Svabhāva in Madhyamaka System with Special Reference to the Doctrine of Pratītyasamutpāda (Ph.D.Thesis),* Delhi: Department of Buddhist Studies, University of Delhi, 2013.

Phra, Weang Pilugrigrut, *A Critical Study of the Law of Dependent Origination (Paṭicca-samuppāda) in Theravāda Buddhism,* Varanasi: Department of Pali & Buddhist Studies, Banaras Hindu University, 2007.

कुमार, अशोक, *श्लोकवार्तिक में निरालम्बनवाद एवं शून्यवाद की समीक्षा (शोध-प्रबन्ध),* नई दिल्ली: विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वद्यालय, 2015.

महोलिया, रामकिशोर, *प्रस्थानत्रयी शांकरभाष्य में परमत खण्डन समीक्षा (बौद्ध दर्शन के विशेष सन्दर्भ में) (शोध-प्रबन्ध),* नई दिल्ली: विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वद्यालय, 2013.

यादव, वन्दना, *अथर्ववेदीय पृथ्वीसूक्त एवं गाया परिकल्पना (लघु शोध-प्रबन्ध),* नई दिल्ली: विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वद्यालय, 2012.

सिंह, विकास, *भारतीय संस्कृति का समीक्षात्मक अध्ययन: मिलिन्दपञ्ह के विशेष सन्दर्भ में (लघु शोध-प्रबन्ध)*, नई दिल्ली: विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वद्यालय, 2012.

अन्तर्जालीय स्रोत (Internet Sources)

http://4.bp.blogspot.com/-qd617AnZy0/Tciqm8z-Noi/AAAAAAAAAOK/vwzEd/s1600/Birth-Enlightenment-Parinirvan.jpg (Access date – 01 July, 2016)

http://dalailamahindi.com/news/post/360---------- (Access date 26 January, 2016)

http://dalailamahindi.com/news/post/362---------- (Access date 26 January, 2016)

http://dsbc.uwest.edu (Access date 22-26 March & 23-27 April, 2015)

http://www.ancient-buddhist-texts.net (Accessed date - 30 March, 2015)

http://www.ecohustler.co.uk/wp-content/uploads/2011/06/Ego-2-Eco.jpg (Access date – 23 June, 2015)

http://www.ehd.org/resources_bpd_documentation.php (Access date 5 March, 2016)

http://www.ehd.org/resources_bpd_documentation.php?language=34 (Access date 5 March, 2016)

http://www.heinonline.org/HOL/Page?handle=hein.journals/conreadlsj4&div=74 (Access date - 3 May, 2016)

http://www.iirrh.org/blog/embryology-training/ (Access date – 20 June, 2016)

http://www.jameslovelock.org, (Access date 23 march, 2016)

http://www.jstor.org (Access date - 15-26, February & 20-25 March, 2015)

http://www.news-medical.net/health/Embryology-History.aspx (Access date 29 March, 2016)

http://www.news-medical.net/health/what-is-Embryology.aspx (Access date 29 March, 2016)

http://www.palitext.com (Access date – 20 April, 2015)

http://www.sacred-texts.com/aor/einstein/einsci.htm (Access date 16 November, 2015)

http://www.tipitak.org (Access date 7-10 July, 2013; 17-20 February, 2015; 8 March, 2016)

https://infosdunouveaumonde.files.wordpress.com/2015/09/vague.jpeg (Access date – 01 July, 2016)